BAPA(N)- 320

विकास प्रशासन

DEVELOPMENT ADMINISTRATION

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय-हल्द्वानी
फोन नं. 05946 – 261122, 261123
टॉल फ्री नं.18001804025
ई – मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

अध्ययन मंडल

प्रोफेसर गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रोफेसर अल्का धमेजा, लोक प्रशासन विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रोफेसर उमा मैदुरी, लोक प्रशासन विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली	प्रोफेसर बी0 अरूण कुमार, लोक प्रशासन विभाग वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान
डॉ0 घनश्याम जोशी, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्री सुमित सिंह, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
श्री शुभांकर शुक्ला, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्री प्रमोद चन्याल, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड

पाठ्यक्रम संकलन और सम्पादन

डॉ0 घनश्याम जोशी(असिस्टेन्ट प्रोफेसर)

कार्यक्रम समन्वयक, लोक प्रशासन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड

इकाई- 1 विकास प्रशासन- संकल्पना और अर्थ इकाई- 2 विकास प्रशासन- उद्-भव, क्षेत्र और महत्व इकाई- 3 भारत में विकास प्रशासन की संवृद्धि	**एमएपीए- 201, विकास प्रशासन से साभार**
इकाई- 4 स्वतंत्रता के समय भारत की सामाजिक, आर्थिक स्थिति और अर्थव्यवस्था की रूपरेखा इकाई- 5 मिश्रित अर्थव्यवस्था इकाई- 6 योजना की भूमिका इकाई- 7 विकास का उद्देश्य	
इकाई- 8 नीति आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद इकाई- 9 राज्य योजना तंत्र (मशीनरी) इकाई- 10 जिला नियोजन इकाई- 11 आधार स्तरीय नियोजन	
इकाई- 12 सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र और विकास इकाई- 13 सार्वजनिक क्षेत्र की प्रशासनिक समस्याऐं	
इकाई- 14 अधिकारी तंत्र(नौकरशाही) की भूमिका इकाई- 15 भारतीय अधिकारी तंत्र(नौकरशाही) की औपनिवेशिक विरासत इकाई- 16 भारतीय अधिकारी तंत्र(नौकरशाही) की सामाजिक पृष्ठभूमि	

प्रकाशन वर्ष- 2025

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन- निदेशालय अध्ययन एवं प्रकाशन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

BAPA(N)- 320 विकास प्रशासन

अनुक्रम

	खण्ड1 - संकल्पना और दृष्टिकोण	
1	विकास प्रशासन- संकल्पना और अर्थ	1 – 12
2	विकास प्रशासन का उद्-भव, क्षेत्र और महत्व	13 – 20
3	भारत में विकास प्रशासन की संवृद्धि	21 – 31
	खण्ड- 2 विकास नीति एवं नियोजन	
4	स्वतंत्रता के समय भारत की सामाजिक, आर्थिक स्थिति और अर्थ व्यवस्था की रूपरेखा	32 – 43
5	मिश्रित अर्थव्यवस्था	44 – 54
6	योजना की भूमिका	55 – 65
7	विकास का उद्देश्य	66 – 82
	खण्ड- 3 विकास के लिए नियोजन संस्थाऐं	
8	नीति आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद	83 – 91
9	राज्य योजना तंत्र (मशीनरी)	92 – 110
10	जिला नियोजन	111 – 128
11	आधार स्तरीय नियोजन	129 – 137
	खण्ड- 4 सार्वजनिक क्षेत्र और विकास	
12	सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र और विकास	138 – 148
13	सार्वजनिक क्षेत्र की प्रशासनिक समस्याएं	149 – 158
	खण्ड- 5 अधिकारी तंत्र(नौकरशाही) और विकास	
14	अधिकारी तन्त्र (नौकरशाही) की भूमिका	159 – 171
15	भारतीय अधिकारी तन्त्र (नौकरशाही) की औपनिवेशिक विरासत	172 – 183
16	भारतीय अधिकारी तन्त्र (नौकरशाही) की सामाजिक पृष्ठभूमि	184 – 196

इकाई- 1 विकास प्रशासन- संकल्पना और अर्थ

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 विकास प्रशासन की संकल्पना या अवधारणा
1.3 विकास प्रशासन का अर्थ
1.4 प्रशासनिक विकास अथवा प्रशासन का विकास
1.5 प्रशासनिक विकास के साधन
1.6 परंपरागत प्रशासन और विकास प्रशासन में अंतर
1.7 विकास प्रशासन की विशेषताएँ
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

विकास प्रशासन की अवधारणा बहुत पुरानी नहीं है। इसका उदय तृतीय विश्व के देशों के उदय के साथ-साथ हुआ। यह आधुनिक लोक प्रशासन का परिचायक है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात प्रशासन को जन सहायता, आर्थिक विकास एवं राष्ट्र निर्माण के कतिपय दायित्व सौंपे गए। इससे पूर्व लोक प्रशासन की कार्य प्रणाली परम्परागत सिद्धान्तों पर आधारित थी; अतः उसमें विकास के नवीन तत्वों को सामने लाने के लिए इस अवधारणा का जन्म हुआ। वर्तमान परिस्थितियों में प्रशासन का सार है भिन्न प्रकार के प्रशासनिक संस्थानों की रूपरेखा बनाना एवं आचरण में परिवर्तन की क्षमता लाना, इस परिवर्तन को प्रोत्साहित करने की क्षमता तथा एक ऐसी प्रणाली को जन्म देना जो इस परिवर्तन का परिपालन कर सके। अतः लोकतान्त्रिक मूल्यों के प्रसार तथा लोक कल्याणकारी राज्य की लोकप्रिय अवधारणा ने प्रशासन का स्वरूप विकासमान बना दिया। जिसके अंर्तगत आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक विकास आते है।

1960 के दशक में तुलनात्मक प्रशासनिक समूह (CAG) ने अपने अध्ययन के द्वारा यह जानने का प्रयास किया कि इन विकासशील राष्ट्रों के लिए ''विकास मॉडल'' का क्या स्वरुप होना चाहिए तथा इसे प्राप्त करने के लिए किस प्रकार की विकास प्रक्रिया अपनाई जानी चाहिए जिसके द्वारा इनकी विकास की रफ्तार तीव्रतम हो सके।

इस इकाई में विकास प्रशासन के अर्थ, उसकी विशिष्टताओं एवं उसके मूलस्वरूप के बारे में चर्चा कि जाएगी।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विकास प्रशासन के अर्थ को समझ पायेंगे।
- परम्परागत और विकास प्रशासन के बीच अन्तर को समझ पायेंगे, तथा
- विकास प्रशासन की विशेषताओं का वर्णन कर पायेंगे।

1.2 विकास प्रशासन की संकल्पना या अवधारणा

विकास प्रशासन आधुनिक लोक प्रशासन का परिचायक है। विकास प्रशासन एक गतिशील और परिवर्तनशील अवधारणा है जो समाज में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील है। इसमें विकास कार्यों को प्राथमिकता दी जाती है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के कई राज्यों ने साम्राज्यवादी शासन से स्वतंत्रता प्राप्त की तथा विश्व के नक्शे पर कई नए प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों का उदय हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के क्रन्तिकारी परिवर्तनों ने विकास के नियामकीय प्रशासन को अनुपयोगी बना दिया। समाज का आधुनिकीकरण, वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति, प्रशासन की जटिल प्रकृति एवं राजनितिक संगठन, शहरी एवं ग्रामीण जन-संस्थाओं की स्थापना, समस्याओं के समाधान के प्रति जागरूकता आदि नए विकास के उल्लेखनीय सोपान है। इन देशों के लिए यह पहला अनुभव था जब प्रशासन ने जनता को अपने बराबर का भागीदार मानते हुए उसके साथ मिलकर कार्यों को करने का प्रयास किया।

तृतीय विश्व के अंतर्गत आने वाले अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका के देश विकास कार्यों में लगे हुए हैं इसलिए इन देशों को विकासशील देशों के नाम से जाना जाता है। जिनका प्रमुख विकासात्मक कार्य राष्ट्र निर्माण और सामजिक-आर्थिक प्रगति है। इसका सम्बन्ध विकासशील देशों की सरकार के प्रशासन से है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन की नवीन अवधारणा तथा विश्वव्यापी सामंजस्य की आवश्यकता ने विकास प्रशासन के अध्ययन की ओर रूचि उत्पन्न की है।

सन् 1933 की आर्थिक मंदी तथा द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात यूरोप के पुर्ननिर्माण हेतु बने ''मार्शल प्लान'' ने भी विकास प्रशासन की महत्ता को रेखांकित किया।

लोक प्रशासन की परम्परागत सिद्धान्तों की अपर्याप्तता को देखते हुए सर्वप्रथम एडवर्ड डब्ल्यू वीडनर ने विकास प्रशासन की अवधारणा का प्रतिपादन किया।

बाद मे प्रो0 रिग्स,पॉलोम्बारा, वाटसन, डोनाल्ड सी0 स्टोन आदि विद्वानों ने इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विकास प्रशासन दो अर्थों के योग से बना है।

प्रथम, यह विकास कार्यक्रमों के प्रशासन एवं विकास लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सरकार द्वारा बनाई गयी नीतियों एवं कार्यक्रमों को लागू करने के लिए बृहत संगठनों द्वारा प्रयुक्त तरीकों से संबंधित है।

द्वितीय, अप्रत्यक्ष रूप से इसमें प्रशासकीय क्षमता का विकास भी शामिल है। अतः विकास की इस अवधारणा ने परम्परागत प्रशासन को विकासात्मक प्रशासन की ओर उन्मुख कर दिया है जिसमें जनता की सेवा और राष्ट्र के विकास के लिए विकास कार्यों को करना निहित है।

1.3 विकास प्रशासन का अर्थ

विकास प्रशासन का अर्थ स्पष्ट एवं सर्व-सम्मत नहीं है। कुछ विद्वानों ने विकास प्रशासन का अर्थ प्रशासन के आधुनिकीकरण से लगाया है।वहीं कुछ विद्वान इसे आर्थिक विकास के लिए एक कुशल साधन के रूप में अधिक महत्व देते हैं तो कई विद्वान इसे प्रशासनिक विकास का ही पर्यायवाची मानते हैं।

शाब्दिक एवं प्रचलित अर्थ की दृष्टि से विकास समाज के गतिशील परिवर्तन और एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था की ओर प्रगति करने का दूसरा नाम है। विकास प्रशासन की रचना का उद्देश्य यह अध्ययन करना है की लोक प्रशासन सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न परिस्थितिकीय विन्यासों में किस प्रकार कार्य करता है और परिवर्तित भी होता है।

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'विकास' शब्द का अर्थ उच्चतर, पूर्णतर और अधिकतर परिपक्वतापूर्ण स्थिति की ओर बढ़ना है। विकास को मन की एक स्थिति तथा 'एक दिशा' के रूप में भी देखा गया है। रिग्स के अनुसार ''विकास एक व्यवस्था की उस क्षमता में वृद्धि है, जिसके अनुसार वह अपने भौतिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक पर्यावरण को अपनी इच्छानुसार आकार दे सके।''

विकास नियोजित तरीके से शासकीय निर्देशों के द्वारा लाए गए परिवर्तन की गति है। परन्तु कोई निश्चित लक्ष्य न होने के कारण इसका अर्थ एवं लक्ष्य बेहद परिवर्तनशील है तथा इसका उद्देश्य सर्वदा जीवन की बेहतर स्थिति प्राप्त करने से सम्बन्धित है। इस प्रकार विकास प्रशासन की विशुद्ध व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि अधिक उत्पादन विकास का मापदण्ड नहीं है, क्योंकि भौतिक विकास तो अनुकूल जलवायु, नवीन औद्यौगिक ज्ञान एवं विदेशी सहायता आदि से प्राप्त हो सकता है, किन्तु यह किसी व्यवस्था विशेष की क्षमता में वृद्धि का आधार नहीं है।

विकास प्रशासन शब्द दो शब्दों- विकास तथा प्रशास के योग से निर्मित हुआ है। विकास में गतिशीलता को महत्व दिया जाता है जिससे आगे बढ़ने का कार्य निरन्तर होता रहे और प्रशासन का अर्थ है सेवा करना। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विकास प्रशासन में जनता की सेवा के लिए विकास कार्यों को करना निहित है। तथ्यों की दृष्टि से विकास प्रशासन- योजना (Planning), नीति (Policy) कार्यक्रम (Programme) तथा परियोजना (Project) से सम्बन्ध रखता है।

इसमें प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण और सहभागिता जैसे संगठनात्मक मानवीय पहलू पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें जनसम्पर्क की व्यापक व्यवस्था होती है तथा जनता और प्रशासन के बीच घनिष्ठ एकरूपता की स्थापना पर जोर दिया जाता है।

इस प्रकार समाज में प्रगति की दिशा में जो भी परिवर्तन होता है उसे विकास की संज्ञा दी जाती है। 'विकास प्रशासन' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भारत के एक प्रशासनिक अधिकारी श्री यू0 एल0 गोस्वामी ने अपने एक लेख 'दि स्ट्रक्चर ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया' जो 1955 में 'दि इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' में प्रकाशित हुआ था, में किया।

परन्तु इसको औपचारिक मान्यता उस समय प्रदान की गयी जब 'कम्पेरेटिव एडमिनिस्ट्रेशन ग्रुप ऑफ द अमेरिकन सोसाइटी फॉर पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' तथा 'कमिटी ऑन कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स ऑफ द सोशल साइंस रिसर्च कौंसिल ऑफ द यूएसए' ने इसके बौद्धिक आधार का निर्माण किया। तब से विकास प्रशासन की व्याख्याएँ और परिभाषाएँ बताई जा रही हैं।

विकास प्रशासन की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

प्रो0 ए0 वीडनर के अनुसार, ''विकास प्रशासन राजनितिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए संगठन का मार्ग दर्शन करता है। यह मुख्य रूप से एक कार्योन्मुख एवं लक्ष्योन्मुख प्रशासनिक प्रणाली पर जोर देता है।''

एफ0 डब्ल्यू0 रिग्स के अनुसार, ''विकास प्रशासन का सम्बन्ध विकास कार्यक्रमों के प्रशासन, बड़े संगठनों खासकर सरकार की प्रणालियों, विकास लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए नीतियों और योजनाओं को क्रियान्वित करने से है।"

जे0 डी0 मांटगोमरी के अनुसार, ''विकास प्रशासन का अर्थ अर्थव्यवस्था (कृषि या उद्योग में, या इन दोनों में से किसी के सहयोग के लिए पूंजीगत आधार संरचना में) योजनाबद्ध परिवर्तन और कुछ सीमा तक राज्य के सामाजिक कार्य (शिक्षा एवं जनस्वास्थ) में विकास है।''

डोनाल्ड सी0 स्टोन के अनुसार, ''विकास प्रशासन निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त प्रयास के रूप में सभी तत्वों और साधनों (मानवीय एवं भौतिक) का सम्मिश्रण है। इसका लक्ष्य निर्धारित समयक्रम के अंतर्गत विकास के पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति है।''

फेनसॉड के अनुसार, ''विकास प्रशासन नवीनता को लाने वाले मूल्यों का वाहक है........ इसमें वे सभी नए कार्य सम्मिलित होते हैं जो विकासशील देशों ने आधुनिकीकरण तथा औद्योगिकरण के मार्ग पर चलने के लिए अपने हाथों में लिए हैं। साधारणतया विकास प्रशासन में वे संगठन व साधन सम्मिलित हैं जो नियोजन ,आर्थिक विकास तथा राष्ट्रीय आय का प्रसार करने के लिए साधनों को जुटाने और बाँटने के लिए स्थापित किये जाते है।''

वी0 ऐ0 पाई0 पानंन्दिकर के अनुसार, ''विकास प्रशासन उस संरचना, संगठन तथा संगठनात्मक व्यवहार से संबंधित है जो सामजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन की उन योजनाओं एवं कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए है, जिन्हें सरकार ने पूरा करना स्वीकार किया है।''

उनके अनुसार, ''योजनाबद्ध परिवर्तन का प्रशासन ही विकास है जो विभिन्न नियोजित प्रयासों से परिवर्तन एवं समृद्धि लाने का प्रयास है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से विकास प्रशासन की संकुचित एवं विस्तृत दोनों ही विचारधाराएँ स्पष्ट होती हैं। फेनसाड की परिभाषा संकुचित है तो वीडनर और रिग्स की परिभाषाएँ विस्तृत है। विकास प्रशासन में भिन्नता के बावजूद भी सभी विद्वान इस मत से सहमत है कि यह कार्योन्मुखी, लक्ष्योन्मुखी, विकासोन्मुखी तथा परिवर्तनमुखी है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि विकास प्रशासन का मुख्य लक्ष्य दिशात्मक परिवर्तन है, विकास प्रशासन गतिशील और निरंतर प्रक्रिया है, निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विकास प्रशासन संयुक्त प्रयास है, यह तीसरे विश्व के अंर्तगत आने वाले राष्ट्रों की विभिन्न प्रकार की समस्याओं को सुलझने के लिए एक बेहतरीन साझा प्रयास है, यह सिर्फ विकास प्रशासन का ही नहीं अपितु प्रशासन का विकास भी है, यह नियोजन, नवाचार, जवाबदेयता, पारदर्शिता, कल्याणकारी कानून एवं नीति, सम-सामयिक सुधार तथा लचीलापन इत्यादि लक्षणों से युक्त होता है तथा यह दोनों ही, विकासशील तथा विकसित राष्ट्रों में विकास तथा आधुनिकता लाने के लिए एक प्रशासनिक तंत्र है।

1.4 प्रशासनिक विकास अथवा प्रशासन का विकास

प्रशासनिक विकास एक नवीन अवधारणा है एवं विकास प्रशासन का एक आवश्यक अंग है। विकास प्रशासन का मुख्य विषय विकासात्मक गतिविधियाँ होती हैं, जिसे बदलती हुई परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित या संशोधित करने के लिए प्रशासनिक विकास आवश्यक है। प्रशासनिक विकास की आवश्यकता विकसित और विकासशील देश दोनों राष्ट्रों के लिए है। अतः 'प्रशासनिक विकास' विकास प्रशासन का एक आवश्यक परिणाम है। इसका प्रमुख उद्देश्य निर्धारित प्रगतिशील नवीनतापरक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रशासनिक प्रणाली में सुधार, प्रशासनिक प्रक्रिया में आधुनिकीकरण, प्रशासकों की मनोवृत्ति तथा आचरण में वास्तविक बदलाव द्वारा प्रशासनिक तंत्र की सामर्थ्य तथा क्षमता में विकास करना है। प्रो0 एफ0 डब्ल्यू रिग्स के अनुसार, ''प्रशासनिक विकास निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति है। यह उपलब्ध साधनों के उपयोग में बढ़ती हुई प्रभावशीलता का प्रतिमान है।'' गेराल्ड केडन के अनुसार, ''प्रशासनिक सुधारों का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसमें प्रशासनिक व्यवस्था की कार्यकुशलता एवं गुणवत्ता में वृद्धि के लिए कृत्रिम (सुनियोजित) ढंग से अर्थात जानबूझकर परिवर्तन किए जाते हैं।'' टी0एन0 चतुर्वेदी के अनुसार, ''प्रशासनिक विकास का अभिप्राय है प्रशासन को उत्तरोत्तर सुचारु और क्रियाशील बनना, तथा प्रशासनिक दक्षता और क्षमताओं को उत्तरोत्तर विकसित करना। इसके विचार में यह भाव अंतर्निहित है कि प्रशासन के परंपरागत रूप में जो कमियाँ हों अथवा रिक्तता है उसे दूर करके प्रशासन को नवीन परिवर्तित तथा विकासशील परिस्थितियों के अनुरूप बनाना।''

फुल्टन प्रतिवेदन ने प्रशासन के लिए नवीन व्यावसायिकता एवं विशेषज्ञता पर जोर देते हुए लिखा है कि ''एक निकाय के रूप में लोकसेवा को अपने समय की राजनीतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी समस्याओं

का समाधान करने के लिए तैयार किया जाता है। उन्हें संसार में होने वाले प्रशासनिक विकास के परिवर्तनों तथा स्वदेश में विभिन्न हितों तथा अभीमतों के प्रति जागरूक होना आवश्यक है।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी कार्यात्मक सेवाओं तथा विशेषज्ञता क्षेत्रों की स्थापना का सुझाव दिया है। संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि प्रशासनिक विकास निम्नलिखित विषयों से संबंधित है-

1. प्रशासनिक प्रणाली को ऐसे निर्णय लेने की क्षमता जिनसे पर्यावरण की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके और जो बड़े राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हो सके।
2. कर्मचारियों के व्यवसायीकरण तथा कार्यों के आकार, विशिष्टीकरण एवं विभाजन में बढ़ोत्तरी।
3. उपलब्ध साधनों के युक्ततम उपयोग में बढ़ती हुई प्रभावशीलता का प्रतिरूप तथा आवश्यकता पड़ने पर साधनों का और अधिक विस्तार।
4. प्रशासनिक सामर्थ्य/योग्यता एवं क्षमता में बढ़ोत्तरी।
5. बाहरी अभिप्रेरणा, उद्योग-तकनीक के हस्तांतरण एवं प्रशिक्षण द्वारा नौकरशाही का आधुनिकीकरण कर विद्यमान प्रशासनिक क्रियाविधि का एक नई यंत्र, प्रणाली में रूपांतरण।
6. अभिक्रम, अभ्यास इत्यादि के स्थान पर ऐसे गुणों की स्थापना जो वास्तविक आवश्यकताओं पर निर्धारित हो।
7. विकास अभिक्रम को प्रोत्साहन देना।
8. प्रशासन का पुनः नियोजन एवं युक्तिकरण।
9. आधुनिकीकरण को संस्कृति संबद्ध बनाना।
10. नौकरशाही की गतिहीनता तथा उसमें फैले हुए भ्रष्टाचार को पूर्णतया समाप्त करना या उसे कम करना।
11. स्थापित संस्थाओं का पुनर्विन्यास तथा उनके प्रशासनिक अधिकारों को प्रत्यायुक्त करना।
12. ऐसे प्रशासकों का प्रबंध करना जो सामाजिक एवं आर्थिक सुधारों से जुड़ी कार्ययोजनाओं को स्फूर्ति देने तथा उनका संचालन करने में मार्गदर्शन करा सके तथा कुशल नेतृत्व प्रदान कर सके।

1.5 प्रशासनिक विकास के साधन

प्रशासनिक विकास के तीन प्रमुख साधन माने जाते हैं जो निम्नलिखित हैं- 1. प्रशासनिक सुधार 2. नवाचार 3. प्रशासनिक उद्विकास।

1. **प्रशासनिक सुधार (Administrative Reforms)-** प्रशासनिक सुधार वे सुनियोजित प्रयास होते हैं जो प्रशासनिक तंत्र में समयानुकूल परिवर्तनों एवं संशोधनों हेतु किए जाते हैं। प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से प्रशासनिक संरचना, संगठन, प्रक्रियाओं, कानूनों, नियमों, व्यवहार, लक्ष्यों तथा कार्यशैली में परिर्वतन लाने का प्रयास किए जाते हैं।
2. **नवाचार (Innovation)-** नवाचार अर्थात् नई खोज के अंतर्गत कुछ नया और उपयोगी तरीका अपनाया जाता है, जैसे- नई विधि, नई तकनीक, नई कार्यपद्धती, नई सेवा, आदि। इससे प्रशासन में नवीनता एवं वैज्ञानिकता का प्रवेश होता है जो विकास के लिए आवश्यक है।
3. **स्वतः प्रशासनिक विकास (Automatic administration development)-** यह प्रक्रिया बिना किसी सुनियोजित प्रयास के स्वतः चलती रहती है। समय एवं परिस्थितियाँ भी प्रशासन को विकसित कर देती है।

वस्तुतः विकास प्रशासन और प्रशासन का विकास या प्रशासनिक विकास दो ऐसी संकल्पनाएँ हैं, जिनका परस्पर संबंध है। यह दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं। विकास का प्रशासन या विकास प्रशासन उतना ही महत्वपूर्ण है

जितना कि प्रशासनिक विकास। अतः इसके दोनों ही आयाम कार्यात्मक रूप से एक दूसरे से संबंधित हैं। रिग्स का मानना है कि इन दोनों पक्षों की परस्पर सम्बद्धता में 'अंडे और मुर्गी' जैसे कार्य-कारण भाव है जिसके आधार पर यह कहना मुश्किल है कि कौन पहले अस्तित्व में आया।

1.6 परंपरागत प्रशासन और विकास प्रशासन में अंतर

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्वतंत्र हुए तृतीय विश्व के विकासशील देशों के सम्मुख अनेक नवीन समस्याएँ और चुनौतियाँ थी। ऐसी पृष्ठभूमि में लोक प्रशासन के परंपरागत सिद्धांतों की उपयोगिता संदिग्ध और असामयिक बन गई। यह अनुभव किया जाने लगा कि नवीन समस्याओं के समाधान के लिए और प्रभावशाली सिद्धांतों की रचना की जानी चाहिए।

परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण लोक प्रशासन की परंपरावादी धारणाएँ एवं सिद्धान्त असामायिक बन गए। इस संबंध में प्रो0 रिग्स ने लिखा है की, "परम्परागत लोक प्रशासन का साहित्य, प्रशासनिक आचरण तथा उसके पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट करने में असमर्थ है।" अतः नवीन अवधारणा के तहत लोक प्रशासन के नवीन आयामों के रूप में विकास प्रशासन अस्तित्व में आया।

परंपरागत प्रशासन कानून और व्यवस्था से संबंधित था। उस समय लोक कल्याण का दायित्व गैर-सरकारी रूप से व्यक्ति, परिवार एवं समाज पूरा करता था। कानून एवं व्यवस्था लोक कल्याण के विरुद्ध नहीं है। राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थापना जनता के विकास एवं कल्याण के लिए परम आवश्यक है। समाज में व्यवस्था और सुरक्षा ना होने पर विकास नहीं हो सकता। परम्परागत प्रशासन में विकास की चिंता तो थी, किंतु उसका दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं था। उस समाज में व्याप्त उपद्रवों को दबाना और कानून-व्यवस्था को स्थापित करना ही अधिकारियों के लिए पर्याप्त माना जाता था। इससे आशा नहीं थी कि वह जन-कल्याण में विशेष रुचि लेगा।

जबकि विकास प्रशासन का ध्यान मुख्यतया सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सरकार द्वारा प्रभावित परिवर्तन लाने पर केंद्रित रहता है। इसके अंतर्गत योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद, विकास निगम आदि संस्थाएं आ जाती है। विकास प्रशासन समाज के कल्याण के लिए तत्पर रहता है तथा तकनीकी ज्ञान, वित्तीय सहयोग एवं प्रशासनिक संगठन के रूप में इसे अभिव्यक्त करता है। यह लोक प्रशासन का ही एक भाग है। परंपरागत प्रशासन एवं विकास प्रशासन के मध्य अंतर को निम्नलिखित रुप में समझा जा सकता है-

परम्परागत प्रशासन	विकास प्रशासन
1. परंपरागत प्रशासन में नियमों, विनियमों एवं आदेशों का पर्याप्त अनुशीलन किया जाता है।	1. विकास प्रशासन लचीला एवं गतिशील होता है।
2. यह रुढ़िवादी एवं परिवर्तन विरोधी होता है।	2. यह परिवर्तन युक्त होता है एवं परिस्थितियों के अनुसार ढल जाता है।
3. इसका उद्देश्य सरल है।	3. इसके उद्देश्य जटिल और अनेक है।
4. इसका संबंध नियामकीय के कार्यों से होता है।	4. इसका संबंध विकास कार्यों से होता है।
5. यह परम्परागत साधनों पर बल देता है।	5. यह नवीनतम प्रौद्योगिकी पर बल देता है।
6. यह योजना पर उतना निर्भर नहीं करता।	6. यह योजना पर बहुत निर्भर करता है।
7. यह अंतर्मुखी होता है।	7. यह बहुर्मुखी होता है।
8. यह संगठनात्मक बदलाव का विरोध करता है।	8. यह आविष्कारक और रचनात्मक है।
9. इसका सरोकार दैनिक सामान्य कार्यों से है।	9. इसका सरोकार नई जिम्मेदारियों से है।
10. यह यथास्थिति निर्देशित है।	10. यह परिवर्तन निर्देशित है।
11. यह केन्द्रीकरण में विश्वास रखता है।	11. यह विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखता है।

12. इसमें जन सहयोग तथा-जनसंपर्क की ओर - बहुत कम ध्यान दिया जाता है।	12. इसमें जनता का सहयोग परम आवश्यक है तथा जनसंपर्क पर विशेष ध्यान दिया जाता है।-
13. इसके कार्यों का विस्तार क्षेत्र सीमित है।	13. इसके कार्यों का विस्तार क्षेत्र व्यापक है।
14. इसमें प्रशासन और जनता के बीच दूरी बनी रहती है।	14. इसमें दोनों के मध्य की दूरी कम होती है तथा जनता प्रशासन की कमियों की खुलकर आलोचना कर सकती है।
15. परम्परागत प्रशासन में पदसोपान की इकहरी श्रृंखला होती है।	15. विकास प्रशासन एक बहुआयामी गतिविधि है जिसमें विभिन्न विभागों के अनेक विशेषज्ञों के ज्ञान परामर्श एवं सेवा की आवश्यकता होती है। इसमें कोई कार्यकर्ता स्वयं स्वामी नहीं होता।
16. परम्परागत प्रशासन में समस्त सत्ता उच्चाधिकारियों में निहित रहती है।	16. विकास प्रशासन में सभी स्तरों के लिए सत्ता के अधिक हस्तांतरण की आवश्यकता होती है।
17. यह प्रक्रियाओं पर आधारित होती है।	17. यह परिणामोन्मुखी प्रशासन पर आधारित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परम्परागत और विकास प्रशासन में कार्यों, दर्शन, संरचना और दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर है। टी0एन0 चतुर्वेदी ने इस अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है। ''परंपरागत प्रशासन की प्रतिमूर्ति शुष्क, एकांगी, संकीर्ण, रूचिहीन है तथा नैतिक प्रकृति की है; वहीं विकास प्रशासन की प्रतिमूर्ति एक सक्रिय संगठन की है, जो जन-कल्याण में संलग्न है तथा जो क्षेत्रीय विकास एवं जन-शक्ति के लिए कार्य करता है।'' परन्तु डब्ल्यू0 वूड, विलियम हॉट एवं बी0ए0 पाई पानंदीकर जैसे विद्वान प्रशासन को ऐसे सुस्पष्ट वर्गों में विभाजित करने के पक्ष में नहीं हैं।

विलियम हॉट ने परम्परागत एवं विकास प्रशासन में अंतर को स्वीकार न करते हुए कहा है कि, विकास प्रशासन की प्रमुख विशेषताएँ एवं लक्षण परतम्परागत प्रशासन में भी दिखाई देते हैं।

परंपरागत प्रशासन एवं विकास प्रशासन के बीच समानता को बी0ए0 पाई पानंदीकर ने निम्न तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत किया है-

1. सामान्य प्रशासन का विद्यमान ढाँचा विकास प्रशासन की सुदृढ़ता एवं दुर्बलता पर निर्णायक प्रभाव डालता है।
2. सरकारी ढाँचे के अंदर दोनों की सत्ता का स्रोत एक है। जैसे मंत्रीमण्डल विधानमण्डल के प्रति उत्तर दायी है।
3. मण्डलायुक्त और जिलाधिकारी जैसे बहुत सारे पदाधिकारी अपने सामान्य एवं विकास कार्य मिलकर करते हैं।
4. नागरिक प्रशासन के सारे कार्यों को एक पूर्ण इकाई के रूप में देखता एवं आँकता है तथा सामान्य एवं विकास प्रशासन में कोई भेदभाव नहीं रखता है।

परम्परागत एवं विकास प्रशासन द्विभाजन के प्रश्न पर मतभेद अब भी मौजूद है, जिसके कारण यह भी वाद-विवाद का विषय बना हुआ है। तथापि यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि विकास कार्यों की पूर्ति के लिए प्रशासन का संपूर्ण अध्ययन आवश्यक है।

इस प्रकार परम्परागत प्रशासन एवं विकास प्रशासन के मध्य कोई ठोस भिन्नता नहीं बनाई जा सकती है। किसी भी देश के विकास के लिए यह अतिआवश्यक है कि वहाँ कानून व्यवस्था सुदृढ़ हो; जो परम्परागत प्रशासन का दायित्व होता है। जनता की बढ़ती हुई आकांक्षाओं एवं प्रशासन की बढ़ती हुई जटिलताओं के कारण विकास

प्रशासन ने उत्साहपूर्वक अनुकरण करने तथा विकास एवं कल्याण कार्यों का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है। यह कार्य परंपरागत कार्य से सर्वथा भिन्न नहीं है।

वास्तव में किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए विकास कार्य हाथ में लेने के लिए, कानून और व्यवस्था बनाए रखना एवं सुरक्षा पूर्व शर्तें हैं। परन्तु विकास प्रशासन अधिक प्रशस्त, व्यापक, सहभागी, सुधार संबंधी तथा परिवर्तनाभिमुखी है। परम्परागत प्रशासन को ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करनी होती हैं, जिनमें विकास प्रशासन प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सके। अतः विकास प्रशासन, प्रशासन की ही एक शाखा के रूप में उदित हुआ है।

1.7 विकास प्रशासन की विशेषताएं

अमेरिका में तुलनात्मक लोक प्रशासन समूह के विद्वानों द्वारा विकसित विकास प्रशासन की अवधारणा मूलतः आधुनिक प्रवृत्ति की है। अपनी प्रकृति के कारण विकास प्रशासन को विकासशील राष्ट्रों में उभरती हुई नव-प्रशासनिक व्यवस्था के साथ जोड़कर देखा जाता है जो कि इन राष्ट्रों में व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रथम आवश्यकता है। विकास प्रशासन नियोजित प्रयासों, नवाचारों, समयानुकूल सुधारों, लचीलापन तथा कल्याणकारी गतिविधियों के विविध लक्षणों से युक्त है। जहाँ एक ओर एडवर्ड वीडनर ने विकास प्रशासन को प्रक्रियान्मुख और लक्ष्योन्मुख प्रशासनिक तंत्र के रूप में माना है, वहीं दूसरी ओर फ्रेड डब्ल्यू0 रिग्स के अनुसार विकास प्रशासन के अंतर्गत प्रशासनिक समस्याएँ और सरकारी सुधार दोनों ही आते हैं। किसी भी प्रशासनिक व्यवस्था की क्षमता बढ़ाने और विकास लक्ष्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त करने के लिए नियोजित विकास की प्रक्रिया अपनाई जाती है।

पाई पानिन्दीकर तथा मोहित भट्टाचार्या के अनुसार विकास प्रशासन की विशेषताओं को चार तत्वों या लक्षणों से परिभाषित किया जा सकता है- परिवर्तनोन्मुखी, परिणामोन्मुखी, नागरिक-सेवा उन्मुखी तथा कार्य के प्रति वचनबद्धता।

फ्रेड डब्ल्यू रिग्स के अनुसार, ''विकासात्मक धारणा का अर्थ सामाजिक व्यवस्था की स्वविवेकीय की स्तर पर अभिवृद्धि है।'' उन्होंने पाँच तत्व निर्धारित किए हैं, जिन पर वह बल देता है जो निम्नलिखित हैं-

1. वृद्धि- वह वृद्धि पर जोर देता है जोकि सामाजिक व्यवस्थाओं की स्वायत्तता से संभव होती है तथा ये व्यवस्थाएँ पर्यावरण को ढालती हैं।
2. मूल्य- विकास प्रशासन कार्य संपादन संबंधी मूल्यों पर जोर देता है। जैसे- कार्यक्षमता बढ़ाना, लागत कम करना, सरकार और प्रशासन के उत्पादन यंत्र में सुधार करना आदि।
3. मानवीय विकास एवं मूल्य- यह धारणा विभिन्न मानवीय मूल्यों पर जोर देती है, जिसमें स्वतंत्रता संबंधी न्याय के मूल्य जैसे- स्वतंत्रता, समानता, परिवर्तन तथा यहाँ तक की विकास एवं संदर्भित लक्ष्यों हेतु क्रांति भी सम्मिलित है
4. पुनर्निर्माण- यह सामाजिक व्यवस्थाओं का पुनर्निर्माण करता है।
5. विवर्तन- विकास प्रशासन में विवर्तन के विभिन्न स्तर पाए जाते हैं जो कि स्वायत्तता की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं।

इसके अतिरिक्त विकास प्रशासन की कतिपय प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है-

1. **परिवर्तन-उन्मुख (Change-Oriented)-** यह विकास प्रशासन की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है क्योंकि विकास प्रशासन यथास्थितिवाद का विरोध करता है तथा परिवर्तन, सुधार एवं नवाचारों का समर्थक है। यह परिवर्तन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में होता है। इसी विशेषता के कारण विकास प्रशासन परंपरागत प्रशासन से भिन्न/पृथक् है। विकासशील देशों में प्रशासन को निरंतर परिवर्तनों के दौर से गुजरना पड़ता है। जिन राष्ट्रों में प्रशासन में स्थिरता का भाव होता है, वहाँ पर विकास की

संभावनाएँ भी क्षीण पड़ जाती हैं। इस प्रकार परिवर्तनशीलता विकास प्रशासन की बहुमुल्य पूँजी है जिसके सहारे यह सक्रिय बना रहता है।

2. **विकासात्मक पद्धति (Development Tendency)-** विकास प्रशासन की प्रकृति विकासात्मक कार्यक्रमों को लेकर चलने की है। फेनसोड के अनुसार, ''विकास प्रशासन नवीन सुधारों तथा अभिनवकरणों पर निर्भर करता है।'' एक विकासशील राष्ट्र में प्रशासन की सफलता उन सुधारों पर निर्भर करती है जो प्रशासन में प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए अपनाए जाते हैं। प्रशासनिक सफलता से तात्पर्य प्रशासन के विकास से है तथा प्रशासन के विकास का तात्पर्य जन-साधारण के अधिकतम कल्याण तथा विकासात्मक प्रवृति से है। इस प्रकार विकास प्रशासन की प्रकृति विकासात्मक कार्यो और उद्देश्यों पर आधारित है।
3. **लक्ष्य-उन्मुखी तथा परिणामोन्मुखी(Goal-Oriented and Result-Oriented)-** चूंकि सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक-प्रशासनिक प्रगति तथा बदलाव के कार्य को सीमित समय सीमा के अंतर्गत पूर्ण करना है, अतः विकास प्रशासन के लिए यह अनिवार्य है कि वह लक्ष्योन्मुखी तथा परिणामोन्मुखी हो। विकास प्रशासन में केवल इस बात पर ध्यान केंद्रित नहीं किया जाता है कि क्या किया जा रहा है बल्कि इस बात पर भी ध्यान दिया जाता है कि उसके क्या परिणाम सामने आए है। इसकी क्रियान्वयता का सीधा संबंध उत्पादकता से होता है। उदाहरण के लिए प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि, सामाजिक तौर पर साक्षरता या स्वास्थ्य आदि से देखा जाता है।
4. **प्रजातांत्रिक मूल्यों से संबंधित (Related with Democratic Values)-** विकास प्रशासन की एक अन्य विशेषता यह भी है कि प्रजातांत्रिक मूल्यों को ध्यान में रखकर ही प्रशासन का कार्य करता है क्योंकि इसमें मानव अधिकारों और मूल्यों के प्रति सम्मान, जनहित का उद्देश्य तथा उत्तरदायित्व की भावना निहित रहती है। विकास प्रशासन का अर्थ सरकारी-तंत्र द्वारा किए जाने वाले कार्यों से लगाया जाता है; अतः इस हेतु किए जाने वाले प्रयास जनहित तथा प्रजातांत्रिक मूल्यों से सम्बद्ध रहते हैं।
5. **वचनबद्धता (Commitment to work)-** विकास प्रशासन में संगठनों से इस भूमिका की आशा की जाती है कि वे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के प्रति वचनबद्ध हों और निश्चित समय के भीतर अपनी कार्यक्रमों को समाप्त करने में रुचि रखें। विकास प्रशासन में शामिल प्रशासनिक अधिकारियों की कार्यों के प्रति रुचि तथा वचनबद्धता ही इसकी सफलता का मूलमंत्र है। अतः नौकरशाही से यह आशा की जाती है कि उन्हें सौंपे गए कार्यों से वे भावनात्मक रूप से जुड़े तथा उनमें तल्लीन हो कर उन्हें पूर्ण करें।
6. **ग्राहकोन्मुखी तथा नागरिक सेवा-उन्मुखी (Client Oriented and Citizen participation oriented)-** परम्परागत लोक प्रशासन तथा नौकरशाही के अहम में उस व्यक्ति के हितों तथा संवेदनाओं की पर्याप्त अनदेखी की जाती है जिसे वास्तव में प्रशासनिक कार्यों से लाभान्वित होना चाहिए लेकिन इसके विपरीत विकास प्रशासन का मुख्य ध्यान इन्हीं व्यक्तियों या लाभार्थियों की ओर रहता है जिनके लिए नीतियाँ, कार्यक्रम, योजनाएँ तथा परियोजनाएँ निर्मित तथा संचालित की जाती हैं। अतः यह पूर्णतया ग्राहकोन्मुखी तथा नागरिक सेवा-उन्मुखी है जिसका लक्ष्य केवल नागरिकों को कुछ देना ही नहीं बल्कि उनकी सहभागिता प्राप्त करना भी है जो की नौकरशाह की प्रकृति पर बहुत हद तक आश्रित है।
7. **आधुनिकीकरण या नावाचार (Modernization or New methods and technique)-** विकासशील देश आधुनिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं, क्योंकि इसके अंतर्गत परिवर्तन तथा नवीनता दोनों के गुण समाहित होते हैं। अतः विकास के लिए यह आवश्यक है कि इसको प्राप्त करने के लिए प्रशासन का तरीका परंपरागत ना हो बल्कि यह नए ढाँचों, पद्धतियों तथा कार्यक्रमों को अपनाने के लिए तैयार हो।

8. **जन सहभागिता (People's Participation)-** जन सहभागिता विकास प्रशासन की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। जन सहभागिता के अभाव में लोककल्याणकारी एवं विकासपरक कार्यक्रम एवं योजनाएँ असफल सिद्ध हो सकते है। इसलिए विकास कार्यों की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उनमें किस सीमा तक सामुदायिक सहभागिता प्रदर्शित होती है। अतः विकास प्रशासन का यह प्रयास रहता है कि प्रशासनिक कार्यों में जनता की सहभागिता सुनिश्चित की जाए।
9. **तात्कालिकता या कालिक आयाम (Temporal Dimension)-** चूंकि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों को जितनी शीघ्रता से संभव हो सके, लाने का प्रयत्न किया जाता है। अतः समय अथवा काल का विकास प्रशासन में बहुत महत्व होता है। सभी विकास कार्यक्रमों को एक निश्चित काल-सीमा के लिए तैयार किया जाता है। एक निश्चित समय सीमा में पूर्ण लक्ष्य प्राप्त करना ही विकास प्रशासन का मुख्य उद्देश्य है।
10. **आर्थिक विकास का महत्व (Importance of Economic Development)-** विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें आर्थिक विकास को विशेष महत्व दिया जाता है। विकास प्रशासन के सहयोग से आर्थिक विकास तथा प्रशासनिक विकास दोनों ही प्रकार के कार्यक्रम लागू किए जाते हैं।
    बिना ठोस एवं मजबूत आर्थिक दृष्टि से विकसित हुए बिना कोई भी देश शक्तिशाली नहीं बन सकता। इसलिए विकास प्रशासन ऐसे प्रशासनिक संगठन की रचना करता है जो देश की आर्थिक प्रगति को संभव बनाता है तथा आर्थिक विकास के लिए मार्ग प्रस्तुत करता है। इस परिवर्तनशील स्थिति में जब देश में नवीनीकरण आधुनिकीकरण, तकनीकीकरण तथा मशीनीकरण की लहर दौडती है तो प्रचुर मात्रा में धन का व्यय करना पड़ता है यह तभी संभव हो सकता है जब राष्ट्र की वित्त व्यवस्था उत्तम हो।
    इसके लिए लाभकारी तथा विकासशील आर्थिक योजना प्रारंभ करनी पड़ती है जिसके लिए सर्वोत्तम साधन विकास प्रशासन ही है। जिन राष्ट्रों में विकास प्रशासन के माध्यम से आर्थिक विकास के कार्यक्रम नियोजन से नहीं चलते उन देशों की चालू योजनाएं वित्त के अभाव में ठप्प पड़ जाती है और ऐसी स्थिति में देश की अर्थव्यवस्था पिछड़ जाती है। अतः समग्र विकास के लिए प्रशासनिक योजनाओं के साथ-साथ महत्वपूर्ण आर्थिक विकास की योजनाओं की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया जाना चाहिए।
11. **पारिस्थितिक परिप्रेक्ष्य (Ecological Perspective)-** विकास प्रशासन की अन्य चरित्रगत विशेषता पारिस्थितिक उन्मुख भी है। इसका तात्पर्य यह है कि विकास प्रशासन अपने चारों ओर के परिवेश यानी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पर्यावरण को आकार देता है और ये तंत्र भी विकास प्रशासन को समय पर प्रभावित करते हैं। परिवेश विकास प्रशासन के प्रचालन मानदंडों को निर्धारित करता है। यह सामाजिक प्रणाली से मिलता है अर्थात समाज विकास प्रशासन द्वारा लाए गए केवल उन्हीं परिवर्तनों को स्वीकार करता है जो वांछनीय होते हैं। पर्यावरण विकास प्रशासन की क्रियात्मक परिसीमा निर्धारित करता है। दोनों के बीच में व्यापक परस्पर क्रिया चलती रहती है।
    प्रशासन में परिवर्तन इसके पर्यावरण को प्रभावित करते हैं तथा पर्यावरण में परिवर्तन का प्रभाव प्रशासन पर भी पड़ता है।

अभ्यास प्रश्न -

1. विकास प्रशासन तथा परम्परागत प्रशासन में चार अंतर बताइए।
2. विकास प्रशासन की दो विशेषताएं बताइए।
3. विकास प्रशासन का अर्थ बताइए।
4. प्रशासनिक विकास से आप क्या समझते?

1.8 सारांश

इस इकाई में हमने विकास प्रशासन की संकल्पना, विकास प्रशासन के अर्थ एवं प्रशासनिक विकास की संकल्पना को समझाने का प्रयास किया है।

इसके साथ ही साथ परम्परागत प्रशासन एवं विकास प्रशासन के बीच अंतर का विशेष रूप से वर्णन किया है तथा विकास प्रशासन की विशेषताओं का विस्तृत रूप से वर्णन करने के साथ इसे सुस्पष्ट एवं सरल रूप से समझाने का प्रयास किया गया है।

1.9 शब्दावली

मार्शल प्लान अथवा यूरोपियन रिकवरी प्रोगाम- दूसरे महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका तथा यूरोप के अनेक दूसरे देशों द्वारा यूरोप की आर्थिक दशा के सुधार के लिए किया गया एक समन्वयात्मक प्रयास।यह योजना सबसे पहले अमेरिका के राज्य सचिव जार्ज0 सी0 मार्शल द्वारा 5 जून, 1944 को प्रस्तुत किया गया और इसके प्रशासन का दायित्व आर्थिक सहकारिता प्रशासन (ई0सी0ए0) पर था। इस योजना के अन्तर्गत 1948 से लेकर 1951 तक 12 बिलियन की अमेरिकी सहायता का वितरण किया गया। यह योजना 1952 तक जारी रही। ब्रिटेन तथा फ्रांस के नेत्त्व में यूरोप के 16 देशों ने यूरोपियन आर्थिक सहयोग प्रेशन की एक कमेटी गठित की जिसका काम था यूरोप की सहभागिता का समन्वय करना। बाद में यह संस्था के नाम से जानी जाने लगी।

प्रशासनिक क्षमता- साधनों को संचालित करने तथा उनको गतिविधियों के रूप में बदलने की योग्यता समस्याओं को व्यापक रूप से देखते हुए इस प्रक्रिया का र्प्यावरण के अनुरूप होना आवश्यक है।

लक्ष्य समूह- यह वह समूह है जिसको विकास परियोजना के अंतर्गत सहायता दिये जाने के लिए चुना जाता है। लक्ष्य समूह को विकास परियाजना के मुख्य लाभ अवश्य मिलने चाहिए। उदाहरण स्वरूप डी0डब्लू0सी0आर0ए0(ग्रामीण क्षेत्रों की स्त्रियों एवं बच्चों का विकास) परियोजना का लक्ष्य समूह वे महिलायें एवं बच्चे हैं जिनका संबंध बहुत हद तक समाज के वंचित वर्गों से है।

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. विकास प्रशासन तथा परम्परागत प्रशासन में अंतर को 1.4 में विस्तृत रुप से बताया गया है, कृपया ध्यान दें। **2.** विकास प्रशासन की विशेषताओं को 1.6 में विस्तृत रुप से बताया गया है, कृपया ध्यान दें। **3.** विकास प्रशासन का अर्थ 1.3 में विस्तृत रूप से समझाया गया है, कृपया ध्यान दें। **4.** प्रशासनिक विकास को 1.3 में विस्तृत रूप से समझाया गया है, कृपया ध्यान दें।

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लोक प्रशासन के तत्व- एस0 सी0 सिंहल।
2. विकास प्रशासन- आनंद प्रकाश अवस्थी।
3. प्रशासन एवं लोकनीति- मनोज सिन्हा।
4. लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार- एम0 पी0 शर्मा और बी0एल0 सडाना।
5. लोक प्रशासन- एम0 लक्ष्मीकांत।
6. लोक प्रशासन- सुरेंद्र कटारिया।
7. विकास प्रशासन- (ई0पी0ए0-3 ,इकाई-1,इग्नू)
8. तुलनात्मक लोक प्रशासन- टी0एन0 चतुर्वेदी।

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लोक प्रशासन एवं लोकनीति- मनोज सिन्हा।
2. विकास प्रशासन (ई0पी0ए0-3 ,इकाई-1,इग्नू)
3. विकास प्रशासन- आनंद प्रकाश अवस्थी।

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. विकास प्रशासन की परिभाषा दीजिए। विकास प्रशासन की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. परंपरागत प्रशासन एवं विकास प्रशासन के मध्य अंतर का विस्तृत वर्णन कीजिए तथा ये बताइए कि क्या इन दोनों के बीच समानता भी है?

इकाई- 2 विकास प्रशासन- उद्-भव, क्षेत्र और महत्व

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 विकास प्रशासन का उद्-भव (सन् 1950 से वर्तमान तक)
2.3 विकास प्रशासन का क्षेत्र
2.4 विकास प्रशासन का महत्व
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामाग्री
2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने विकास प्रशासन की संकल्पना एवं अर्थ का विस्तृत अध्ययन किया था। इस इकाई में हम विकास प्रशासन का उद्-भव, क्षेत्र और महत्व का अध्ययन करेंगे।
विकास प्रशासन आधुनिक लोक प्रशासन का परिचायक है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विकास प्रशासन का उदय हुआ। उपनिवेशवादी शोषण से मुक्त हुए नवीन राष्ट्रों एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका जैसों देशों की समस्याएँ विकसित देशों की समस्याओं से पूर्णतः भिन्न थीं। इन राष्ट्रों के समक्ष उत्पन्न नवीन समस्याओं के समाधान हेतु विद्वानों का ध्यान विकास प्रशासन की ओर गया तथा इन विकासशील देशों की सहायता हेतु क्रमबद्व तरीके से विभिन्न विकासपरक कार्यक्रमों का आरम्भ किया गया। विकास प्रशासन का क्षेत्र काफी विस्तृत है तथा इसके क्षेत्र के अन्तर्गत ऐसी समस्त गतिविधियाँ आती हैं जो राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक तथा औद्योगिक विकास से सम्बन्धित हों और जिसका संचालन सरकार द्वारा किया जाता हो, जो विकास प्रशासन के महत्व को और बढ़ा देता है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विकास प्रशासन के उद्-भव/उद्-गम के विषय में जानकारी हासिल कर सकेंगे।
- विकास प्रशासन के अध्ययन के विभिन्न उपागमों को समझ सकेंगे।
- विकास प्रशासन के सिद्धान्त एवं व्यवहार के मध्य विकास मुद्दों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- विकास प्रशासन के क्षेत्र को समझ सकेगें और
- विकास प्रशासन के महत्व की विस्तृत व्याख्या कर सकेंगे।

2.2 विकास प्रशासन का उद्-भव (सन् 1950 से वर्तमान तक)

विकास प्रशासन लोक प्रशासन की एक नवीन अवधारणा है। विकासशील एवं अविकसित देशों में विकास लाने के लिए विकास प्रशासन का अभ्युदय हुआ। विकास प्रशासन के सिद्धान्त के उदय के कई कारण माने जाते हैं,

जैसे- द्वितीय विश्व युद्ध से हुए हानि से बचने तथा आर्थिक मंदी से बचने में सफलता पाने के लिए, यूरोप का पुनर्निर्माण कार्यक्रम के तहत 'मार्शल योजना', शीत युद्ध के प्रभाव तथा उपनिवेशवाद से स्वतंत्रता की प्रक्रिया आदि। तृतीय विश्व के देशों के उदय अर्थात् द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका जैसे देशों में लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार तथा लोक कल्याणकारी राज्य की बढ़ती हुई लोकप्रिय अवधारणा ने प्रशासन का स्वरूप विकासमय बना दिया। 'विकास प्रशासन' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भारत के एक प्रशासनिक अधिकारी श्री यू0 एल0 गोस्वामी ने अपने एक लेख 'दि स्ट्रक्चर ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया' जो 1955 में 'दि इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' में प्रकाशित हुआ था, में किया। इसके बाद अनेक विद्वानों द्वारा विकास प्रशासन की अवधारणा की व्याख्या की गई जिनमें जार्ज ग्राण्ट, एडवर्ड वाइडनर, हैडी, फ्रेड डब्ल्यू0 रिग्स, मॉण्टगोमरी, जोसेफ पालोम्बरा जैसे प्रमुख विद्वानों का नाम लिया जा सकता है। परन्तु लोक प्रशासन के परम्परागत सिद्धान्तों की अपर्याप्तता को देख कर एडवर्ड वाइडनर ने विकास प्रशासन की अवधारणा को प्रस्तुत किया जिन्होंने इसे 'लक्ष्योन्मुखी' तथा 'परिवर्तनोन्मुखी' प्रशासन माना था। सन् 1960 में स्थापित तुलनात्मक प्रशासनिक समूह ने विकास प्रशासन और प्रशासनिक विकास पर अपना ध्यान केन्द्रीत किया।

सन् 1963 में अमेरिकन सोसाइटी फॉर पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन द्वारा प्रो0 फ्रेड डब्ल्यू0 रिग्स की अध्यक्षता में तुलनात्मक प्रशासनिक समूह वर्ग (Comparative Administration Group– CAG) का गठन विकासशील देशों में प्रशासनिक प्रवृत्तियों के परीक्षण के लिए किया।

तुलनात्मक प्रशासनिक समूह (CAG) ने अपने अध्ययन के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया कि विकासशील राष्ट्रों के लिए किस प्रकार का विकास मॉडल तैयार किया जाए तथा विकास लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ऐसी कौन सी विकास प्रक्रिया या तकनीकी अपनाई जाए जिससे इन राष्ट्रों में विकास अत्यधिक तीव्र गति से हो सके। इसी अवधि के दौरान प्रशासकों के प्रशिक्षण पर भी ध्यान दिया गया, ताकि उनकी विकास सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने की क्षमता विकसित हो सके। इस हेतु तकनीकी सहायता कार्यक्रम के लिए एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीकी राष्ट्रों में प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करने पर बल दिया गया। डोनेल्ड सी0 स्टोन का भी मानना था कि विकास के मार्ग में सबसे प्रमुख बांधा प्रशासनिक है न कि आर्थिक। लोक प्रशासन के विभिन्न विद्वानों ने विकास प्रशासन के वैकल्पिक उपागमों को खोजना शुरू कर दिया ताकि विकास लक्ष्य को जल्द से जल्द प्राप्त किया जा सके। इसके लिए उन्होंने लोक प्रशासन तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण के आपसी सम्बन्धों का विश्लेषण करना प्रारम्भ किया, जिसे पारिस्थितिकी परिप्रेक्ष्य या उपागम कहा गया। इस उपागम या परिप्रेक्ष्य के दाता के रूप में प्रो0 रिग्स का नाम सबसे प्रमुख है।

लोक प्रशासन में 'इकॉलोजी' या 'परिस्थितिकीय' से मतलब समाज के गहन अध्ययन के साथ ही साथ उन सारे तत्वों का अध्ययन भी आवश्यक है जो प्रशासन के कार्य को प्रभावित करते हैं।

प्रो0 रिग्स द्वारा रचित पुस्तक 'The Ecology of Public Administration' में कहा गया कि किसी भी देश की नौकरशाही तथा अन्य राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थाओं को तभी पूर्ण रूप समझा जा सकता है, जब उसके चारों ओर अर्थात् उन परिस्थितियों, प्रभावों और शक्तियों को समझ लिया जाए जो उनको रूप देने और बदलने में मदद करते हैं। इन प्रभावी तत्वों के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था मुख्य होती है। इस दृष्टिकोण का उल्लेख प्रो0 रिग्स के अलावा जॉन एम0 गास, राबर्ट ए0 डहल, रास्को मार्टिन आदि विद्वानों ने भी किया।

प्रो0 रिग्स ने राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन, विशेषकर तुलनात्मक तथा विकास प्रशासन पर अनेक पुस्तक एवं लेख लिखे जिसमें कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें निम्नलिखित हैं- दि इकॉलोजी फॉर पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन (1961), दि एडमिनिस्ट्रेशन इन डेवलपिंग कन्ट्रीज: दि थ्योरी ऑफ प्रिज्मेटिक सोसायटी (1964), डेवलपमेन्ट इन एशिया (1964), थाईलैण्ड: मॉडर्नाइजेशन ऑफ ए ब्यूरोक्रेटिक पॉलिसी (1966)

प्रो0 रिग्स ने विकासशील देशों के प्रशासनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिए अपनी एक नयी अवधारणा विकसित की। उन्होंने इसके लिए तीन विश्लेषणात्मक यंत्र का प्रयोग किया जिसमें- परिस्थितिकीय उपागम, संरचनात्मक-कार्यात्मक उपागम तथा, आदर्श उपागम।

प्रो0 रिग्स के मॉडल की आलोचना भी की गई इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि प्रो0 रिग्स ने विकास को आगे बढ़ाने के लिए नए चिन्तन शैली को जन्म दिया। 1960 के दशक में ही हम नियामक उपागम से आनुभाविक उपागम की ओर आगे बढ़े। 'सुधार' सम्बन्धी कार्यों में रूचि रखने वाले विद्वान अनुभवमूलक ज्ञान की सहायता लेते हैं, जबकि नियामक उपागम का मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक ढाँचों और कार्यों के सम्पन्न या बेहतर प्रतिमान को निर्धारित करना है।

1970 के दशक में विकास प्रशासन के अर्थ और मॉडल दोनों में परिवर्तन आया। मानव आवश्यकताओं को प्राप्त करना विकास के उद्देश्यों का मूल लक्ष्य बन गया। इसी बीच वीडनर द्वारा रचित पुस्तक 'डेवलपमेन्ट एडमिनिस्ट्रेशन इन एशिया'(1970) तथा प्रो0 रिग्स द्वारा रचित पुस्तक 'फ्रन्टीयर्स ऑफ डेवलपमेन्ट एडमिनिस्ट्रेशन' (1970) प्रकाशित हुई। कई विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की गति को समझने के लिए राजनीतिक अर्थव्यवस्था उपागम का प्रयोग किया। इस दशक में सरकार को आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय का अत्यधिक सक्षम उपकरण स्वीकार किया गया। 1970 के दशक में सामाजिक विकास के महत्व पर जोर दिया गया। कई संगठनों द्वारा मानव के जीवन स्तर में परिवर्तन लाने के लिए तथा मानव के प्रतिष्ठा को निश्चित करने तथा महत्व प्रदान करने के लिए नई नीतियों तथा कार्यक्रमों के निर्माण पर जोर दिया।

1980 का दशक विकास प्रशासन का तीसरे विश्व के विचार को प्रस्तुत करता है। विद्वान अरविन्द सिंघल विकास की दो समकालीन उपागमों की चर्चा निम्न प्रकार से करते हैं -

- बहुलवादी- विकास के अनेक रास्तों या तरीकों पर बल देता है।
- यह सांस्कृतिक पूर्व धारणाओं में पश्चिमी कम है। इस उपागम के अन्तर्गत नवीन समाज, आर्थिक उद्देश्यों और नीतियों पर जोर दिया जाता है।

अरविंद सिंघल ने 1980 के दशक में विकास प्रशासन के सिद्धान्त में बदलाव को संक्षिप्त रूप में बताया है। अरविन्द सिंघल के अनुसार, प्रशिक्षण प्रक्रिया उपागम और जन केन्द्रीत उपागम ने ब्लू-प्रिन्ट उपागम और उत्पादन केन्द्रित उपागम का स्थान ले लिया है।

ब्लू-प्रिन्ट एप्रोच या उपागम विकास कार्यक्रमों को प्रशासित करने हेतु कार्य की एक विशिष्ट योजना का प्रारूप तैयार करने पर जोर देता है।

हाल ही में ब्लू-प्रिन्ट एप्रोच के स्थान पर लर्निंग प्रॉसेस एप्रोच को अपनाया जा रहा है, क्योंकि ब्लू-प्रिंट एप्रोच का दृष्टिकोण कठोरतापूर्ण, बन्द प्रकृति एवं अनियमिततापूर्ण पाया गया है। इसलिये यह अनुभव किया गया है कि यह उपागम जन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रहा है। इसके विपरीत 'लर्निंग प्रॉसेस एप्रोच' सामाजिक परिवर्तन के आयोजन की सापेक्षतया एक खुली रणनीति है तथा बदलते हुए पर्यावरण के अनुकूल भी है। इसके तहत प्रशासन तथा आम जनता की आपसी समझ के आधार पर संयुक्त प्रयास से समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है, इसके साथ ही साथ इसे व्यावहारिक रूप में लागू भी किया जा सकता है। दोनों उपागमों में अंतर स्पष्ट करते हुए अरविन्द सिंघल कहते हैं कि, ''ब्लू-प्रिन्ट एप्रोच लोगों के लिए आयोजन पर बल प्रदान करता है, वहीं लर्निंग प्रॉसेस एप्रोच लोगों के साथ आयोजन पर बल प्रदान करता है।''

विकास प्रशासन का सहभागी या जनता केन्द्रीत उपागम या एप्रोच व्यक्ति को एक ऐसे अभिकर्ता के रूप में देखता हैं जो लक्ष्यों का निर्धारण, संसाधनों का नियंत्रण एवं उन प्रक्रियाओं का निर्देशन करता है जो उसके जीवन को प्रभावित करती है। इस दृष्टिकोण का मुख्य उद्देश्य है जनता में मानसिक शक्ति को बढ़ावा देना एवं प्रशासनिक विकास करना ताकि जनता की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में वह सक्षम हो सके।

अतः यह स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण का मुख्य केन्द्र बिन्दु जनता का विकास, भलाई, सहभागिता, आत्मनिर्भरता तथा स्थायित्व एवं सामाजिक समानता लाने से है।

विकास प्रशासन की धारणा के विकास में उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमंडलीकरण का प्रभाव भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है। ये तीनों आधुनिक युग की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उदारीकरण, निजीकरण तथा भूमंडलीकरण का सम्बन्ध अन्तराष्ट्रीय एकीकरण से है क्योंकि इसके अंतर्गत सम्पूर्ण विश्व को एक भूमंडलीय गाँव के रूप में देखा जाता है, जिनमें आर्थिक तथा व्यापारिक लेन-देन पर कोई रोक नहीं होता। इससे विकास के नए-नए आयाम निकल कर सामने आ रहे हैं।

भूमंडलीय विकास की धारणा को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त के आधार ही समझा जा सकता हैं।

डेविड हैल्ड ने 24 जनवरी, 2002 को ओपन डेमोक्रेसी फोरम पर चर्चा में भाग लिया। उनके अनुसार, विश्व व्यापी अंतः संबद्धता कोई नई बात नहीं है, बल्कि यह कुछ सौ वर्षों से अस्तित्व में है। परन्तु अगर कोई भी इसकी वृद्धि को सूक्ष्म दृष्टि से देखता है तो पाता है कि अब अर्थशास्त्र, राजनीति से लेकर संस्कृति और कानून तक का सतत स्वरूप में परिवर्तन देखा जा रहा है, जिसके फलस्वरूप एक नई किस्म की विश्व व्यवस्था का जन्म हो रहा है।

विकास प्रशासन की यह नवीन धारणा विकास प्रशासन को केवल विकासशील देशों तक ही सीमित नहीं रखती बल्कि इस विचारधारा के विद्वानों का मानना है कि इसमें स्वयं विकसित देशों की विकासात्मक आवश्यकताएँ भी सम्मिलित हैं, जहाँ अत्यधिक विकास स्वयं विकास की निरन्तरता के लिए एक चुनौती बन गया है। इस मान्यता को मानने वाले विचारकों में इजमेन, ओ0पी0 द्विवेदी, डेविड फैशोल ल्यूक, नेफ डेमियन किंग्सबरी, हरबर्ट वरलिन आदि का नाम प्रमुख है।

2.3 विकास प्रशासन का क्षेत्र

विकास प्रशासन लोक प्रशासन की एक नई एवं विस्तृत शाखा है। विकास प्रशासन के क्षेत्र का निर्धारण करना सरल नहीं है, क्योंकि इसका क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। विकास प्रशासन अपने उद्देश्यों के कारण शुरू से ही केवल लोक प्रशासन में नहीं बल्कि अन्य समाजशास्त्रियों के लिए भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसलिए विकास प्रशासन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत और परिवर्तनशील होता है। वर्तमान समय में अधिक से अधिक संख्या में कार्यरत समस्त प्रशासनिक अभिकरण विकास प्रशासन के क्षेत्र से ही सम्बन्धित है, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है-

1. **पोस्डकॉर्ब सिद्वान्त-** विकास प्रशासन लोक प्रशासन का ही विस्तृत रूप है, इसलिए लूथर गुलिक द्वारा प्रतिपादित पोस्डकॉर्ब (POSDCORB) सिद्धान्त विकास प्रशासन के क्षेत्र के लिए भी प्रासंगिक माना जाता है। पोस्डकॉर्ब (POSDCORB) शब्द निम्नलिखित शब्दों के पहले अक्षर से निर्मित हुआ है- P– Planning (नियोजन), O– Organisation (संगठन), S– Staffing (कर्मचारी), D– Direction (निर्देशन), Co– Co- ordination (समन्वय), R– Reporting (प्रतिवेदन), B– Budgeting (बजट) इन सभी सिद्धान्तों के बिना विकास लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सकता। अतः विकास प्रशासन में इसे अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक माना गया है।
2. **सामान्य प्रशासन-** इसके अन्तर्गत वे अभिकरण तथा प्रशासनिक कार्य सम्मिलित किए गये हैं जो सरकारी नीतियों का निर्धारण, राजनीति और प्रशासन के बीच समन्वय, प्रशासनिक कार्यों में निर्देशन, नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के तौर पर- भारत में मंत्रीमंडल सचिवालय, प्रधानमंत्री कार्यालय एवं केन्द्रीय सचिवालय इसी श्रेणी में आते हैं।

3. **विकास प्रशासन का अभिकरण-** विकास प्रशासन के अभिकरणों की श्रेणी में वे प्रशासनिक अभिकरण आते हैं जो उसके प्रशासनिक संगठन तथा कार्मिक प्रशासन से सम्बन्धित होते हैं। ये अभिकरण सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए प्रत्यक्षतः उत्तरदायी होते हैं। उदाहरण के लिए- विशिष्ट योजना संगठन, जिला ग्रामीण विकास अभिकरण, पंचायती राज, ग्रामीण विकास, महिला एवं बाल विकास तथा कृषि विभाग इत्यादि।
4. **जनसहयोग एवं जनसम्पर्क-** विकास प्रशासन को सफल होने के लिए एक आवश्यक शर्त जनता का सहयोग और जनता के साथ सम्पर्क का होना भी माना गया है, क्योंकि जितने भी विकास कार्यक्रम होते हैं वो जनता के कल्याण के लिए बनाए जाते हैं। अतः विकास कार्यक्रमों के सफल क्रियान्वयन के लिए जनता का सहयोग लेना अति आवश्यक है। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि जनसंपर्क के माध्यम से जनता को इससे जोड़ा जाए ताकि योजनाओं की संपूर्ण जानकारी तथा लाभ एक-एक लाभार्थी तक पहुँच सके। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जनसहयोग एवं जनसम्पर्क दोनों ही विकास प्रशासन के क्षेत्र को और अधिक महत्वपूर्ण एवं विस्तृत बना देते हैं।
5. **नियोजित परिवर्तन का प्रशासन-** यद्यपि नियोजित परिवर्तन के प्रशासन तथा विकास प्रशासन के अभिकरणों के मध्य कोई स्पष्ट अंतर तो नहीं किया जा सकता, फिर भी नियोजित परिवर्तन के प्रशासन की श्रेणी में योजना आयोग अब नीति आयोग, राज्य योजना विभाग तथा समाज कल्याण विभाग आदि को सम्मिलित किया जाता है।
6. **आधुनिक प्रबंधकीय तकनीक तथा कंप्यूटर प्रणाली का प्रयोग-** नवीन प्रबन्धकीय तकनीक को अपना कर हम विकासात्मक कार्यक्रम को और अधिक कुशलता के साथ लागू करने में सफल होते हैं। अतः हमें विकसित देशों से यह तकनीक ग्रहण करनी चाहिए ताकि विकास में आने वाली बाधाओं का हम हल निकाल कर उसे सफल बना सकें। इस हेतु हमें आज के परिवर्तित युग के माँग के हिसाब से कंप्यूटर प्रणाली की सहायता लेना आवश्यक है जिससे हमें विकास कार्यों के क्रियान्वयन में सहायता मिल सके। इन्हीं कारणों से विकास प्रशासन में आधुनिक प्रबन्धकीय तकनीक एवं कम्पूयटर प्रणाली को अपनाया गया है।
7. **प्रशासन की आंतरिक तथा कार्मिक वर्ग की समस्याओं का प्रशासन-** विकास प्रशासन के समक्ष अनेक चुनौतियाँ भी उत्पन्न होती रहती हैं। समय के साथ-साथ इसमें बदलाव भी होते रहते हैं, इसलिए नई योजनाओं तथा परियोजनाओं आदि के लिए कार्मिकों को नए ढंग से शिक्षित एवं प्रशिक्षित किया जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि विकास प्रशासन और प्रशासनिक विकास का सह संबंध एक ही सिक्के के दो पहलुओं के जैसा होता है। विकास प्रशासन में केवल विकास के कार्यक्रमों का क्रियान्वयन ही नहीं होता, बल्कि प्रशासनिक संगठनों की आंतरिक कार्यकुशलता तथा कार्यरत कार्मिकों के कार्मिक प्रशासन जैसे- भर्ती, प्रशिक्षण ,पदोन्नति, एवं पदस्थापना इत्यादि को भी समाहित किया जाता है।
8. **प्रशासन के मानवीय तत्वों का अध्ययन-** विकास प्रशासन के अध्ययन के क्षेत्र में समाज, मूल्य, मान्यताएँ, परम्पराओं, राजनीतिक शक्तियां, वर्गों, जातियों, समुदायों तथा आर्थिक संसाधनों सहित उन सभी मानवीय दशाओं एवं तत्वों का अध्ययन भी सम्मिलित हैं, जिनका संबंध विकास प्रशासन तथा सामाजिक आर्थिक नियोजन से किसी न किसी रूप से है, क्योंकि विकास प्रशासन को पारिस्थितिकीय सन्दर्भों में समझना अति आवश्यक है।
9. **राष्ट्र निर्माण तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा समन्वय-** विकास प्रशासन के महत्वपूर्ण कार्यों में से एक कार्य राष्ट्र निर्माण का है। विकास प्रशासन सामाजिक रीति-रिवाजों की कमियों को सुधार कर विकास कार्यों में होने वाली बाधाओं के निराकरण में बल देता है। विकास प्रशासन का मुख्य केंद्र-बिंदु

विकास से संबंधित होता है। जैसे- औद्योगिकरण, नवीनीकरण, शहरीकरण, लोकतंत्र में विश्वास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य में सुधार लाने तथा रोजगार सजृन आदि से है। इसलिए विकास प्रशासन को लचीला एवं परिवर्तनशील कहा जाता है, जो समय एवं परिस्थिति के साथ बदलाव को स्वीकार करता है। वहीं यह भी महत्वपूर्ण है कि विकास के कार्यक्रमों के संचालन में न सिर्फ देश की सरकारी योजनाओं को शामिल किया जाता है, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं के साथ-साथ अन्य राष्ट्र भी विकास योजनाओं को सहायता प्रदान करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे- अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य संगठन के साथ-साथ कई संस्थाएँ विकासशील देशों की सहायता एवं विकास हेतु ऋण के माध्यम से सहायता पहुँचाती हैं। इसलिए विकास प्रशासन इन सहायक संस्थाओं एवं अभिकरणों की शर्तों तथा अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए इनके मध्य समन्वय स्थापित कर विकास कार्यों को तीव्र गति के साथ पूर्ण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

10. **बहुआयामी-** कार्यात्मक दृष्टि से देखा जाए तो विकास प्रशासन का कार्यक्षेत्र अत्यधिक विशाल तथा बहुआयामी (Multidimensional) है। वास्तव में देखा जाए तो लोक प्रशासन एवं विकास प्रशासन का क्षेत्र लगभग एक जैसा है,लेकिन विकास प्रशासन एक विशिष्टता से संबंधित है, जिसका प्रमुख आधार विकास है। विकास प्रशासन का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक,सामाजिक,राजनीतिक एवं सांस्कृतिक ढाँचे का विकास करना है। इसमें समस्त क्षेत्र जैसे- कृषि, सिंचाई, ऊर्जा, परिवहन, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, संचार तथा सामाजिक न्याय आदि इसके बहुआयामी विषय क्षेत्र हैं, जो इसे लोक प्रशासन से भी अधिक महत्वपूर्ण बना देता है।

2.4 विकास प्रशासन का महत्व

विकास प्रशासन के महत्व को समझने के लिए दो बातों को जानना आवश्यक है- सिद्धान्त निर्माण और विकास प्रशासन।

उपर्युक्त दोनों विचार एक दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप से सम्बद्ध हैं। तुलनात्मक लोक प्रशासन में सिद्धान्त निर्माण का अधिकतर कार्य विकास से जुड़ा है, जबकि विकास प्रशासन का अध्ययन सिद्धान्त निर्माण से जुड़ा है। विकास की विभिन्न परिस्थितियाँ राष्ट्रों की प्रशासनिक प्रणाली की तुलना से संबंधित होती हैं। यह केवल विकासशील राष्ट्रों के संबंध में ही नहीं, बल्कि नवीन लोक प्रशासन की विचारधारा के साथ सामंजस्य स्थापित करने में भी सहायक हो सकता है। विकास प्रशासन का अध्ययन इस बात को पूरी तरह से स्पष्ट करता है कि राजनीति और प्रशासन दोनों अलग-अलग नहीं बल्कि एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। व्यावहारिक रूप में विकास प्रशासन के महत्व की चर्चा निम्नांकित रुप से की जा सकती है-

1. विकास प्रशासन परम्परागत लोक प्रशासन की कमियों या खामियों की पूर्ति का एक माध्यम सिद्ध हो सकता है, क्योंकि परिवर्तनशीलता और लचीलापन इसके महत्वपूर्ण गुणों में से एक है।
2. लोक कल्याणकारी राज्य के दायित्वों की पूर्ति में विकास प्रशासन महत्वपूर्ण रूप से सहायक सिद्ध होता है।
3. विकास प्रशासन सामाजिक न्याय, सामाजिक समानता तथा आर्थिक विकास के क्रम में एक सशक्त माध्यम है।
4. विकास प्रशासन जनउन्मुखी; (Peoples – Oriented) होता है।अर्थात् जनता के कल्याण, जनता की समस्याओं के समाधान तथा जन-आकांक्षाओं की पूर्ति में विकास प्रशासन सशक्त रूप से अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करता है।

5. नियोजित अर्थव्यवस्था में विकास प्रशासन एक आवश्यक साधन तथा उपकरण एवं परिवर्तन के तंत्र के रूप में कार्य करता है।
6. विकास प्रशासन सरकारी नीतियों, कानूनों, कार्यक्रमों और परियोजनाओं को तैयार करने तथा उनके क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
7. विकास प्रशासन सामाजिक-आर्थिक विकास, कार्यकुशलता और परिणामों की प्राप्ति के संबंध में आवश्यक नियंत्रण व्यवस्था को संचालित करता है।
8. विकास प्रशासन मानवीय संवेदनाओं तथा प्रतिबद्धताओं के क्रम में युक्तिसंगत व्यवस्था करता है।
9. विकास प्रशासन राष्ट्र निर्माण एवं मानव के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिए निरंतर प्रयासरत रहता है।
10. विकास प्रशासन समयानुसार नवाचार को अपना कर विकास को आगे बढ़ाने में निरंतर प्रयास करता है।
11. प्रशासनिक विकास के महत्व को विकास प्रशासन में गंभीरता से स्वीकार कर इसमें सुधार करने पर बल प्रदान करता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. विकास प्रशासन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने और कब किया?
2. पोस्डकॉर्ब; (POSDCORB) में 'D' शब्द का क्या अर्थ है?
3. विकास प्रशासन के महत्व को समझने के लिए कौन सी दो बातों को जानना जरूरी है?

2.5 सारांश

इस इकाई में हमने विकास प्रशासन के उद्-भव, क्षेत्र और महत्व के बारे में पढ़ा। विकास प्रशासन के विस्तृत अध्ययन में सबसे पहले हमने इसके उद्-भव/उदय कैसे हुआ इस पर चर्चा की। अध्ययन से पता चलता है कि यह एक नवीन अवधारणा है जो विकासशील देशों के आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन एवं प्रक्रिया के रूप में उभर कर सामने आया। 1950 के दशक में इस नवीन अवधारणा ने तृतीय विश्व के देशों के समक्ष उत्पन्न विकास समस्याओं के समाधान में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करना आरम्भ किया। अरविंद सिंघल के अनुसार, विकास प्रशासन से 1950 और 1960 के दशकों में तृतीय विश्व के देशों में जो परिवर्तन आया, वो था विकासशील देशों (तृतीय विश्व) में पारम्परिक समाज से एक विकसित और आधुनिक समाज की ओर अग्रसर होना। विकास प्रशासन को आगे बढ़ाने में तुलनात्मक प्रशासनिक समूह और प्रो0 एफ0डब्ल्यू0 रिग्स का योगदान अतिमहत्वपूर्ण साबित हुआ। इसके अलावा हमने विकास प्रशासन के बहुआयामी रूपों जैसे- आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक तथा सांस्कृतिक मुद्दों पर विस्तृत चर्चा की। विकास प्रशासन के अन्तर्गत हमने राष्ट्र निर्माण, नवाचार, नवीनीकरण, औद्योगीकरण जनसहभागिता आदि का अध्ययन किया तथा इसके महत्व को समझने का प्रयास किया।

2.6 शब्दावली

पारिस्थितिकी (Ecology)- इसके अन्तर्गत व्यवस्था और पर्यावरण के अंतर-संबंधों का अध्ययन किया जाता है। यहाँ पर्यावरण से संबंध समाज के प्राकृतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक पहलुओं को सम्मिलित कर उनका अध्ययन करने से है। मूल आवश्यकताएँ- ऐसी आवश्यकताएँ जो जीवन जीने के लिए आवश्यक होती हैं जैसे- भोजन, कपड़ा, मकान शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के साधन। जनसहभागिता- राष्ट्र निर्माण में जनता का सरकार या शासन के साथ मिलकर राष्ट्र निर्माण में अपनी भूमिका का निर्वाहन करना। नवाचार- इसके अंतर्गत कुछ नया तथा उपयोगी तरीका अपनाया जाता है, जैसे- नई तकनीक, नई विधि, नई सेवा, नया उत्पाद तथा नई कार्य पद्धति

आदि। बहुआयामी- अनेक पहलू, विशेषता, दृष्टिकोण तथा घटकों वाला। सामाजिक न्याय- ऐसा न्याय पूर्ण समाज की स्थापना जिसमें सामाजिक-आर्थिक विषमताएँ न हों तथा वह समावेशी हो और एकता पर आधारित हो। समन्वय- किसी भी संस्था अथवा संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न क्रियाओं में सामंजस्य तथा तालमेल स्थापित करना।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. यू0 एल0 गोस्वामी ने सन् 1955 में किया था। **2.** 'D' का अर्थ - Direction (निर्देशन) से है। **3.** सिद्धान्त निर्माण और विकास प्रशासन

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लोक प्रशासन के तत्व- डॉ0 एस0सी0 सिंहल।
2. प्रशासन एवं लोक नीति- मनोज सिन्हा।
3. तुलनात्मक लोक प्रशासन- त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी।
4. लोक प्रशासन- अवस्थी एवं माहेश्वरी।
5. तुलनात्मक लोक प्रशासन- रमेश अरोरा।
6. प्राचीन एवं आधुनिक प्रशासनिक चिंतक- डॉ0 उमेश कुमार एवं डॉ0 संजय कुमार सिंह।
7. लोक प्रशासन: नए क्षितिज- इंद्रजीत कौर।

2.9 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. विकास प्रशासन (ई0पी0ए0- 3, इकाई- 2 एवं 3, इग्नू)
2. डेवलपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन- एन एप्रोच, इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन अंक -10, नं01, पाई पनंदीकर।
3. इंडियाज एडमिनिस्ट्रेशन स्टेट- ओ0पी0 द्विवेदी तथा आर0बी0 जैन।
4. लोक प्रशासन के नए आयाम- मोहित भट्टाचार्य।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. विकास प्रशासन के उद्-भव के प्रमुख कारणों का उल्लेख करें।
2. विकास प्रशासन के क्षेत्र की विस्तृत चर्चा करें।
3. विकास प्रशासन के महत्व का वर्णन करें।

इकाई- 3 भारत में विकास प्रशासन की संवृद्धि

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 योजनाबद्ध रूप से परिवर्तन- विकास के संबंध में
3.2.1 योजना आयोग
3.2.2 परियोजना विषयक समिति
3.2.3 कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन कार्यक्रम
3.2.4 राष्ट्रीय विकास परिषद
3.2.5 योजना की नीति
3.2.6 सामुदायिक विकास कार्यक्रम
3.3 स्वतंत्रता पश्चात किए गए उपाय (भूमि सुधार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम)
3.4 भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण
3.5 भारत में विकास एवं विकास प्रशासन के लिए अपनाए गए दृष्टिकोण/उपागम
3.6 भारत में प्रशासनिक विकास के विभिन्न चरण
3.7 सारांश
3.8 शब्दावली
3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के समक्ष अनेक नई समस्याएँ एवं चुनौतियाँ उत्पन्न हुई। जैसे गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, कुपोषण, भूख, बीमारी, न्यून कृषि एवं अल्प औद्योगिक उत्पादन आदि। इसके अलावा 'कुशल मानव शक्ति' की कमी से भी प्रभावित था, जो इन समस्याओं के समाधान में उपयोगी सिद्ध होता। भारत में विद्यमान अर्ध सामंतीय ढाँचा भी इसके लिए जिम्मेदार था। अर्थात् कुछ संभ्रान्त लोगों या मुट्ठी भर लोगों के हाथों में धन-सम्पदा केंद्रित थी। इन सभी समस्याओं के निवारण के लिए यह आवश्यक था कि समस्त जनता के हितों और कल्याण के लिए राष्ट्र को विकास के पथ पर ले जाया जाए। इसी क्रम में, आरम्भ के दिनों से ही समस्याओं और चुनौतियों का सामना करने हेतु योजनाबद्व परिवर्तन को अपनाया गया तथा विकासपरक नीतियों एवं कार्यक्रमों को अपनाया गया।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सन् 1950 से वर्तमान तक उन विभिन्न चरणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, जिसके कारण विकास प्रशासन विकसित हुआ और उसका संवर्धन हुआ।
- भारत में विकास प्रशासन के विभिन्न तकनीकों, नीतियों तथा ढाँचे का अध्ययन कर सकेंगे, तथा

- विकास के लिए अपनाए गए विभिन्न उपागमों/दृष्टिकोण पर विस्तृत चर्चा कर सकेंगे।

3.2 योजनाबद्ध रूप से परिवर्तन- विकास के संबंध में

भारत को एक लंबे अंतराल के बाद स्वतंत्रा प्राप्त हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात विभिन्न समस्याओं के समाधान एवं विकास पथ को मजबूत और आगे बढ़ाने हेतु भारत में योजनाबद्ध परिवर्तन की नीति को अपनाया गया, जिसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक-आर्थिक प्रगति तथा राष्ट्र निर्माण करना था। भारत में आर्थिक एवं एकीकृत समन्वित विकास की अनिवार्यता को दृष्टिगत रखते हुए संविधान के चतुर्थ अध्याय में विकास-नीति के उद्देश्यों को निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत रखा गया है। वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के विकास कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया गया। अतः यह सर्वविदित है कि भारत में विकास के लिए योजना-निर्माण की पद्धति को अपनाया गया। योजना के लक्ष्यों और उद्देश्यों की संक्षिप्त सूची अग्रलिखित है-

1. राष्ट्रीय आय में वृद्धि लाना।
2. विभिन्न वर्गों एवं क्षेत्रों के बीच की असमानता में कमी लाना।
3. रोजगार के अवसर सृजित करना तथा वृद्धि लाना।
4. कुछ लोगों (संभ्रांत) के हाथों में धन-संपदा का वर्चस्व होने से रोकना।
5. गरीबी हटाना तथा बेरोजगारी में कमी लाना।
6. मनुष्य की मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने की व्यवस्था करना।
7. पर्यावरण सुरक्षा तथा पारिस्थितिकी संरक्षण को बढ़ावा देना।
8. राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आत्मनिर्भरता और उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि योजना निर्माण के उद्देश्य, मुख्यतः सामाजिक न्याय, समानता के साथ आर्थिक वृद्धि प्राप्त करने तथा आत्मनिर्भरता उत्पन्न करने के लिये किया गया।

3.2.1 योजना आयोग

सन् 1933 में सर्वप्रथम भारत में नियोजन का नाम सुनने में आया, जबकि डॉ0 एम0 विश्वेश्यरैया ने सन् 1936 में औद्योगिकरण के लिए योजना बनाने की आवश्यकता को रेखांकित किया। देश की आय को दुगुना करने के उद्देश्य से इन्होंने एक दसवर्षीय योजना बनाई थी, जिसे क्रियान्वित करने के लिए 60 सदस्यों का एक परामर्शी निकाय का सुझाव दिया। सन् 1938 में कांग्रेस पार्टी के अनुरोध पर एक राष्ट्रीय योजना समिति का निर्माण किया गया। पंडित जवाहर लाल नेहरु को इसका सभापति बनाया गया। सन् 1944 में जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक योजना समिति' बनाई गई। इस समिमि ने तीन योजनाएँ प्रकाशित की, जिसे हम बम्बई योजना, गाँधी योजना तथा जन योजना के नाम से जानते हैं। इसके पश्चात सन् 1946 में एक योजना और परामर्शदात्री बोर्ड की स्थापना की गई। सम्पूर्ण देश के निरन्तर विकास और जनता के जीवन स्तर को बेहतर बनाने तथा तेजी से सुधार लाने हेतु भारत सरकार ने 15 मार्च 1950 के प्रस्ताव द्वारा योजना आयोग की स्थापना की। योजना आयोग के संगठनात्मक ढाँचे की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं-

1. यह एक बहु-सदस्यीय संगठन है जिसके कारण यह एक अनेक संख्यक निकाय है।
2. इसमें पूर्णकालिक सदस्य तथा अंशकालिक दो प्रकार के सदस्य होंगे।
3. अपने सदस्यों की संख्या के अनुसार इसका आकार निश्चित नहीं है।
4. इसमें स्टाफ एवं लाइन अधिकरण का सम्मिश्रण होगा।
5. इसके अन्तर्गत राजनीतिक प्रतिनिधि तथा सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र के विभिन्न विशेषज्ञ होंगे।
6. प्रधानमंत्री योजना आयोग का अध्यक्ष होगा।

7. विभिन्न प्रभागों में कार्यक्रम सलाहकार होंगे।
8. पूर्णकालिक सदस्य विभिन्न प्रभागों तथा अनुभागों के प्रभारी होंगे और इन्हीं प्रभागों तथा अनुभागों के माध्यम से योजना आयोग कार्य करेगा। योजना आयोग के अन्य अधिकारी मुख्य परामर्शदाता तथा संयुक्त सलाहकार होंगे।

15 मार्च 1991 को योजना आयोग का गठन निम्न प्रकार से किया गया था- आयोग में अध्यक्ष,उपाध्यक्ष एवं अन्य सदस्य होते हैं। प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष होता है। उपाध्यक्ष पूर्णकालिक होता है। सदस्यों में कुछ केंद्रीय मंत्री एवं अन्य पूर्णकालिक सदस्य होते हैं। केंद्रीय सरकार के निम्नलिखित मंत्री आयोग के अंशकालिक सदस्य हैं- वित्त मंत्री, कृषि मंत्री, उद्योग मंत्री, उर्जा मंत्री, मानव संसाधन विकास मंत्री, वन एवं पर्यावरण मंत्री, विधि तथा न्याय और जल संसाधन मंत्री तथा योजना और कार्यक्रम-क्रियान्वयन राज्यमंत्री इसके अलावा योजना आयोग के 6 पूर्णकालिक सदस्य भी होते हैं, जो अर्थशास्त्र, इंजीनियरिंग, कृषि आदि क्षेत्रों से लिए गए हैं। यह सभी अपने विषय के विशेषज्ञ होते हैं तथा इन्हें अपने-अपने क्षेत्रों का अत्यधिक ज्ञान तथा अनुभव होता है।

योजना आयोग निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन करता है-

1. संसाधनों को निर्धारित करना।
2. देश के साधनों के अधिकतम प्रभावशाली तथा संतुलित उपयोग के लिए योजना बनाना।
3. नियोजन में स्वीकृत कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं के बारे में प्राथमिकताएँ निर्धारित करना।
4. योजना के सफल क्रियान्वयन हेतु तन्त्र (Machinery) की प्रकृति निश्चित करना।
5. अपर्याप्त संसाधनों को बढ़ाने का प्रयास करना।
6. योजनाओं का अनुवीक्षण तथा मूल्यांकन करना।

इन सबके अतिरिक्त योजना आयोग वित्तीय संसाधनों, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, विकास नीतियों, सामाजिक-आर्थिक अनुसंधान, श्रम, रोजगार तथा मानव शक्ति, योजना-समन्वयन, ग्रामीण विकास, ग्राम और लघु उद्योग, समाज कल्याण, शिक्षा, पोषण, सूचना एवं संचार, स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण आदि मुद्दों को देखता है।

किन्तु वर्तमान सरकार ने 1 जनवरी 2015 को योजना आयोग के स्थान पर 'भारत परिवर्तन के लिए राष्ट्रीय संस्था' अथवा नीति आयोग (National Institutions for Transforming India) के सृजन की घोषणा की। योजना आयोग 64 वर्ष तक अस्तित्व में रहा, लेकिन देश की आर्थिक, सामाजिक, आवश्यकताओं को देखते हुए योजना आयोग में भी सुधार या बदलाव की आवश्यकता महसूस होने लगी। इसलिए, जब प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 15 अगस्त, 2014 को अपने पहले स्वतंत्रता दिवस संबोधन में कहा कि वे योजना आयोग की जगह नई संस्था बनाना चाहते हैं, तो वे साझा भावना को ही अभिव्यक्ति दे रहे थे। तदुपरान्त, 1 जनवरी,2015 को उन्होंने राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्था अथवा नीति आयोग के गठन की घोषणा की गयी। योजना आयोग की ही तरह प्रधानमंत्री ही नीति आयोग के अध्यक्ष हैं।

3.2.2 परियोजना विषयक समिति

देश के विकासपरक गतिविधियों में तीव्रता लाने हेतु सन् 1956 में परियोजना समिति बनाई गई। इस समिति के अध्यक्ष के रूप में गृह मंत्री तथा नियोजन और वित्त मंत्री एवं योजना आयोग के उपाध्यक्ष इसके सदस्य होते थे। इसके अलावा प्रधानमंत्री द्वारा नामित किए जाने वाले राज्यों के दो मुख्यमंत्रियों को इस समिति के लिए मनोनीत किया जाता था। इस समिति के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए गए थे-

1. विशेष रूप से चुने हुये दलों के द्वारा केन्द्र और राज्यों में जाँच-पड़ताल करना जिसके अन्तर्गत महत्वपूर्ण परियोजनाओं का निरीक्षण करना भी शामिल है।

2. मितव्यता करने तथा नुकसान (बर्बादी) को बचाने तथा दक्षतापूर्ण ढंग से कुशल कार्यनिष्पादन के लिए संगठनों, पद्धति, रीतियों, प्रक्रियाओं तथा तकनीकों को उपयुक्त रूप में विकसित करने को लेकर पहलकारी अध्ययन करने की व्यवस्था करना।
3. समिति को प्रस्तुत की गई रिर्पोटों (प्रतिवेदनों) में की गई सिफारिशों को सही तरीके से कार्यान्वित करना।
4. ऐसे अन्य कार्य करना जो योजना के निष्पादन में कार्यकुशलता एवं मितव्यता लाने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा प्रस्तावित किया गया हो।

फिर भी यह समिति सन् 1970 से एक अलग संस्था के रूप में अस्तित्व में नहीं है।

3.2.3 कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन कार्यक्रम

कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन' की स्थापना सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्धघाटन के साथ ही अक्टूबर 1952 में हुई थी। इसका उद्देश्य योजना आयोग के सामान्य मार्ग-दर्शन और निर्देशन में सामुदायिक विकास कार्यक्रम और गहन-क्षेत्र विकास स्कीम का मूल्यांकन करना था। आगे चल कर इसके कार्य क्षेत्र में वृद्धि कर दी गई। जैसे- योजनाओं, कार्यक्रमों और सहयोग, ग्रामीण विकास, परिवार कल्याण, स्वास्थ्य, ग्रामीण उद्योग, विकास तथा सार्वजनिक वितरण आदि का मूल्यांकन संबंधी अध्ययन करना शामिल था।

कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन' के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. कार्यक्रम के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को ध्यान में रखकर कार्य-निष्पादन का मूल्यांकन करना।
2. लाभ लेने वालों पर कार्यक्रमों के प्रभाव का निर्धारण तथा लाभ लेने वाले समुदाय के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे का निर्धारण करना।
3. यह स्पष्ट करना कि ग्रामीण जनता ने प्रस्तावित बातों को क्यों स्वीकृत एवं अस्वीकृत किया है।
4. राज्य मूल्यांकन कर्मियों को प्रशिक्षण देना।
5. राज्य मूल्यांकन संगठन को तकनीकी मार्गदर्शन प्रदान करना आदि।

3.2.4 राष्ट्रीय विकास परिषद

इसके अलावा राष्ट्रीय विकास परिषद एक और एजेंसी है, जो विकास योजना तथा नीतियों को बनाने से संबंधित कार्य करती है। 6 अगस्त, 1952 को इसका जन्म हुआ। इसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है और खाद्य, गृह, वित्त, तथा प्रतिरक्षा विभागों के केन्द्रीय मंत्रीगण, मुख्यमंत्री, उपराज्यपाल, योजना आयोग के सदस्य तथा संघ राज्य क्षेत्रों के प्रशासक इसके सदस्य होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि योजना बनाने की प्रक्रिया में राष्ट्रीय विकास परिषद की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके महत्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं-

1. यह केन्द्र सरकार, योजना आयोग तथा राज्य सरकारों के मध्य एक कड़ी(समन्वय) का काम करती है।
2. यह राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक-आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करती है।
3. राष्ट्रीय योजना बनाने के लिए मार्गदर्शी सिद्धान्त निर्धारित करती है।
4. यह समय-समय पर राष्ट्रीय योजनाओं के कार्य की समीक्षा करती है।
5. राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए, जिसमें जनता से क्रियात्मक सहयोग प्राप्त करने, प्रशासनिक सेवाओं की दक्षता में सुधार लाने, पिछड़े प्रदेशों तथा वर्गों का पूर्ण विकास सुनिश्चित करने तथा राष्ट्रीय विकास के लिए संसाधन जुटाने के लिए उठाए गए कदम या उपायों की सिफारिश करना शामिल है।

राष्ट्रीय विकास परिषद का महत्व इस बात में निहित है कि यह भारतीय योजना को एक राष्ट्रीय चरित्र प्रदान करने में अपनी भूमिका का निर्वाहन करता है। इसके अतिरिक्त यह परिषद खाद्य, राज्य व्यापार निगम की रचना तथा भूमि सुधार जैसी समस्याओं से भी सम्बन्धित है।

3.2.5 योजना की नीति

योजना के समक्ष ऐसी चुनौतियाँ थीं कि वो ऐसी नीतियाँ बनाएं जिससे कम से कम उन समस्याओं में कमी लायी जा सके जिससे जनता व्यापक तौर पर प्रभावित हो रही थी। इसके लिए औद्योगिकरण और आधुनिकीकरण में सार्वजनिक क्षेत्र ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। राज्य ने परमाणु ऊर्जा, रेल, लौह और इस्पात, प्रतिरक्षा, एयरवेज खनिज, वायुयान, कोयला, जहाज निर्माण, बिजली और अन्य क्षेत्रों में एकाधिकार प्राप्त कर लिया। राज्य का यह भी लक्ष्य था कि निजी क्षेत्रों के उद्योगों को बढ़ाने के लिए वित्तीय तथा साधन प्रदान किए जाएँ। बेरोजगारी, अल्प-बेरोजगारी और छद्म रोजगार की समस्याओं के समाधान हेतु राज्य द्वारा कई योजनाएँ जैसे- जवाहर रोजगार योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, ग्रामीण श्रमिक रोजगार आदि के साथ-साथ सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में प्रदान किए जा रहे रोजगार के अवसर आदि इस सम्बन्ध में विशेष कार्यक्रम हैं।

इन सब उपायों के अलावा, स्वरोजगार के अवसर भी ग्रामीण एवं शहरी अशिक्षित बेरोजगारों को प्रदान किए जा रहे हैं तथा इसके लिए इनको वित्तीय सहायता या प्रोत्साहन प्रदान किये जा रहे हैं।

वहीं जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से कृषि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण बदलाव आए तथा विभिन्न भूमि सुधार कानूनों जैसे- काश्तकारी सुधार तथा अधिकतम भूमि सीमा कानून ने विकास पथ को गति प्रदान की।

हरित क्रान्ति' ने कृषि के क्षेत्र में नए एवं विकासपरक परिवर्तन लाए। इसका उद्देश्य खाद्यानों के मामले में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना था। लेकिन इस योजना का कार्यान्वयन कुछ में ही हो पाया जैसे- उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा और तामिलनाडु। हालांकि इससे खाद्यानों के आत्मनिर्भरता के स्तर तक के उत्पादन में वृद्धि तक सफल हो पाए। लेकिन इसके बावजूद भी इससे क्षेत्रीय विकास स्तरों में अंतराल बढ़ गया।

3.3 स्वतंत्रता पश्चात किए गए उपाय (भूमि सुधार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम)

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के समक्ष अनेक समस्याएं विकराल रूप धारण किए हुए थीं, उनमें से एक समस्या यह भी थी, कि कुछ ही लोगों के हाथों में भूमि का स्वामित्व था और उस वक्त देश में अर्ध-सामंतशाही परिस्थितियाँ मौजूद थीं अर्थात् कुछ ही लोगों के हाथों में धन-दौलत केंद्रित थी। इसलिए आरम्भ से ही भूमि सुधार को ग्रामीण और आर्थिक विकास की प्रमुख नीति माना गया है। भूमि सुधार कार्यक्रम की रचना इस ढंग से की गई है कि उससे गाँवों में परंपरागत सामंतवादी सामाजिक-आर्थिक ढाँचा को ध्वस्त किया जा सके। संपत्ति के असमान वितरण को दूर करने के लिए गरीबी हटाओ कार्यक्रम को राष्ट्रीय कार्यसूची में प्रथम स्थान पर रखा गया। इससे गरीबों के सामाजिक स्तर को ऊपर उठाने में सहायता मिली। यही कारण है कि इस कार्यक्रम को केवल आर्थिक विकास का ही नहीं बल्कि सामाजिक उत्थान का भी साधन माना गया।

भूमि सुधार संबंधी उद्देश्यों को निम्नलिखित उपायों द्वारा प्राप्त किया जाना था- जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, कास्तकारी सुधार, अधिकतम भूमि सीमा तथा फलत भूमि का पुर्नवितरण लागू किया जाना, जोतों की चकबंदी।

राज्य और भूमि की जुताई करने वाले (कृषकों) के मध्य में अनेक बिचौलिए (मध्यस्थ) थे। जैसे- जमींदारी तथा जागीरदारी आदि। इससे सबसे बड़ी हानि यह हुई कि कुछ ही लोगों के पास भूमि का स्वामित्व केन्द्रित हो गया तथा कृषि की उपेक्षा भी की गई। जिसके कारण कृषि उत्पादन में भारी गिरावट आ गई। इसका सीधा प्रभाव किसानों पर पड़ा तथा उनकी स्थिति और भी दयनीय हो गई। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कई राज्य सरकारों ने छठे दशक में जमींदारी उन्मूलन अधिनियम पारित किया। जिसके फलस्वरूप 200 लाख किसानों को

भूमि का मालिकाना हक मिला। सातवीं योजना के तहत इसे गरीबी उन्मूलन नीति के मूलभूत हिस्से के रूप में स्वीकार किया गया। इसी प्रकार काश्तकारी प्रथा भी जमींदारों द्वारा गाँव के असहाय तथा गरीब किसानों का शोषण करने का एक साधन था। अतः काश्तकारी सुधार का भी उद्देश्य यही था कि 'किसान की भूमि' वाली नीति लागू की जाए। अधिकांश राज्यों में पट्टेदारों को मालिकाना अधिकार दिए जाने तथा काश्तकारों/उप-काश्तकारों आदि को काश्तकारी की सुरक्षा से सम्बद्ध कानून बनाए गए हैं और काश्तकारों के हितों को सुरक्षित किया गया है। लेकिन काश्तकारी कानूनों में कुछ कमियाँ होने के कारण यह अप्रभावी रहा, क्योंकि इसके पास भूमि का समुचित रिकॉर्ड नहीं था न ही प्रभावी प्रशासनिक तंत्र ही था और पट्टा, मजदूर तथा साख-बाजार के बीच कोई आपसी और अन्योन्याश्रित संबंध नहीं था।

इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए अधिकतम भूमि सीमा भी बहुत से राज्यों में कानून बनाकर लागू की गई। लेकिन इनमें भी अनेक कमियाँ थीं। जैसे- कानून को छलपूर्ण (कपटपूर्ण) तरीके से अपने अनुसार मोड़ा गया। इसके अलावा शब्दों की अस्पष्ट परिभाषा की गई तथा अधिकतम भूमि सीमा कानून के लागू होने से बहुत सारी छूट दी गई।

जोतों की चकबन्दी का लक्ष्य हर कोने से उत्पादन में सुधार लाना था। इसके अतिरिक्त ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विविधता लाना तथा छोटे भू-स्वामियों के लिए सामान्य व्यवस्था, जैसे- सिंचाई के सामुदायिक कुँओं, सिंचाई की वैज्ञानिक योजना आदि की व्यवस्था करना था। इस योजना को लागू करने के लिए अधिकांश राज्यों में कानूनी प्रावधान किए गए हैं। लेकिन अभी भी पूर्ण रूप से इसको समाप्त नहीं किया जा सकता है। कहीं ना कहीं गुप्त रूप से ऐसी प्रथा का प्रचलन जारी है। इसलिए यह आवश्यक है कि समय-समय पर भूमि सुधार संबंधी कार्यान्वियन के लिए एक नई संस्था का निर्माण किया जाए जिसका संचालन इस कार्य के लिए प्रेरित प्रशासक द्वारा की जाय।

3.2.6 सामुदायिक विकास का कार्यक्रम

अक्टूबर, 1952 में सामुदायिक विकास और प्रसार कार्यक्रम का शुभारंभ हुआ। इस योजना को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सहायता से स्वतंत्र भारत में लागू किया गया। वास्तव में भारत में विकास प्रशासन की नींव यहीं से रखी गई। भारत सरकार ने ग्रामीण पुनर्निर्माण की योजना अपने हाथों में ले ली। इसी क्रम में 2 अक्टूबर, 1952 को देश में 55 सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया गया।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. ग्रामीण समुदाय का सर्वांगीण विकास करना।
2. ग्रामीण और व्यक्ति में सामुदायिक भावना का प्रचार एवं प्रसार करना।
3. स्थानीय नेतृत्व और स्वशासी संस्थाओं को विकसित करना जिससे वे ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्य में सहायता कर सकें।
4. खाद्यानों और कृषि उत्पादन की पद्धतियों में विकास करना।
5. ग्रामीण लोगों में जीवन के प्रति व्यवहारपरक परिवर्तन लाना।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण करना है। सामुदायिक विकास परियोजनाएँ स्वयं गाँव वालों के प्रयत्नों से और सरकार की सहायता से गाँवों का समग्र विकास करने का उद्देश्य लेकर सरकार के निर्देश में गाँव के लोगों द्वारा ही संचालित की जाती है।

उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो कार्यकलाप हैं उनकी लंबी सूची है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत किये जाने वाले कार्यकलाप निम्नलिखित हैं- कृषि तथा समवर्गी क्षेत्र, संचार-साधन, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, प्रशिक्षण, समाज कल्याण आदि

सामुदायिक विकास कार्यक्रम की प्रबंध व्यवस्था चरणवार 5 स्तरों पर लागू किया गया- राष्ट्रीय, राज्य, जिला, खण्ड (ब्लॉक) तथा ग्राम स्तर।

1. केन्द्र (राष्ट्रीय) स्तर पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम का उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार के ग्रामीण पुनर्निर्माण मंत्रालय के पास है।
2. राज्य स्तर पर इस कार्यक्रम के संचालन के लिए विकास समितियाँ बनाई गई हैं। इन समितियों के अध्यक्ष मुख्यमंत्री होते हैं तथा विकास विभागों के मंत्री एवं विकास आयुक्त (सचिव के रूप में) कार्य करते हैं।
3. जिला स्तर पर जिला परिषदें इस कार्यक्रम का संचालन करती हैं। इन परिषदों में जनता के प्रतिनिधि, खण्ड पंचायत समितियों के अध्यक्ष, संसद और विधानसभा के सदस्य, सदस्य के रूप में कार्य करते हैं।
4. खण्ड (ब्लॉक) स्तर पर खण्ड पंचायत समिति कार्यक्रम के क्रियान्वयन की देखभाल करती है। इसके अन्तर्गत निर्वाचित सरपंच तथा महिलाओं, पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों के सदस्य होते हैं।
5. ग्राम स्तर पर यह कार्य ग्राम पंचायत के नियंत्रण में चलाया जाता है। ग्राम सेवक या सेविका बहुउद्देशीय विस्तार कर्मचारी के रूप में कार्य करते हैं। एक ग्राम सेवक/सेविका के अधीन दस गाँव होते हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार के द्वारा कार्यक्रम के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में तकनीकी सहायता कार्यक्रम' के अन्तर्गत निधि (Fund) तथा तकनीकी सहायता के रूप में बहुत बड़ा योगदान किया।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार, ''सामुदायिक विकास योजना एक प्रक्रिया है जो सम्पूर्ण समुदाय के लिए, उसके पूर्ण सहयोग के लिए आर्थिक और सामाजिक विकास की परिस्थितियों को उत्पन्न करती है और जो पूर्ण रूप से समुदाय की प्रेरणा पर निर्भर करती हैं।''

3.4 भारत में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण

स्वतंत्र भारत में सामुदायिक परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा के मूल्यांकन के लिए एक समिति का निर्माण सन् 1957 में किया गया। इस समिति के अध्यक्ष बलवंत राय मेहता थे, इसलिए सामान्य तौर पर यह बलवंत राय मेहता समिति के नाम से प्रसिद्ध है। बलवंत राय मेहता समिति ने सन् 1958 के प्रारम्भ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसका सार बिंदु निम्नलिखित हैं-

1. सर्वप्रथम लोकतांत्रिक संस्थाओं का विकेन्द्रीकरण किया जाए, जिससे निर्णय लेने के वक्त केन्द्र जनता के अधिक निकट हो तथा जनता की पूर्ण भागीदारी इनमें हो सके। जिसके लिए त्रिस्तरीय पंचायत की स्थापना की सिफारिश की गई।
2. नौकरशाही (सरकारी अधिकारी एवं कर्मचारी) जनता के नियंत्रण में कार्य करें, इसकी भी सिफारिश की गई। अतः लोकतांत्रिक सत्ता व शक्ति के ढाँचे को जन-जन तक पहुँचाने का एक ही मार्ग है, पंचायती राज व्यवस्था। शक्ति का विकेन्द्रीरण इसी व्यवस्था में संभव है। महात्मा गाँधी जी पंचायती व्यवस्था को 'लोकतांत्रिक व्यवस्था की जड़' कहते थे। गांधी जी के अलावा सर्वोदय नेता लोकनायक जयप्रकाश नारायण का कहना था कि जब तक सत्ता का विकेन्द्रीकरण नहीं होता है, लोकतंत्र फल-फूल नहीं सकता। पंचायती राज प्रणाली का शुभारम्भ सन् 1959 में किया गया। सर्वप्रथम 2 अक्टूबर, 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में इसका उद्-घाटन प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा किया गया। इसके पश्चात 11 अक्टूबर, 1959 को आन्ध्र प्रदेश में त्रि-स्तरीय पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना की गई। सन् 1960 में आसाम, तामिलनाडु तथा कर्नाटक एवं सन् 1962 में महाराष्ट्र, सन् 1963 में गुजरात तथा सन् 1964 में पश्चिम बंगाल की राज्य सरकारों ने इस व्यवस्था को लागू किया।

जिसके निम्नलिखित उद्देश्य थे- विकेन्द्रीकरण , विकास प्रशासन में भागीदारी, निचले स्तर से योजना बनाना, कृषि उत्पादन तथा उत्पादकता में वृद्धि लाना, करों को लाभ के साथ जोड़ना, विकास प्रक्रिया में कमजोर, वंचित तथा

निर्धन वर्ग के लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करना, तथा निहित स्वार्थो का त्याग कर वास्तविक रूप से लोगों को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के कार्य में लगाना।

इसके अलावा तृतीय पंचवर्षीय योजना में वर्णित कुछ अन्य उद्देश्य जैसे-ग्रामीण उद्योगों का विकास, प्राधिकार को क्रमिक रूप से एक-दूसरे को सौंपना और ऐच्छिक संगठन की भूमिका पर जोर देना तथा सहकारी संस्थाओं को प्रोत्साहित करना।

बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों के आधार पर स्थापित पंचायती राज व्यवस्था जिस उद्देश्य के साथ शुरू की गई थी, वह उतनी सफल नहीं हो सकी थी, जितना अनुमान लगाया गया था। इन्हीं कमियों और खामियों को दूर करने तथा इसे मजबूत बनाने के लिए केन्द्र सरकार ने 1977 में एक समिति का गठन किया, जिसे अशोक मेहता समिति के नाम से जाना जाता है। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् 1978 में प्रस्तुत की जिसकी महत्वपूर्ण सिफारिशें निम्नलिखित हैं-

1. त्रि-स्तरीय पंचायती राज के ढाँचे के स्थान पर द्वि-स्तरीय ढाँचा कर दिया जाए। पहला जिला स्तर पर जिला परिषदें तथा दूसरा मण्डल स्तर पर मण्डल पंचायतें।
2. जिला स्तर के नीचे मंडल पंचायत का गठन किया जाए, जिसमें 10-15 गाँव या उसकी जनसंख्या 15 हजार या 20 हजार तक की हो।
3. पंचायती राज संस्थाओं को ‘अनिवार्य कराधान शक्तियां’ प्रदान की जानी चाहिए।
4. पंचायती राज प्रणाली को सांविधानिक दर्जा दिया जाना चाहिए।
5. राजनीतिक दलों का पंचायती राज निकायों के चुनावों में खुली भागीदारी हो।
6. मंडल अध्यक्ष का चुनाव प्रत्यक्ष तथा जिला परिषद अध्यक्ष का चुनाव अप्रत्यक्ष होना चाहिए।
7. विकास योजनाओं को जिला परिषद द्वारा तैयार किया जाए तथा उनका क्रियान्वयन मंडल पंचायत द्वारा किया जाए।
8. पंचायती राज निकायों का चुनाव, राज्य के मुख्य निर्वाचन अधिकारी द्वारा मुख्य चुनाव आयुक्त के परामर्श से सम्पन्न किया जाना चाहिए।
9. प्रत्येक जिला परिषद में सामाजिक न्याय समिति बनाना चाहिए।
10. यदि किसी कारणवश पंचायती राज संस्थाओं का अधिक्रमण होना अपरिहार्य हो जाए तो उनका चुनाव, अधिक्रमण होने की तारीख से 6 महीने के भीतर कराया जाना चाहिए।

अशोक मेहता समिति द्वारा सुझाए गए सुझाव एवं सिफारिशें भी उतना शानदार परिणाम नहीं दें सकी जितनी उम्मीद की गई थी। सन् 1979 में मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में अशोक मेहता समिति के सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया गया तथा मौजूदा त्रि-स्तरीय पंचायत व्यवस्था को ही कायम रखने पर बल दिया गया और अंततः उसे ही मान लिया गया

3.5 भारत में विकास एवं विकास प्रशासन के लिए अपनाए गए दृष्टिकोण/उपागम

भारत में विकास को तीव्र गति प्रदान करने के लिए विभिन्न विकास उपागम को अपनाया गया। पहला उपागम की विशेषता यह थी कि इसे विशेषकर ग्रामीण विकास के लिए क्षेत्रीय स्तर पर लागू किया गया। क्षेत्र विकास उपागम का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण गरीबी का उन्मूलन करना था। इसके लिए अनेक क्षेत्र आधारित विकास कार्यक्रम’ जैसे-गहन कृषि जिला कार्यक्रम, अधिगृहीत क्षेत्र विकास कार्यक्रम, सूखा पीड़ित कार्यक्रम एवं बंजर विकास कार्यक्रम बनाए गए तथा उनका कार्यान्वयन किया गया। इन क्षेत्रों में गरीबी और बेरोजगारी सबसे अधिक पाई जाती है। अतः विकास की समुचित तकनीकी का उपयोग करके उनका विकास करना आवश्यक था। जिसके अन्तर्गत-मत्स्यपालन, वानिकी, सिंचाई, कृषि, उद्यान, वन रोपण, तालाब निर्माण, जल संरक्षण तथा कृषि विकास, उद्यान

कृषि विकास एवं पशुपालन विकास आदि शामिल हैं। एक अन्य उपागम जिसे लक्ष्य केन्द्रित समूह उपागम के नाम से जाना जाता है। अर्थात इसके अन्तर्गत वैसे लोगों या समूहों को लक्ष्य में रखा जाता है, जिन्हें कार्यक्रम का फायदा मिलना चाहिए। ग्रामीण मानव शक्ति कार्यक्रम के जरिए ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत महिलाओं, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को प्राथमिकता प्रदान करना था। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों के पोषण-स्तर में सुधार लाने तथा उनके दर्जे में भी सुधार लाने हेतु 'ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों के विकास' की योजना सन् 1982 में कार्यान्वित की गई जिसका मुख्य उद्देश्य महिलाओं को सबल बनाना तथा कार्य करने वाली महिलाओं के बच्चों के लिए सुरक्षा, स्वास्थ्य सुरक्षा तथा नर्सिंग जैसी 'शिशु देखभाल सुविधाओं' की व्यवस्था किया जाना भी शामिल था।

न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति कार्यक्रम उपागम के अन्तर्गत यह महसूस किया गया कि मानव का आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास भी महत्वपूर्ण है। इस उपागम का मुख्य उद्देश्य मानव जाति में निवेश किए जाने पर केन्द्रित है। जैसे- मानव के जीवन स्तर को ऊपर उठाना तथा समानता लाना, 'न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति के उपाय' के अन्तर्गत भोजन, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वच्छता, पीने के लिए शुद्ध जल तथा सड़क निर्माण आदि बुनियादी आवश्यकताओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया। इसमें प्राथमिकता वाले क्षेत्र को ध्यान में रखा गया, जिसमें ग्रामीण आवश्यकताओं को पूरा करने पर जोर दिया गया। 'न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति कार्यक्रम' के अन्तर्गत दूसरा महत्वपूर्ण कार्यक्रम, 'पोषण कार्यक्रम' है। विकास के लिए एक और महत्वपूर्ण उपागम जिसे 'लोक केन्द्रित उपागम' के नाम से जाना जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि ये व्यक्ति को विकास प्रक्रिया का एक सक्रिय भागीदार बनाए जाने पर बल देता है। ये यह मानता है कि व्यक्ति को सिर्फ विकास की विषय वस्तु के रूप में ना देखा जाए। इस उपागम के अंतर्गत मानव का विकास, समता, मानव कल्याण, जन-भागीदारी और आत्मनिर्भरता को मुख्य तत्व के रूप में माना गया है। इन सभी के अलावा गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) आदि की भागीदारी भी भारत में विकास प्रशासन का एक महत्वपूर्ण अंग बनती जा रही है, जो राष्ट्र निर्माण एवं विकास में सहायक सिद्ध हो रहा है।

3.6 भारत में प्रशासनिक विकास के विभिन्न चरण

प्रशासन के द्वारा किए जाने वाले विकासात्मक कार्य 'विकास प्रशासन' की श्रेणी में आते हैं। विकास प्रशासन का यह गुण है कि वह बदलती हुई परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है। अतः विकास लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु 'प्रशासनिक विकास' अर्थात प्रशासनिक प्रणाली में सुधार, प्रशासनिक प्रक्रिया में नवीनीकरण एवं आधुनिकीकरण, प्रशासकों के आचरण तथा मनोवृत्ति में वास्तविक बदलाव, लोगों की समस्याओं का सहानुभूतिपूर्ण समाधान, विज्ञान व तकनीकी को अपनाना आदि ताकि प्रशासनिक कुशलता में वृद्धि हो सके, जिससे देश का विकास और जनता का अधिकतम कल्याण हो। टी0एन0 चतुर्वेदी के अनुसार, ''प्रशासनिक विकास का अर्थ है प्रशासन को उत्तोरत्तर, सुचारू और क्रियाशील बनाना तथा प्रशासनिक दक्षता और क्षमताओं को उत्तरोत्तर विकसित करना। इस विचार में यह भाव अन्तर्निहित है कि प्रशासन के परम्परागत रुप में जो कमियाँ या रिक्तता है उसे दूर करके प्रशासन को नवीन, परिवर्तित एवं विकासशील परिस्थितियों के अनुरूप बनाना।''

भारत में प्रशासनिक विकास के लिए समय-समय पर अनेक सुझाव समितियाँ और आयोगों की नियुक्त की गई। इनमें से सुप्रसिद्ध थी एन0 गोपाल स्वामी आयंगकर समिति (1949), सन् 1950 में स्थापित 'योजना आयोग', गोरवाला समिति (1951)। सन् 1953 व 1956 में पॉल एपिलबी द्वारा दो रिर्पोटें भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत की गई जिनमें भर्ती की सुव्यवस्थित प्रक्रिया तथा प्रशिक्षण आदि के बारे में महत्वपूर्ण सिफारिशें की गई थीं।

सन् 1954 में ही अशोक चंद ने प्रशासनिक कार्यों में देरी (विलम्ब) को समाप्त करने की सिफारिश की थी। इसी क्रम में सन् 1962 में सन्थानम समिति गठित की गई जिसे 'भ्रष्टाचार उन्मूलन समिति' भी कहा गया। इन सब को ध्यान में रखते हुए पॉल एपिलबी के सुझावों के आधार पर 'भारतीय लोक प्रशासन संस्थान' की स्थापना नई दिल्ली में की गई। सन् 1966 -70 में प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया गया। इसके अध्यक्ष के0 हनुमंथैया थे। प्रशासनिक सुधार आयोग ने लगभग 581 सिफारिशें प्रस्तुत कीं, जिसमें से भारत सरकार ने लगभग 80 प्रतिशत सिफारिशें मान ली। इसी आधार पर 1979-80 में प्रशासनिक क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर परिवर्तन व सुधार किए गए। सन् 1980 में 'फजल समिति' नियुक्त की गई। तत्पश्चात 'झा समिति' की स्थापना हुई। इन समितियों की सिफारिशों के आधार पर 1985 में कार्मिक, सार्वजनिक समस्याएँ तथा पेंशन का मंत्रालय स्थापित हुआ। अगस्त 1991 में डॉ0 चेलैया के नेतृत्व में 'कर समिति' गठित की गई। जिसने कर सुधार संबंधी अपनी सिफारिशें 1992 में प्रस्तुत की। इसी क्रम को आगे बढाते हुए और सन् 2005 में द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने स्थानीय प्रशासन, सार्वजनिक व्यवस्था, कार्मिक प्रशासन, आतंकवाद का मुकाबला, प्रशासनिक संगठन की संरचना, राज्य व जिला प्रशासन तथा ई0 गवर्नेंस आदि विषयों पर अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की। लेकिन इनमें से सबसे महत्वपूर्ण संस्तुति 'सूचना के अधिकार से संबंधित रही।

वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता में हुई द्वितीय प्रशासनिक आयोग ने कुल 15 रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें अंतिम रिपोर्ट 2009 में प्रस्तुत की गई। सरकार के आयोग के अधिकतर सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। आयोग द्वारा सिविल सेवा परीक्षा के संबंध में भी महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए गए। इन सभी सुझावों को सरकार द्वारा क्रमशः सन् 2011 तथा सन् 2013 में लागू कर दिया गया।

इसी प्रकार समय-समय पर प्रशासनिक सुधार आयोग प्रशासनिक क्षमता को विकसित करने के सुझाव सरकार को देते रहते हैं। उपरोक्त कारणों से यह स्पष्ट होता है कि प्रशासनिक विकास का महत्व भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाएगा।

निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जाता जा सकता है कि विकास प्रशासन के लक्ष्यों की प्राप्ति को और अधिक कारगर बनाने के लिए भारत जैसे विकासशील देश में प्रशासनिक विकास के महत्व को समझना अतिआवश्यक है।

अभ्यास प्रश्न-

1. योजना आयोग के संगठनात्मक ढाँचे की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. योजना आयोग के कम से कम चार कार्यों का उल्लेख करें।
3. भूमि सुधार के कम से कम चार उपायों को बताएँ।

3.7 सारांश

इस इकाई में हमने विकास प्रशासन के क्रमिक विकास के साथ-साथ विकास से संबंधित महत्वपूर्ण उपागमों के बारे में जाना। इसमें योजना आयोग तथा विकास के लिए बनाए गए विभिन्न आयोगों जैसे कि प्रशासनिक सुधार आयोग एवं समितियों का अध्ययन किया। इसके अलावा भारत में प्रशासनिक विकास के विभिन्न चरणों का अध्ययन किया तथा विकास प्रशासन को सफल बनाने के लिए प्रशासनिक विकास के महत्व को समझा।

3.8 शब्दावली

संवृद्धि- वृद्धि होना या बढ़ना, कृषक- खेती या भूमि की जुताई करने वाला, काश्तकारी सुधार- यह भूमि सुधार कार्यक्रम का एक अंग है, इसमें संस्थागत उपाय शामिल किए गए हैं। जो कि किसानों की काश्तकारी सुरक्षा के लिए बनाए जाते हैं, अधिकतम भूमि सीमा- भूमि जोत के आकार पर प्रतिबंध लगाना।

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. योजना आयोग के संगठनात्मक ढाँचे की विशेषता को 3.2 में विस्तृत रूप से बताया गया है कृपया ध्यान दें। 2. योजना आयोग के कार्यों का पूर्ण विवरण 3.2 में दिया गया है कृपया ध्यान दें। **3.** भूमि सुधार के उपायों का वर्णन 3.3 में दिया गया है कृपया ध्यान दें।

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विकास प्रशासन- आनंद प्रकाश अवस्थी।
2. लोक प्रशासन के तत्व- डॉ0 एस0 सी0 सिंघल।
3. प्रशासन एवं लोकनीति अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त- डॉ0 रश्मि शर्मा।
4. ग्रामीण समाजशास्त्र- डॉ0 वी0एन0 सिंह एवं डॉ0 जनमेजय सिंह।
5. विकास प्रशासन- (ई0पी0ए0-3, इकाई 4, इग्नू)
6. तुलनात्मक लोक प्रशासन- टी0एन0 चतुर्वेदी।
7. लोक प्रशासन- नए क्षितिज, इंद्रजीत कौर।

3.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. विकास प्रशासन- (ई0पी0ए0-3, इकाई 4, इग्नू)
2. Development Administration : Concepts, Goals, Methods, George F. Gant.
3. Rural Development : Putting the Last First , Robert Chambers.
4. भारत में स्थानीय शासन, एस0आर0 माहेश्वरी।
5. प्रशासन एवं लोकनीति- मनोज सिन्हा।

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत में प्रशासनिक विकास के विभिन्न चरणों की व्याख्या कीजिए।
2. भारत में विकास प्रशासन की संवृद्धि की विस्तृत चर्चा करें।

इकाई- 4 स्वतंत्रता के समय भारत की सामाजिक आर्थिक स्थिति और अर्थवयवस्था की रूपरेखा

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 ब्रिटिश शासन काल में भारत की सामाजिक आर्थिक स्थिति
4.3 भारतीय अर्थव्यवस्था की रूपरेखा
4.3.1 जनसंख्या तथा श्रम शक्ति
4.3.2 व्यवसायिक ढ़ाँचा
4.3.3 राष्ट्रीय आय अथवा माल और सेवाओं का प्रवाह
4.3.4 कृषि
4.3.5 उद्योग
4.3.6 विदेशी व्यापार
4.3.7 शिक्षा
4.3.8 स्वास्थ्य
4.3.9 कर
4.3.10 अनुसूचित जातियां/अनुसूचित जनजातियां
4.4 अल्प विकास की औपनिवेशिक वसीयत
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.10 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

निर्धारित समयावधि में किसी भी अर्थव्यवस्था के विकास की गति और सीमा इसके प्रारम्भिक संसाधन आधार पर निर्भर करती है। विकास की कोई भी योजना देश की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की प्रकृति पर आधारित होती है। इन परिस्थितियों को समझे बिना कोई भी व्यक्ति समस्याओं की गंभीरता उनका आकार और उनकी जटिलता, उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके समाधान का मार्ग निर्धारित नहीं कर सकता है। भारत में हमें विविध प्रकार की परिस्थितियां देखने को मिलती हैं और इसलिए इनको समझने का महत्व और अधिक हो जाता हैं स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था और भारतीय समाज की स्थिति जानकर ही स्वतंत्रता के उपरान्त (पश्चात) की अवधि में हुए विकास और परिवर्तनों की तुलना की जा सकती हैं।

यद्यपि ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था में राज्य की प्रभावशाली भूमिका रही, तथापि देश के विकास तथा किसी संरचनात्मक परिवर्तन के प्रति इसका कोई योगदान नहीं रहा। औपनिवेशिक भारत में राज्य (सरकार) के हस्तक्षेप की प्रकृति क्या थी? क्या ऐसे हस्तक्षेप से जनकल्याण होता था? स्वतंत्रता मिलने के समय भारत की सामाजिक और आर्थिक रूपरेखा क्या थी? राज्य (सरकार) ने विकास प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी का

कार्य अपने हाथ में क्यों लिया? इसी तरह से प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर अपेक्षित हैं। स्वतंत्र भारत की सरकार को राज्य संरचना के अधिकांश घटक (कानून, नौकरशाही, नीतियां और योजनाएं, नियम और विनियम, प्रशासकीय संस्कृति आदि) ब्रिटिश सरकार से वसीयत में मिले थे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- ब्रिटिश शासन के दौरान भारत की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की विवेचना कर पायेंगे।
- स्वतंत्रता के समय जनसंख्या, श्रमशक्ति, राष्ट्रीय आय, व्यावसायिक संरचना, कृषि उद्योग तथा निवेश, व्यापार के विशिष्ट सन्दर्भ में भारत की गतिहीन अर्थव्यवस्था की समीक्षा कर पायेंगे।
- औपनिवेषिक विरासत की प्रकृति को समझ पायेंगे।

4.2 ब्रिटिश शासन काल में भारत की सामाजिक और आर्थिक स्थिति

18वीं शताब्दी के मध्य से 20वीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रजी सरकार ने शासन किया। सारे विश्व में यह समय असाधारण और विस्मयकारी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति का समय था। इस अवधि में यूरोप, उत्तरी अमेरिका और जापान ने तेजी से सामाजिक और आर्थिक विकास हुआ। इन देशों ने सारे विश्व पर आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया। 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत का प्रत्येक ग्राम सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया आत्मनिर्भर था।

19वीं शताब्दी के मध्यकाल में अंग्रेजों की नीतियों के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों जैसे कृषि, व्यापार, परिवहन आदि में जो परिवर्तन हुए उन्हें 'आर्थिक संक्रान्ति' कहकर पुकारा गया है। भारत के लिए यह समय भयंकर आर्थिक और सामाजिक संकट का समय था। अंग्रेजों का भारत आगमन भारत की आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। यह विदेशी शासन का ही अवश्यम्भावी प्रतिफल था कि भारत आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी प्रगति में पीछे रह गया। सबसे ज्यादा प्रभावित भारत के ग्रामीण उद्योग, कृषि व हस्तशिल्प सम्बन्धी अर्थव्यवस्था एवं व्यापार थे।

भारतीय बाजार में सस्ते मूल्य पर मशीनों द्वारा निर्मित ब्रिटिश तथा गैर-ब्रिटिश वस्तुओं का आना ग्रामीण हस्तकला उद्योग के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। सस्ती एनिलीन डाइपों के निर्यात का ग्रामीण रंगरेजों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। बाजार में धातु के बर्तन आ जाने से ग्रामीण कुम्हारों की दशा भी बदतर हो गयी। ग्रामीण बढई, लुहार भी बाजार से बाहर हो गये, क्योंकि लोहे के हल व अन्य वैज्ञानिक औजार अधिक प्रयोग में आने लगे। तांबे व पीतल के बर्तनों का प्रयोग बढने से कुम्हार को हानि उठानी पड़ी। इसी प्रकार गांव के चर्मकारों व अन्य कारीगरों की स्थिति पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा और उन्हें अपना काम-धन्धा छोड़कर नगरों की तरफ जाना पड़ा। भारत में आधुनिक उद्योगों की विकास में मुख्यतः अंग्रेजी पूंजी की प्रभुता थी। यद्यपि पर्याप्त बचत के संचयन से कुछ आधुनिक उद्योगों का स्वामित्व भारतीय व्यापारी वर्ग के हाथों में था, फिर भी भारतीय स्वामित्व के आधुनिक उद्योग अंग्रेजी स्वामित्व उद्योगों की तुलना में नगण्य थे। इस अवधि में नील चाय, काफी, रेशम जैसे उद्योग तथा जूट मिल और कोयला खदानों जैसे उद्योग विकसित हुए। इंजिनियरिंग तथा रेलवे कार्यशालाएं, लोहे तथा पीतल के ढलाई घर इस अवधि में तेजी से बढे। परन्तु देश में आधारभूत भारी उद्योग वस्तुतः नहीं थे। जहाज उद्योग, हवाई जहाज उद्योग आदि में कहे जाने योग्य कोई भी प्रगति नहीं हुई। बैंकिंग और बीमा के क्षेत्र में प्रगति अवश्य हुई, पर ये भी अधिकाशंतः अंग्रेजों के नियंत्रण में ही थे। बैंकिंग, उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में भारतीय आर्थिक विकास का एक अनोखा लक्षण यह था कि अधिकांश उद्यम कुछ ही लोगों के हाथों में केन्द्रित थे, जिसके फलस्वरूप

एकाधिपत्य की तथा न्यासों की स्थापना हुई। उद्योग, परिवहन तथा वित्तीय क्षेत्रों के न्यासों का लगभग सभी प्रकार के आर्थिक उद्यमों पर नियंत्रण था। आरम्भ में, रेलवे का स्वामित्व एवं प्रबन्ध निजी कम्पनियों के अधीन था, जिनके मालिक अंग्रेज व्यापारी थे। सरकार ने इन्हें मुफ्त भूमि, पूंजी पर निम्नतम प्रत्याय (Minimum Return) के आश्वासन आदि के रूप में कुछ रियायतें दी। रेलों पर निजी कम्पनियों के स्वामित्व एवं प्रबन्ध की कुछ आलोचना और शिकायतें की गई। सन् 1925 में भारत सरकार ने पहली रेलवे कम्पनी अपने स्वामित्वाधीन की। धीरे-धीरे अन्य कम्पनियां भी सरकार के अधीन लाई गई। सन् 1944 तक सभी निजी कम्पनियों को हटाकर रेलों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध सरकार के अधीन हो गया।

ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय हस्तशिल्प लगभग तबाह हो गये थे। हमारे हस्तशिल्प अंग्रेजी माल तथा औपनिवेशिक शासन की शोषक नीतियों के शिकार हो गये। भारतीय माल पर भारी कर आरोपित किए गए। कारीगर अपना उत्पादित माल भारतीय तथा विदेशी व्यापारियों को बेच पाने में असमर्थ थे। अंग्रेजों ने भारतीय हस्तशिल्प के आन्तरिक व्यापार को भी समाप्त कर दिया। देशी राज्य और रजवाड़े हमारे हस्तशिल्प के न केवल बड़े ग्राहक थे, बल्कि हस्तशिल्प कारीगरों को प्रक्षय भी देते थे। परन्तु शिक्षित व धनी भारतीय अंग्रेजों की नकल करने लगे और देशी वस्तुओं की बजाय विदेशी वस्तुएं पसन्द करने लगे। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसे समय में यूरोपीय अफसरों व पर्यटकों ने कुछ हद तक भारतीय माल की मांग बनाये रखी। लेकिन यूरोपीय रूचि के अनुकूल माल बनाने के रिवाज से उत्पादन के स्तरों में गिरावट आयी और भारतीय माल के परम्परागत उच्च स्तर उत्तरोत्तर घटते गये।

औपनिवेशक शासन के अधीन भारतीय अर्थव्यवस्था के सबसे भयावह और विनाशकारी लक्षणों में से एक था, कृषि सम्बन्धी ढांचे और सम्बन्धों में परिवर्तन। भूमि का निजी स्वामित्व लागू करने से पारिवारिक भूमि का विभाजन होने लगा और यह विभाजन संयुक्त परिवार प्रथा के विघटन का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। अंग्रेजों ने कृषि में विशिष्टीकरण तथा व्यापारीकरण भी चालू कर दिया। कृषि उत्पादन बाजारों में बिकने लगा तथा बिक्री के उद्देश्य से विशिष्ट फसलें पैदा की जाने लगी। नई भू-राजस्व व्यवस्था लागू की गई जिससे करारोपण की इकाई के रूप में गांव का महत्व समाप्त हो गया। नई भू-राजस्व व्यवस्था अत्यधिक लगान, कम पैदावार आदि से किसान साहूकारों से रूपया और बीज उधार लेने के लिए विवश हो गये। इससे ऋण ग्रस्तता का कुचक्र चला तथा लगभग प्रत्येक किसान इस कुचक्र का शिकार हो गया। भूमि पर भारी कर चुकाने, मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा पूर्ण ऋण पर ब्याज चुकाने में किसानों के पास से भूमि साहूकारों के हाथों में चली गई और साहूकार भूमि को पट्टेदारी तथा शिकमी पट्टे पर देने लगे। इस प्रकार भूमि के पट्टेदार तथा शिकमी काश्तकारों और गैर खेतीहर भूस्वामियों के नए वर्गों का उदय हुआ, जिन्हें भूमि में कभी भी कोई अभिरूचि नहीं रही। इसके साथ भूमि का अत्यधिक विभाजन और जोत के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाने से कृषि उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

इस अवधि में कृषि पर बहुत दबाव पड़ा। हस्तशिल्प और ग्रामीण उद्योगों के नष्ट हो जाने से कारीगरों ने भी खेती को अपनी जीविका का साधन बनाया जिसके परिणामस्वरूप भूमि पर अत्यधिक भार बढ गया। यहाँ तक कि खेती के लिए पशुओं के चारागाहों की भूमि पर अतिक्रमण बढता गया। इस प्रकार कृषि की एक ऐसी अत्यधिक अन्यायपूर्ण और अनुचित व्यवस्था बन गयी, जिसमें जमींदारों तथा भूस्वामियों का उच्च वर्ग किसानों के श्रम और पसीने की कमाई पर जीवनयापन करने लगा। इस स्थिति के साथ अनिश्चित वर्षा पर आश्रित घटते-बढते कृषि उत्पादन से किसान बड़ी आसानी से स्वार्थ साधन वस्तुओं तथा बाजार के व्यापारिक कार्यकलापों के शिकार हो गये।

इस प्रकार अंग्रेजी राज भारत के योजनाबद्ध शोषण की दुःखद पीड़ा है। अंग्रेजी शासन से यदि कोई लाभ भी हुआ तो वह केवल प्रासंगिक था। अंग्रेजी नीतियों और विकास कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य उनके अपने देश के हितों की पूर्ति करना था। अतएव सन् 1947 में जब अंग्रेजों ने भारत की सत्ता हस्तान्तरित की तो हमें एक अपंग

अर्थव्यवस्था विरासत में मिली। पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक भारत की खोज' में लिखा है, ''भारत एक औद्योगिक पूंजीवादी शासन के अधीन था, परन्तु उसकी अर्थव्यवस्था के भी कई सम्पत्ति उत्पादक तत्व नदारद थे। यह आधुनिक औद्योगिक पूंजीवाद का एक ऐसा निष्क्रिय एजेन्ट बन गया जो उसके किसी भी लाभ को पाए बिना उसकी सभी बुराईयों से पीडित रहा।'' दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'Poverty and Un-British Rule in India' रोमेशचन्द्र दत्त ने 'The Economic History of India' तथा लाजपतराय ने 'England's Debt to India' में भारतीय अर्थव्यवस्था को विनाश की ओर ले जाने वाली ब्रिटिश नीतियों व उनके परिणामों को बताया है।

4.3 भारतीय अर्थव्यवस्था की रूपरेखा

समाज को अधिक सामग्री और सेवाएं उत्पादित करने के लिए सरकार, कानून, नीतियों, सामान्य सुविधाओं और संस्थागत वातावरण के एक ऐसे ढांचे की आवश्यकता होती हैं जो काम को उद्यम और नवीनीकरण को प्रोत्साहित तथा पुरस्कृत करें। ऐसे ही ढांचे से जनसाधारण विकास का माध्यम तथा लक्ष्य बन पाता हैं। ब्रिटिश राज इस प्रकार की विकास प्रेरक व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत था। अधिकांश व्यक्तियों ने भारत के आर्थिक पिछड़ेपन के लिए ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति को ही जिम्मेदार ठहराया हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व लगभग 150 वर्ष तक भारत में आर्थिक स्थिरता रही अर्थात् भारत का आर्थिक शोषण किया जा रहा था। अंग्रेजों ने भारत में आर्थिक विकास के भौतिक आधार स्थापित करने पर कभी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने भूमि पर भारी कर लगाये, जिससे कृषक वर्ग को काफी क्षति पहुँची। सिंचाई के सम्बन्ध में उत्साहवर्धक नीति के अभाव में कृषि का विकास नहीं हो सका। सिंचाई के पुराने साधनों को नष्ट होने से नहीं बचाया गया। यहाँ के पुराने घरेलू उद्योगों को नष्ट कर दिया और उसके स्थान पर आधुनिक ढंग के कारखानों का विकास नहीं किया। इस खण्ड में हम भारतीय अर्थव्यवस्था की उस स्थिति की विवेचना करेंगे जो सन 1947 की स्थिति थी। यह विवेचना हम राष्ट्रीय आय, श्रमशक्ति, व्यावसायिक ढांचे, कृषि की स्थिति, भूमि, पूंजी, विदेश व्यापार, आर्थिक तथा सार्वजनिक वित्त व्यवस्था आदि के सन्दर्भ में करेगें। आजादी के बाद के तीन वर्ष अधिकांशतः अर्थव्यवस्था और प्रशासन को स्थिर रखने में लग गये, इसलिए सन् 1951 की स्थिति ही स्वतंत्रता के तुरन्त बाद की स्थिति की प्रतीक है, क्योंकि सन् 1947 से 1951 के बीच कोई ठोस परिवर्तन भी नहीं किए गए।

4.3.1 जनसंख्या तथा श्रमशक्ति

सन् 1951 की जनगणना के अनुसार हमारी जनसंख्या 36.1 करोड (Census of India 2001, Series 1, Paper 1 of 2001) थी, जिसमें 82 प्रतिशत जनसंख्या गांवो में रहती थी। इस प्रकार जनसंख्या का केवल 17 प्रतिशत शहरी आबादी था। सन् 1941-51 के दौरान जनसंख्या में 13 प्रतिशत वृद्धि हुई थी। इस अवधि में प्रति हजार जन्म दर 39.9 तथा मृत्युदर 27. 4 थी। इस प्रकार जनसंख्या की सहज वृद्धि दर 1.22 (Census of India 2001, Series 1, Paper 1 of 2001) प्रतिवर्ष थी। उत्पादन, व्यापार आदि जैसी आर्थिक क्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग लेने वाली जनसंख्या से ही श्रम-सहभागिता दर ज्ञात होती हैं वर्ष 1951 में पूरी जनसंख्या के लिए यह दर 39.18 थी। यह दर पुरूषों के लिए 53.9 तथा स्त्रियों के लिये 23.4 थी। विभिन्न कार्यकलापों में संलग्न कर्मियों की कुल संख्या 14.32 करोड़ थी। वर्ष 1901 में श्रम सहभागिता दर 46.1 प्रतिशत था। बाद के वर्षों में यह दर कम होती गयी। इसका अर्थ हुआ कि अंग्रेजी राज के अन्तिम पांच दशकों में भारतीयों के बीच पराश्रित होने का अनुपात बढा। यह आर्थिक स्थिति बिगड़ने का सूचक है।

1.3.2 व्यावसायिक ढांचा

अर्थव्यवस्था क्रियाओं अथवा व्यवसायों का एक परस्पर सम्बन्धित समुच्चय है, जिसके द्वारा लोग अपनी आजीविका अर्जित करते हैं। अतएव किसी देश की आर्थिक रूपरेखा में आबादी, विशेषकर विभिन्न व्यवसायों में शामिल श्रमशक्ति का वर्णन भी अवश्य होना चाहिये। सामान्यतया आर्थिक क्रियाओं को कृषि तथा इससे सम्बन्धित कार्यकलापों, उद्योग तथा सेवाओं जैसे मुख्य वर्गों में शामिल किया जाता हैं। इन कार्यकलापों में कुछ तो औपचारिक रूप में संगठित हैं जबकि कुछ असंगठित। अंग्रेजी राज के प्रभाव के अधीन बड़ी मात्रा में हुए कुछ अनौद्योगिकरण से प्रभावित, मूलतः ग्रामीण और कृषि आधारित अर्थव्यवस्था होने से ही कुछ क्रियाएं असंगठित हैं। अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई शोषक सामाजिक-आर्थिक तथा विदेशी व्यापार की नीतियों के फलस्वरूप हमारी श्रमशक्ति का 72.3 प्रतिशत अपनी आजीविका के लिए कृषि पर आश्रित था। इनमें से भूमिधारी कृषक 50 प्रतिशत से अधिक थे, जबकि भूमिहीन कृषि श्रमिकों का प्रतिशत 20 से कुछ कम था। (Statistical Pocket Book- India, 1989- 5) सन् 1901 में कृषि में कार्यरत श्रमशक्ति 71 प्रतिशत और सन् 1921 में यह और अधिक अर्थात 76 प्रतिशत थी। विश्व युद्ध के वर्षों में औद्योगिक क्षेत्र तथा व्यापार में कुछ वृद्धि तो हुई पर यह अधिक नहीं थी। अतएव आजादी के समय व्यावहारिक रूप से श्रमिक उसी अनुपात में कृषि पर निर्भर था, जितना शताब्दी के प्रारम्भ में था। जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती गयी कृषि पर निर्भरता और बढती गयी।

भारत की श्रमशक्ति का उपयोग करने वाले दूसरे महत्वपूर्ण व्यवसाय खान खोदना, फैक्ट्रियां तथा विभिन्न प्रकार के कुटीर, ग्रामीण और लघु उद्योग थे। कुल श्रमिकों की संख्या का 10.7 प्रतिशत भाग अर्थात 1.5 करोड़ श्रमिक इन उद्यमों और प्रतिष्ठानों में लगे हुए थे। वस्तुतः सन् 1901 में ही श्रमिकों का 12 प्रतिशत भाग उद्योगों में कार्यरत था। शेष श्रमशक्ति व्यापार, परिवहन, व्यवसायों, शासकीय सेवाएं तथा अन्य सेवाओं में लगी हुई थी। 1951 सन् में हमारी श्रमशक्ति का 17 प्रतिशत से भी अधिक भाग (6 प्रतिशत व्यापार और परिवहन, 9.3 प्रतिशत सेवाओं, 1.0 प्रतिशत तथा 0.1 प्रतिशत रेलवे तथा बैंको में कार्यरत) इन कामों में लगा हुआ पाया गया। आधारभूत उद्योगों के अभाव में अर्थव्यवस्था में तीव्र विकास के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार नहीं हो पायी। कई पिछड़े हुए देशों में वस्तुओं के कारखाने तो चालू हो गये, लेकिन इसमें प्रयुक्त होने वाली मशीनें विदेशों से आयात की गई। इससे भारत में औद्योगिक प्रगति तो हुई लेकिन जनसंख्या, देश का विस्तार व प्राकृतिक साधनों को देखते हुए वह पर्याप्त नहीं मानी जा सकती। उत्पादन में लगे हुए उद्योगों का अपेक्षाकृत कम भाग यह प्रदर्शित करता हैं कि वास्तविक रूप में हम औद्योगिकरण से दूर थे और जो भी उद्योग हमारे समक्ष थे, वे अधिक लोगों को आजीविका का स्थिर साधन प्रदान करने में असमर्थ थे। फैक्ट्रीयों में, प्रतिष्ठानों में श्रमिकों की संख्या केवल तीस लाख के लगभग थी। इसका अर्थ यह है कि उच्च उत्पादन के काम केवल बहुत ही थोड़े लोगों को उपलब्ध थे।

4.3.3 राष्ट्रीय आय अथवा माल और सेवाओं का प्रवाह

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के अध्ययन में राष्ट्रीय आय की अवधारणा का काफी महत्व होता है। यह अर्थव्यवस्था की गतिविधि व परिवर्तनों को मापने में मदद करती हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों द्वारा चालू वर्ष में माल तथा सेवाओं के उत्पादन के कुल मूल्य को, इसकी सीमाओं के बावजूद आर्थिक स्थिति का एकाकी महत्वपूर्ण सूचक माना जाता हैं। भारत जैसे देश में जहाँ कृषि सम्बन्धी और असंगठित आर्थिक क्रियाएं बडी मात्रा में हैं, राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय के आंकड़े चालू एवं स्थिर कीमतों पर एकत्र किए जाते हैं। परन्तु चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़े अर्थव्यवस्था के विकास का सही चित्र प्रस्तुत नहीं करते, तथापि उनकी प्रमुखता पर संदेह भी नहीं किया जा सकता है।

वर्ष 1950-51 में भारत की राष्ट्रीय आय उस समय की कीमतों पर 8853 करोड़ रूपये आंकलित की गई जो वर्ष 1970-71 के मूल्य स्तर पर 16798 करोड़ रूपये के बराबर होती है। इस आधार पर आजादी मिलने के समय प्रति

व्यक्ति औसत वार्षिक आय 265 रूपये थी। इसका यह अर्थ है कि उस वर्ष के मूल्यों के आधार पर औसत दैनिक आय एक रूपये से भी कम थी। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, फ्रांस और आस्ट्रेलिया में तुलनात्मक प्रति व्यक्ति आय क्रमशः रूपये 3598, रूपये 8840, रूपये 820, रूपये 3280 तथा रूपये 4340 थी। इससे यह स्पष्ट है कि अन्य देशों की तुलना में भारत का प्रति व्यक्ति उत्पादन स्तर बहुत ही नीचे था। प्रति व्यक्ति आय न केवल कम बल्कि इसमें वृद्धि भी धीमी व अनियमित गति से हो रही थी। यह न्यूनतम मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी मुश्किल से पर्याप्त थी। प्रति व्यक्ति आय के नीचे होने के कारण देश में गरीबी फैली हुई थी। देश में करोड़ों व्यक्ति गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे थे। इस अवधि में विद्यमान भारी असमानताओं को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट है कि लाखों लोगों की आय प्रति व्यक्ति आय के आंकड़ों द्वारा इंगित स्तर से भी नीचे थी।

आय की अल्पता तथा असमान स्तर और भूमि सम्बन्धी व्यवस्था बचत में, पूंजी निवेश में और उत्पादकता में वृद्धि प्रोत्साहित करने में असमर्थ थी और इसलिये बचत और पूंजी निर्माण की दर बहुत ही कम थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार निवेश हेतु उपलब्ध बचत केवल 450 करोड़ रूपये अर्थात बचत की दर 5 प्रतिशत से भी कुछ ही अधिक थी। राष्ट्रीय आय समिति के प्रतिवेदन के आंकलन के अनुसार कृषि, पशुपालन, वनारोपण तथा मत्स्य पालन का अंशदान शुद्ध घरेलू उत्पादन का 51.3 प्रतिशत था। चूंकि हमारी जनसंख्या का 70 प्रतिशत इन्हीं कार्यों पर निर्भर था इसलिये हमारे कुल उत्पादन का लगभग आधा इन्हीं के द्वारा उत्पादित किया जाता था। खादानों और उद्योगों से उत्पादन शुद्ध घरेलू उत्पादन का 16.1 प्रतिशत था। इसमें फैक्ट्री प्रतिष्ठानों का उत्पादन 5.8 प्रतिशत तथा लघु और ग्रामीण उद्योगों का उत्पादन 9.6 प्रतिशत था। व्यापार वाणिज्य परिवहन (रेलों को सम्मिलित करते हुए) संचार बैंकिग तथा बीमा का अंशदान एनडीपी (शुद्ध घरेलू उत्पादन) का 17.7 प्रतिशत था। भवन निर्माण कार्य, लोक प्रशासन तथा अन्य व्यवसायों और सेवाओं का राष्ट्रीय आय में अंशदान 15.7 प्रतिशत था। इससे यह स्पष्ट होता हैं कि उत्पादन की दृष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण सेक्टर (क्षेत्र) प्राईमरी सेक्टर था। सैकेण्डरी सेक्टर इतना सुविकसित नहीं था और इसलिये राष्ट्रीय आय अथवा शुद्ध घरेलू उत्पादन में इसका अंशदान अपेक्षाकृत कम था।

4.3.4 कृषि

देखा जाये तो व्यावसायिक ढांचे में तथा शुद्ध घरेलू उत्पादन (एनडीपी) के अंशदान के हिसाब से आर्थिक क्रियाओं का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र कृषि है, इसलिये क्रियाओं के इस समूह का निकट अवलोकन व्यावहारिक होगा। आय के अत्यधिक कम स्तर वाले देश में खाद्य-पदार्थ उपयोग की सबसे महत्वपूर्ण सामग्री हैं। कृषि की इतनी अधिक प्रधानता है कि भारतीय कार्यकारी जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग रोजगार के लिए इस पर आश्रित है। जनगणना द्वारा उपलब्ध कराये गये आंकड़ो से पता चलता है कि जहाँ सन् 1951 में कुल मुख्य श्रमिकों का लगभग 70 प्रतिशत कृषि तथा सम्बद्ध क्रियाओं में कार्यरत था, वहाँ सन् 2011 में कृषि के भाग में गिरावट हुई और यह 54.6 प्रतिशत (Various Round of NSSO Survey) हो गया। कुल रूप में कृषि द्वारा 26.3 करोड़ व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराया गया। अधिकांश गरीब लोगों के पास अपनी भोजन की आवश्यकताएं पूरी करने के बाद जीवन की अन्य आवश्यकताओं के लिये मुश्किल से कोई क्रय शक्ति शेष रह पाती है। इसका अर्थ यह हैं कि कृषि का प्रभावन न केवल कृषि कार्यों में लगे हुए लोगों पर ही पड़ता है, बल्कि साथ-साथ अन्य लोग भी इससे प्रवाहित होते हैं। आजादी के समय चाय, जूट और कपास से ही भारत की निर्यात आय का अधिक भाग प्राप्त होता था। कपडा, जूट, चीनी, खाद्य, तेल आदि जैसे आधुनिक उद्योग भी जिनका विकास इस अवधि (आजादी के समय) में हुआ, कच्चा माल से प्राप्त करते थे। सरकारी राजकोष में भी कृषि का अंशदान काफी था। इस प्रकार हमारी अर्थव्यवस्था मूलतः कृषि आधारित अर्थव्यवस्था थी। वर्ष 1950-51 में जोत के अन्तर्गत कुल क्षेत्र 3240 लाख एकड़ था। प्रति व्यक्ति जोत का क्षेत्रफल 1901 से कम होना शुरू हो गया था। वर्ष 1901 में यह

3.2 एकड़ प्रति व्यक्ति था। वर्ष 1951 तक यह घटकर केवल 2.2 एकड प्रति व्यक्ति रह गया। लगभग 355 लाख एकड भूमि पर एक से अधिक फसलें पैदा की जाती थी। शेष भूमि पर केवल एक फसल पैदा की जाती थी। फसलें उगाने वाले कुल क्षेत्र के 78 प्रतिशत पर खाद्यान पैदा किया जाता था। बागान और मसाले केवल 1.1 प्रतिशत क्षेत्र पर पैदा किये जाते थे, परन्तु इनकी फसल बहुत ही लाभदायक थी। वर्ष 1917-1947 की अवधि में एक से अधिक फसले उगाने वाले क्षेत्र में 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई और मुख्यतः नहरों के विस्तार से सिंचित क्षेत्र में 10 प्रतिशत वृद्धि हुई। वर्ष 1951 में कुल जोत भूमि का 18 प्रतिशत सिंचित क्षेत्र था। वर्ष 1949-50 के अंत तक प्रति एकड पैदावार की दर 619 पौंड प्रति एकड़ से घटकर 565 पौंड रह गई। इस अवधि में देश में खाद्य पदार्थों की कमी थी, जिससे आयात आवश्यक हो गया। वर्ष 1950-51 में खाद्यानों की वार्षिक उपलब्धता 155.2 किग्रा और दैनिक उपलब्धता 425 ग्राम थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशक राज्य में अर्थव्यवस्था भूख और दीर्घकालिक कुपोषण से ग्रस्त थी।

कृषि मजदूर जांच प्रतिवेदन सन् 1954 के अनुसार ग्रामीण परिवारों में 22 प्रतिशत से अधिक भूस्वामी थे, 27 प्रतिशत से अधिक पटटेदारी काश्तकार थे और 30 प्रतिशत से अधिक कृषि मजदूर थे (जिनमें लगभग 50 प्रतिशत भूमिहीन थे) और 22 प्रतिशत परिवार कृषि से सम्बन्धित नहीं थे। भूमि पर कई बिचौलियों के स्वार्थ निहित थे और भूमि पर वास्तविक भूमि जोतने वालों के अधिकार सीमित तथा असुरक्षित थे। सन् 1950 में कृषि मजदूर तथा उनके आश्रितों की संख्या कुल जनंसख्या की 18 प्रतिशत थी। कृषि मजदूरों में लगभग 15 प्रतिशत कृषि से जुड़े हुए थे तथा शेष अनियमित श्रमिक थे। जुड़े हुए श्रमिकों को वर्ष में औसतन 326 दिन कार्य करना पड़ता था। मजदूरी कम थी। कृषि मजदूरों में 4.6 प्रतिशत बच्चे थे और बाल मजदूरों में 77 प्रतिशत अनियमित श्रमिक थे तथा शेष कृषि से जुड़े हुए थे। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि में काम करने वाले श्रमिकों का प्रति व्यक्ति जी डी पी, गैर-कृषि व्यवसायों में काम करने वाले श्रमिकों की तुलना में केवल पांचवा भाग है और इसमें लगातार गिरावट आ रही है। कृषि और गैर-कृषि व्यवसायों में काम करने वाले श्रमिकों की तुलना में केवल पांचवां भाग है और इसमें लगातार गिरावट आ रही है।

4.3.5 उद्योग

सत्रहवीं एवं अठाहरवीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय उद्योगों की स्थिति काफी सुदृढ थी और भारतीय निर्मित माल की विदेशों में बहुत मांग थी। विदेशों से व्यापारी भारत आया करते थे और भारत को अपने माल के बदले में सोना, चांदी व बहुमूल्य पत्थर प्राप्त होते थे। लेकिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में धीरे-धीरे ऐसी नीतियां अपनायी जाने लगी, जिनसे भारतीय उद्योगों में गिरावट आने लगी। कुछ आधुनिक औद्योगिक उद्यम भारत में 19वीं शताब्दी के मध्य में शुरू किये गये। इन उद्यमों का प्रबन्ध सामान्यतया ‘मैनेजिंग एजेन्सी सिस्टम’ के अधीन था। आजादी के समय मुख्य उद्योग कपड़ा, जूट, चीनी, सीमेन्ट, कागज और हल्के इंजिनियरिंग उद्योग थे। कुल परिष्कृत स्टील उत्पादन लगभग 89 लाख टन था और स्टील का निवेश 13 लाख टन था। स्टील का प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन केवल 3 किग्रा था। अन्य औद्योगिक उपलब्धियों में लगभग 4300 करोड़ गज सूती माल, 10 लाख टन से अधिक जूट उत्पादन, 9 लाख टन से अधिक चीनी, 3 करोड़ टन कोयला और लगभग 15 लाख टन सीमेन्ट आदि सम्मिलित थे। चावल, गेहूं तथा अन्य पदार्थों का उत्पादन भी काफी अधिक था। 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हो जाने से स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। वहाँ औद्योगिक पूंजीवाद को पनपने का अवसर मिला। अब इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि भारत से कच्चे माल व खाद्यान का इंग्लैण्ड में आयात किया जाये और भारत को निर्मित माल निर्यात किया जाये। धीरे-धीरे कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार कम किया गया और भारत को ब्रिटिश औद्योगिक उपक्रम के लिए खोल दिया गया। जब भारतीय सूती व रेशमी माल ग्रेट-ब्रिटेन में भेजा जाता तो उस पर 40 से 60 प्रतिशत आयात कर लगाया जाता था, लेकिन ब्रिटिश सूती

माल पर भारत में मूल्यानुसार केवल 3.5 प्रतिशत आयात कर ही लगाया जाता था। इस प्रकार भारतीय वस्त्र उद्योग को हर संभव तरीके से हतोत्साहित किया गया।

भारतीय जहाजरानी उद्योग (Ship Building Industry) को भी इसी तरह की भेदपूर्ण नीति अपनाकर नष्ट कर दिया। भारत और इंग्लैण्ड के बीच होने वाले व्यापार में भारतीय जहाजों के उपयोग को निरूत्साहित किया गया। भारत में कच्चे लोहे की बहुतायत रही है, लेकिन अंग्रेजों ने लोहे के उत्पादन पर कोई ध्यान नहीं दिया। सन् 1923 से उद्योगों के विकास में 'विभेदात्मक संरक्षक की नीति' अपनायी गयी, लेकिन बहुत देर से एवं अपर्याप्त ढंग से अपनाये जाने के कारण यह भारतीय हितों को आगे बढाने से ज्यादा समर्थ नहीं हो सकी। इस नीति में नये उद्योगों के संरक्षण की व्यवस्था नहीं थी, इसलिये भारत में रासायनिक उद्योगों व मशीन टूल्स का विकास नहीं हो सका। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसे समय में यूरोपीय अफसरों व पर्यटकों ने कुछ हद तक भारतीय माल की मांग बनाये रखी। लेकिन यूरोपीय रूचि के अनुकूल माल बनाने के रिवाज से उत्पादन के स्तरों में गिरावट आयी और भारतीय माल के परम्परागत उच्च स्तर उत्तरोत्तर घटते गये।

1947 में भारत में 14,500 फैक्ट्रियां थी। इन प्रतिष्ठानों में लगभग 22.75 लाख व्यक्ति काम करते थे। अंश पूंजी (Share Capital) तथा अचल सम्पत्ति के सन्दर्भ में एकाधिकारी लक्षणों का सूचक उद्योगों का केन्द्रीयकरण उल्लेखनीय था। कुल अंश पूंजी का 34 प्रतिशत से अधिक तथा मूल अचल सम्पत्ति का लगभग 38 प्रतिशत और कार्पोरेट सेक्टर की सकल पूंजी का लगभग एक तिहाई भाग 20 औद्योगिक घरानों द्वारा नियंत्रित था। इसका अर्थ यह है कि औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक चरण में भी भारत में वे एकाधिकारी लक्षण दिखाई देते थे जो विकसित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के लक्षण होते हैं।

4.3.6 विदेशी व्यापार

प्राचीनकाल से ही भारत का विदेशों से व्यापार होता रहा है। भारतीय वस्त्रों, मसालों, दस्तकारी का माल, हाथीदांत व लकडी की खुदाई, बर्तन व आभूषणों का विदेशों में बड़ा आदर होता था और बदले में भारत कीमती धातु प्राप्त किया करता था। प्रथम महायुद्ध से पूर्व हमारे निर्यातों में कच्चे माल एवं आयातों में निर्मित माल की प्रधानता होती थी और व्यापार संतुलन हमारे पक्ष में रहा करता था। प्रथम महायुद्ध की अवधि में हमारे आयात व निर्यात घट गये। वर्ष 1929-1939 की अवधि में मन्दी के कारण हमारा विदेशी व्यापार कम हो गया था। सन् 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के विभाजन का विदेशी व्यापार पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। भारत को खाद्यान्न व कच्चे माल का आयात करना पड़ा। व्यापार का संतुलन भारत के विपक्ष में रहने लगा। वर्ष 1947-50 की अवधि में निर्यात का मूल्य 509 करोड़ रूपये था और यह हमारी राष्ट्रीय आय के 7 प्रतिशत से कम था। उस वर्ष में भारत के विदेशी व्यापार में 82 करोड़ रूपये का घाटा था। मुख्य निर्यात कृषि उत्पादन, खनिज पदार्थ तथा अन्य कच्चे माल का होता था। निर्यात की अन्य सामग्री चाय, जूट, कपास, चमड़ा, लौह अयस्क, तम्बाकू, मसाला, लाख, गोंद और तिलहन आदि थे। हमारे द्वारा निर्यात किये जाने वाले निर्मित माल में मुख्य कपड़ा था। हमारा आयात मशीनरी धातुएं, रसायन, डाइयां, खाद्यान्न सम्बन्धी उपकरण तथा मशीने आदि जैसे निर्मित माल का होता था। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, पाकिस्तान, मिश्र और आस्ट्रेलिया ही वे मुख्य निकास थे जिनसे हमारे आयात का प्रवर्तन होता था। इन देशों के साथ बर्मा और कनाडा हमारे निर्यात के मुख्य क्रेता थे। उस वर्ष के लिए हमारे भुगतान घाटे का कुल शेष 180-200 करोड़ रूपये की श्रेणी में था।

4.3.7 शिक्षा

सन् 1951 में भारत में साक्षरता दर बहुत कम थी। कुल साक्षरता दर 16.7 प्रतिशत थी। पुरूष आबादी का 24.9 प्रतिशत और महिला आबादी का 7.9 प्रतिशत साक्षर वर्गीकृत किया गया था। खेतिहरों में साक्षरता की दर केवल

12 प्रतिशत थी। कृषि सम्बन्धी कार्यों में लगी महिलाओं की साक्षरता दर 4.5 प्रतिशत थी। स्नातकों की कुल संख्या 11.74 लाख थी। विद्यालयों में 6-11 वर्ष की आयु समूह में केवल 40 प्रतिशत के लिये, 11-17 वर्ष के आयु समूह में 10 प्रतिशत के लिये, 17-23 वर्ष के आयु समूह में केवल 0.9 प्रतिशत के लिये नामांकन की सुविधा उपलब्ध थी। वर्ष 1948-49 में नर्सरी से विश्वविद्यालय तक की कुल शिक्षा संस्थाओं की संख्या केवल 1.82 लाख थी। (K.S. Gill EvolutIon of the Indian Economy, Ch.3)

4.3.8 स्वास्थ्य

केवल 556 हजार अस्पताल थे, जिनमें लगभग 8.3 लाख बिस्तरों की व्यवस्था थी। कुल मृत्यु संख्या की 5.1 प्रतिशत मृत्यु संक्रामक रोगों से होती थी। मलेरिया से पीड़ित लोगों की संख्या 10 करोड़ अनुमानित थी और तपेदिक से पीडित लगभग 25 लाख लोग थे और इससे लगभग 5 लाख व्यक्तियों की प्रति वर्ष मृत्यु होती थी जिनकी संभावित आयु 32 वर्ष से थोड़ी अधिक थी।

4.3.9 कर

राष्ट्रीय आय का 7 प्रतिशत भाग करों से था। करों में 17 प्रतिशत आयात शुल्क से, 28 प्रतिशत सीधे करों से और 8 प्रतिशत भू-राजस्व से प्राप्त होता था। सन् 1946-47 में कुल राष्ट्रीय ऋण 2285 करोड़ था। 1947 में भारत का विदेशी ऋण 36.52 करोड़ था।

4.3.10 अनुसूचित जातियां/अनुसूचित जनजातियां

779 अनुसूचित जाति और 245 अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या लगभग 5 करोड़ थी। ये वर्ग उत्पादन के संसाधनों, भूमि, अवसंरचनात्मक सुविधाओं, रोजगार के अवसरों, सामाजिक सेवाओं तथा आधुनिक तकनीकों के मामले में विशेष रूप से अहितकारी और प्रतिकूल स्थिति में थे। इसके अतिरिक्त इन लोगों के साथ सामाजिक भेदभाव भी किया जाता था।

इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक अवसंरचना वित्तीय विकास और सामाजिक सेवाओं की उपलब्धता के सन्दर्भ में भारत की स्थिति पूर्ण अपर्याप्तता की सूचक थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि सुरूचिपूर्ण जीवन और विकास की बुनियादी स्थितियों से कैसे हमें वंचित रखा गया था।

4.4 अल्प विकास की औपनिवेशिक वसीयत

आजादी के समय हमारी सामाजिक और आर्थिक रूपरेखा देश की सम्पत्तिहीन एवं साधनहीन राष्ट्र की छवि प्रस्तुत करती है। वर्ष 1947-48 में भारत के खनन व विनिर्मित माल का सकल मूल्य लगभग 1500 करोड़ रूपये था। आयातित माल की लागत इसकी लगभग 1/4 थी। उत्पादक वस्तुओं के आयात पर भारत की निर्धनता अधिक थी। देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अधिकांश मशीनरी बाहर से मंगायी जाती थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय देश में सूती वस्त्र मशीनरी को छोड़कर अन्य मशीने नहीं बनती थी। इस प्रकार मशीनों औजारों व उपकरणों के लिए देश पूर्णतया आयातों पर निर्भर रहता था। उस समय भारत में बड़े व विकसित उद्योगों में श्रम की उत्पादकता विकसित देशों की तुलना में नीची थी। उदाहरण के लिए सन् 1949 में सूती वस्त्र उद्योगों में प्रति श्रम घंटे सूत का उत्पादन भारत में 1.9 किग्रा, जापान में 3.3 किग्रा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 6.9 किग्रा होता था। सन् 1947 में भारत में प्रति श्रमिक सकल उत्पत्ति का मूल्य 5000 रूपये था, जबकि ब्रिटेन में सन् 1948 में यह 24000 रूपये था। सन् 1947 में दक्ष श्रमिकों का अभाव था। टाटा समूह ने स्वदेशी दक्षता को विकसित करने का प्रयास किया था। उस समय देश में आधुनिक फैक्ट्री क्षेत्र में 20 लाख श्रमिक कार्यरत थे। यह कुल श्रमशक्ति का 2 प्रतिशत था। (C.K. Shirokov, Industriall station of India 1973 P, 45) अर्थात स्वतंत्रता प्राप्ति के समय

भारत औद्योगिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ था। यहाँ का औद्योगिक ढांचा विकृत व असंतुलित था। इसमें उपयोग्य वस्तुओं के उद्योगों की प्रधानता थी तथा पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों का नितान्त अभाव था। ब्रिटिश शासन काल में स्वदेशी उद्योगों का पतन हुआ, लेकिन उनका स्थान लेने के लिए आधुनिक ढंग के बड़े पैमाने के कारखाने पर्याप्त मात्रा में विकसित नहीं हो पाये। इसके अन्तर्गत देश के पुराने उद्योग प्रायः नष्ट होते गये, लेकिन इनका स्थान नये उद्योग नहीं ले पाये। पूंजीगत वस्तुओं के कारखानों का काफी अभाव था। कुटीर व ग्रामीण उद्योगों को कई प्रकार की कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा था। महिमामय विभिन्नता और महान समर्थता वाली भारत की पुरातन भूमि एक निष्ठुर और शोषक शासन के अधीन थी। सुरक्षित बाजार, सस्ता कच्चा माल, बचत, अंग्रेजों के लिए रोजगार की व्यवस्था, युद्ध के लिए जनशक्ति और सामग्री तथा ब्रिटिश साम्राज्य के और प्रसार के लिये सस्ते श्रम आदि की बहुआयामी सहायता पा लेने में अंग्रेज सफल हुए थे। इससे भी अधिक चिंतनीय बात यह थी कि हमें विकास की प्रक्रियाओं में गति लाने के लिए वांछित राजकीय निर्णायक समर्थन से पूर्ण रूपेण वंचित किया गया था।

यहाँ यह प्रतीत होता है कि आजादी के समय काफी बड़ी संख्या में भारतीय अत्यधिक गरीबी में रह रहे थे। उनके पास कोई भी उत्पादन कौशल, आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान, श्रम उपयोगी उपकरण तथा उत्पादक क्रियाओं में भाग लेने के अवसर कुछ भी नहीं थे। पतनोन्मुख सामंतवादी व्यवस्था पर आरोपित औपनिवेशिक पूंजीवादी व्यवस्था की छत्रछाया में रह रहे लाखों भारतीयों की अज्ञानता, बीमारी, निरक्षरता तथा अस्वस्थता हमारी अविकसित अर्थव्यवस्था की प्रकृति स्पष्ट करती है। यद्यपि भारत में राजा-महाराजा, बड़े-बड़े भू-स्वामी, जमींदार, उद्योगपति, साहूकार, बड़े व्यापारी, उच्च शिक्षा प्राप्त व्यवसायी तथा नौकरशाही के उच्च वर्ग जैसे जनसमूह भी विद्यमान थे और उनमें से कई औपनिवेशिक शासकों के सहयोगी और अधीनस्थ होने के कारण भारी सम्पत्ति, धन, ऊंची आय और जीवन की विलासिताओं का उपभोग करते थे, तथापि जनसंख्या का अधिकांश भाग अपनी बुनियादी जरूरतें भी पूरी नहीं कर पाता था। सामान्य लोगों के लिये शिक्षा, स्वास्थ्य और नागरिक सुविधाएं पूर्णतः उपेक्षित थीं। परिवहन, रेलवे और संचार की व्यवस्था अंग्रेजों के हितों की पूर्ति के लिये विकसित की गयी थी। वास्तव में यह तो बेमन से किए गए प्रयास थे और जिनका भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। सडक, रेल, बिजली, तकनीकी और कुशल जनशक्ति जैसी अवसंरचनात्मक सुविधाओं का संतुलित और समान वितरण न होने से उद्योगों के विकास पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। रेलों, बागान तथा अन्य उद्योगों, बैंकिंग आदि के विकास से ऊंचा लाभ दिया गया और इस लाभ से अंग्रेजी पूंजी का बड़ा भाग निर्मित हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध तक भारत में और विदेशों में अंग्रेजों द्वारा लड़ी जा रही लड़ाईयों में भारत को भागीदारी के लिये विवश किया गया। अंग्रेजों के शोषक राज के साथ-साथ देशी राजाओं, जमींदारों और सामंतों की ज्यादतियां भी जुड़ी हुई थी।

वास्तव में अंग्रेजी शासन काल के दौरान भारत औद्योगिक रण से विमुख रहा, क्योंकि जिस गति से आधुनिक युग के पूर्व के देसी उद्योगों को नष्ट किया गया वह गति आधुनिक उद्योगों की स्थापना की गति से कहीं अधिक थी। इसके अलावा सन् 1924 तक अंग्रेजी सरकार ने भारतीय उद्योगों को कोई भी बड़ा संरक्षण प्रदान नहीं किया। असंतुलित औद्योगिक विकास के कारणों में से एक कारण देश में उपलब्ध तकनीशियनों का अपर्याप्त संवर्ग भी था। पहले भारत के उद्योग सुसंगठित थे और परिष्कृत तथा उच्च गुणवता (क्वालिटी) के लिये इनका ऊंचा नाम था। इन उद्योगों के नष्ट हो जाने की क्षति-पूर्ति, विदेशों से आयातित तकनीकी और उपकरणों पर आधारित तथा कुछ बड़े शहरों में स्थापित हल्के उपभोक्ता सामान के आधुनिक उद्योगों की सीमित प्रगति से नहीं की। कृषि व्यवस्था से भी वास्तविक किसानों को उत्पादकता में सुधार के तरीकों के लिये न ही साधन मिलते थे और न ही प्रोत्साहन मिलता था। नगरीय हस्तशिल्प के विनाश और उनके स्थान पर समानान्तर आधुनिक उद्योगों का विकास न होने से भारत में कृषि और उद्योग में असंतुलन आ गया।

आर्थिक क्षेत्र में अंग्रेजों द्वारा लाये गये विभिन्न परिवर्तनों के कारण भारत की जाति व्यवस्था में अधिक गतिशीलता का प्रवेश हुआ। ब्राह्मण, वैश्य और कायस्थ जैसी ऊंची जातियों को इसका लाभ मिला, क्योंकि वे शिक्षित वर्ग के थे और अधिक लाभकारी ढंग से नए अवसरों का लाभ उठा सकते थे। विशेष सुविधा प्राप्त इन जातियों के लोग क्लर्क, स्कूल मास्टर, वकील आदि बन गये। नया बुद्धिजीवी वर्ग मुख्यतः इन्हीं जातियों से आया। सड़कों का निर्माण, रेलों का प्रारम्भ, डाक व्यवस्था, तार, मुद्रण आदि ने काफी हद तक इन जातियों के संगठित होने में सहायता की। अंग्रेजों द्वारा प्रवर्तित न्याय के सिद्धान्त, जैसे कि कानून सभी के लिये बराबर है तथा दीवानी और दंड संहिताओं आदि से जाति पंचायतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इन जाति पंचायतों की शक्ति काफी कम हो गयी, हालांकि वे पंचायतें विद्यमान रहीं। अदालतों के आ जाने से भी जाति पंचायतों का अंत नहीं हुआ और न्याय की दोनों व्यवस्थाओं का उपयोग होता रहा। हालांकि अंग्रेजों द्वारा जाति व्यवस्था का पारम्परिक पदानुक्रम अस्त-व्यस्त कर दिया गया था, तथापि उसे वह कमजोर नहीं पड़ा। इसका मुख्य कारण यह था कि नयी संभ्रात और धनी जातियों ने जाति व्यवस्था समाप्त करने की मांग नहीं की और केवल अपने लिये उच्च स्तर की अपेक्षा की। निचली जातियों को प्राथमिकता दिये जाने की अंग्रेजी नीति के कारण ऊंची और निचली जाति में वैमनस्य पैदा हो गया था।

उत्पादन, वितरण और विनिमय के नए सामाजिक संबंधों से नयी संस्थाओं का उदय हुआ। औपनिवेशक शासन काल में नए सामाजिक वर्गों का भी उदय हुआ, उदाहरणार्थ गैर-खेतिहर भू-स्वामी, पट्टेदार, मालिक किसान, कृषि मजदूर, व्यापारी, साहूकार, पूंजीपति और फुटकर व्यापारी। इस अवधि में शिक्षित डॉक्टर, वकील, पत्रकार, प्रबंधक, क्लर्क आदि व्यवसायों का भी उदय हुआ।

भारत को कृषि उत्पादन तथा कच्चे माल का निर्यातक और बने-बनाये माल का आयातक बना दिया गया। भारत के निर्यात से जो आधिक्य पैदा होता था वह अंग्रेजों के अपने बाह्य घाटे की आपूर्ति के लिये प्रयोग किया जाता था। अंग्रेजों के सैनिक और प्रशासकीय खर्चों की पूर्ति जैसे विभिन्न तरीकों से भारत की सम्पत्ति बड़ी मात्रा में ब्रिटेन स्थानान्तरित कर दी जाती थी।

अंग्रेजों द्वारा विकास कार्यो के लिए कुछ न करने के अनाचरण जैसे पाप कर्मों के साथ-साथ विकास रोकने तथा अवरूद्ध करने वाले कार्य किए गए। फलस्वरूप एक गतिहीन और अपंग सामाजिक और आर्थिक स्थिति बन गयी, जिसमें घरेलू उत्पादन जनसंख्या वृद्धि का साथ नहीं दे पाया और प्रति व्यक्ति आय कम बनी रहीं।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत सरकार ने रेलवे का स्वामित्व कब अपने हाथों में लिया?
2. सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या कितनी थी?
3. उद्योगों के विकास में 'विभेदात्मक संरक्षक की नीति' कब से अपनायी गयी?
4. सन् 1951 में भारत की साक्षरता दर कितनी थी?

4.5 सारांश

आजादी के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की रूपरेखा औपनिवेशक शोषण के फलस्वरूप आयी तबाही की तस्वीर प्रस्तुत करती है। अतएव औपनिवेशिक काल के बाद का भारत अल्प विकसित था और उसके सामाजिक आर्थिक संबंधों के ढांचे में विकास तथा सामाजिक न्याय प्रदान करने की क्षमता और गति का अभाव था। इस इकाई में आजादी के समय देश में विद्यमान सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का तथा औपनिवेशिक विरासत की प्रकृति का एक प्रतिबिंब प्रस्तुत किया गया हैं। इस संसाधन आधार पर हमारे आयोजकों ने विकास का कार्य प्रारम्भ किया और विकास संबंधी लक्ष्य प्राप्त करने की विभिन्न रणनीतियां अपनाई।

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1925, **2.** 36.1 करोड़, **3.** सन् 1923, **4.** 16.7 प्रतिशत

4.7 शब्दावली

गैर-खेतिहर भू-स्वामी- उन मामलों में जहाँ भूमि भू-अभिलेख के अनुसार किसी ऐसे व्यक्ति के नाम पर होती है जो वास्तव में स्वयं भूमि पर कृषि नहीं करता हो। सामान्यतः लोग खेती का काम ऐसे अन्य लोगो को देते है जो वास्तव में भूमि जोतते है और केवल मजदूरी प्राप्त करते है। सभी लाभ गैर-खेतिहर भू-स्वामी को मिलता है।

प्रत्यक्ष कर- वह कर जिसका भुगतान उस व्यक्ति द्वारा किया जाता है जिस पर यह लगाया जाता है।

अंग्रजी राज्य के दौरान भू-राजस्व व्यवस्था- अंग्रेजों ने व्यक्तिगत करारोपण तथा भू-राजस्व भुगतान की व्यवस्था लागू की और वार्षिक उत्पादन के निर्धारित भाग के बराबर भू-राजस्व निर्धारित करने के स्थान पर एक निश्चित धनराशि की व्यवस्था लागू हो गयी।

शुद्ध घरेलू उत्पादन- सकल घरेलू उत्पादन में से पूंजीगत उपयोग घटाकर प्राप्त किया जाता है।

शुद्ध अचल सम्पत्ति- उत्पादन के स्थायी उपकरण जैसे कि फैक्ट्रियां, मशीन आदि जिनके द्वारा वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। इसकी गणना स्थायी सम्पत्ति के मूल्य में से मूल्यह्रास घटाने के उपरान्त की जाती है।

अंश पूंजी- अंश धारकों द्वारा सम मूल्य पर कम्पनी को दिये गये अंशदान की राशि। यह कम्पनी को देय राशि प्रदर्षित करती है।

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वाडिया, पी0ए0 और के टी मर्चेंट, 1954 अबर इकॉनोमिक प्रोब्लम, पॉपुलर: बम्बई।
2. सिंह, तरलोक, 1974, इंडियाज डिवेलपमेंट एक्सपिरिएंस: मैकमिलेन: दिल्ली।
3. दत्त, आर0पी0 1947, इंडिया टूडे, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस: बम्बई।
4. शेल्वेंकर, के0एस 1940 दि प्रोब्लम ऑफ इंडिया, पेंगुइन बुक्स, हारमंड्सवर्थ डिलसेक्स।
5. चौधरी, प्रमित, 1978, दि इंडियन इकॉनोमी: पॉवर्टी एंड डिवलेपमेंट: विकास पब्लिकेशंस: नई दिल्ली।
6. बेटलहिम, चार्ल्स, 1965, इंडिया इंडिपेंडेंट, खोसला पब्लिकेशंस: दिल्ली।

4.9 सहायक/उपयागी पाठ्य सामग्री

1. सिंह, तरलोक, 1974, इंडियाज डिवेलपमेंट एक्सपिरिएंस: मैकमिलेन: दिल्ली।
2. चौधरी, प्रमित, 1978, दि इंडियन इकॉनोमी: पॉवर्टी एंड डिवलेपमेंट: विकास पब्लिकेशंस: नई दिल्ली।

4.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. आजादी के समय भारत का व्यावसायिक ढ़ाँचा क्या था?
2. 1947 में भारत में कृषि और उद्योगों की रूपरेखा की विवेचना कीजिये।
3. अल्प विकास की औपनिवेषिक विरासत के लक्षणों की विवेचना कीजिए तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर इसका प्रभाव बताइये।

इकाई- 5 मिश्रित अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ

5.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा

5.3.1 मिश्रित अर्थव्यवस्था: एक शुद्ध अर्थव्यवस्था नहीं है

5.3.2 भारतीय अर्थव्यवस्था की मिश्रित आर्थिक प्रकृति

5.4 मिश्रित अर्थव्यवस्था का तर्कसंगत आधार

5.5 मिश्रित अर्थव्यवस्था के लक्षण

5.6 मिश्रित अर्थव्यवस्था का महत्व

5.7 अवसंरचना का विकास और सरकारी क्षेत्र (सेक्टर)

5.7.1 निजी क्षेत्र (सेक्टर) की भूमिका

5.7.2 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था का विकास

5.7.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था में योजना की भूमिका

5.8 निष्कर्ष

5.9 सारांश

5.10 शब्दावली

5.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.14 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

अंग्रेजी राज के दौरान यद्यपि सड़कों तथा रेलों का विकास, बंदरगाहों का विकास, कुछ उद्योगों की स्थापना, व्यापार का प्रसार, शहरी क्षेत्र में अंग्रेजी ढाँचे पर औपचारिक शिक्षा का विस्तार और बैकिंग तथा अन्य सेवाओं का विकास जैसे कुछ सामान्य परिवर्तन लाये गये तथापि बहुत हद तक भारतीयों की प्रति व्यक्ति आय जैसी थी, वैसी ही रही और इसमें कोई वृद्धि नहीं हुई। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हुए। भारत को अंग्रेजी राज से जो गतिहीन अर्थव्यवस्था विरासत में मिली उसमें भयंकर गरीबी, खाली कोष और शोषक सामाजिक आर्थिक ढाँचा था। विकास के बारे में विश्व विकास रिपोर्ट (1991) कहती है, ''जीवनस्तर को सुधारना विकास की सबसे बड़ी चुनौती है।'' विशेषतः गरीब देशों में बेहतर जीवन का अर्थ केवल अधिक आय ही नहीं है। इसमें बेहतर शिक्षा, स्वास्थ्य व पोषण के उच्च मानक, कम गरीबी, साफ-सुथरा पर्यावरण, समान अवसर, अधिक वैयक्तियक स्वतंत्रता और समृद्ध सांस्कृतिक जीवन शामिल है। किसी भी आर्थिक व्यवस्था में विकास प्रशासन सही लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसलिए आजादी के बाद भारतीय योजनाकारों के सामने देश का योजनाबद्ध आर्थिक विकास करने का बड़ा भारी काम था। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था का मॉडल अपनाया।

इस इकाई में हम मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ, अवधारणा और भारतीय संस्कृति में इसकी महत्ता स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। साथ ही मिश्रित अर्थव्यवस्था के विभिन्न साधनों तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था में योजना की भूमिका पर भी प्रकाश डालेंगे।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- मिश्रित अर्थव्यवस्था के अर्थ को जान पायेंगे।
- भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था के विभिन्न साधनों की जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाने के कारणों के संबंध में जान पायेंगे।
- अपने देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था के महत्व को समझ पायेंगे।
- मिश्रित अर्थव्यवस्था में योजना की भूमिका के संबंध में जान पायेंगे।

5.2 मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ

मिश्रित अर्थव्यवस्था न तो पूर्ण रूप से पूंजीवादी और न ही पूर्णरूप से समाजवादी है। अपितु इन दोनों का मिश्रण है। आधुनिक युग में मिश्रित अर्थव्यवस्था ही पायी जाती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ हैं एक ऐसी अर्थव्यवस्था जो अलग-अलग मार्केट एवं आर्थिक योजनाओं का मिश्रण हो, जिसमें निजी क्षेत्र और राज्य, अर्थव्यवस्था का निर्देशन करते हैं, या फिर एक ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें सार्वजनिक स्वामित्व तथा निजी स्वामित्व का मिश्रण हो, या जिसमें आर्थिक हस्तक्षेपवाद का मिश्रण मुक्त मार्केटों के सहित हो। मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा में निजी क्षेत्र एवं सार्वजनिक क्षेत्र के सह-अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है, परन्तु इसके लिए जरूरी है कि निजी हित की प्रेरणा को सामाजिक हित की प्रेरणा के साथ जोड़ लिया जाए। कुछ परिस्थितियों में तो निजी उद्यम के कार्य-संचालन की इजाजत समाज की सेवा करने के लिए दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त, निजी उद्यमों को अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में प्रधान स्थान नहीं दिया जा सकता। जबकि कुछ क्षेत्रों- कृषि एवं लघु उद्यमों में इसे पूर्ण स्वतंत्रता और पूर्ण विकास की इजाजत दी जा सकती हैं। दूसरे क्षेत्रों में इसे सीमित रूप में ही सहभागिता करने की अनुमति दी जा सकी हैं। कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं जो सामरिक (Strategic) एवं राष्ट्रीय महत्व रखते हैं, इनमें हो सकता है निजी उद्यम को प्रवेश की इजाजत ही न दी जाए। अधिकांश मिश्रित अर्थव्यवस्था मार्केट अर्थव्यवस्था है, जो प्रबल विनियामक निरीक्षण एवं सार्वजनिक वस्तुओं का सरकारी प्रावधान के आधार पर चलते हैं। सामान्य तौर पर मिश्रित अर्थव्यवस्था उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व की विशेषता है। आर्थिक समन्वय के लिए मार्केटों का प्रभुत्व, लाभ प्राप्ति करने वाले उद्यम एवं पूंजी का संचय आर्थिक गतिविधियों के सबसे महत्वपूर्ण संचालक शक्ति है। लेकिन एक मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के विपरीत सरकार समाज कल्याण को बढावा देने की हस्तक्षेप करने में एक भूमिका निभा रहा है। इसके साथ-साथ आर्थिक विवशता, वित्तीय संकट, बेरोजगारी और पूंजीवाद की प्रवृति प्रतिक्रिया करने के लिए राजकोषीय और मौद्रिक नीतियों के माध्यम से अर्थव्यवस्था पर अप्रत्यक्ष व्यापक आर्थिक प्रभाव भी डाल रहा है। भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की नींव 'औद्योगिक नीति प्रस्ताव- 1948' के द्वारा डाली गई। जिसे बाद में 'औद्योगिक नीति प्रस्ताव- 1956' द्वारा संशोधित किया गया।

5.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा

मिश्रित अर्थव्यवस्था दो बिल्कुल विरोधी विचारधाराओं में समझौते का परिणाम है। इनमें से एक विचारधारा निर्बाध पूंजीवाद (Laissez Fiare Capitalism) के सिद्धान्त का समर्थन करती है और दूसरी इस बात में प्रबल विश्वास रखती हैं कि समग्र अर्थव्यवस्था के उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होना चाहिए और इनका नियंत्रण राजा द्वारा किया जाना चाहिए। मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी उद्यम और इसके परिणामस्वरूप निजी हित एवं लाभ प्रेरणा पर बल को उचित समझा जाता है। ब्रिटेन, अमेरिका और यूरोप के सभी स्वतंत्र देशों और आस्ट्रेलिया का महान आर्थिक विकास निजी उद्यम द्वारा किाय गया। यही कारण हैं 18वीं और 19वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों की कृतियों में मिश्रित अर्थव्यवस्था की धारणा का कोई जिक्र नहीं था, क्योंकि उन दिनों आर्थिक स्वतंत्रता और आर्थिक मामलों में राज्य द्वारा अहस्ताक्षेप मूल सिद्धान्त जाने जाते थे। अतः मिश्रित अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत एक नयी शब्दावली है, इसे 'सुनहरी मार्ग' माना जाता है। अर्थशास्त्रियों, राजनीति वैज्ञानिकों तथा सामाजिक दार्शनिकों के प्रतिष्ठित लेखों में इस अर्थव्यवस्था का सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण आसानी से ही दिखाई नहीं देता है। ए0एम0 खुसरो इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं, ''एक मिश्रित अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों (पूँजी एवं श्रम) पर सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र का मिश्रण पाया जाता है तथा वस्तुओं और सेवाओं पर स्वतंत्र बाजारों एवं नियंत्रित बाजारों का मिश्रण विद्यमान रहता है।'' बहुत से विद्वान मानते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था, नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था है जो अब पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था की दिशा में आगे बढ रही है। वस्तुतः मिश्रित अर्थव्यवस्था में हमेशा अनिश्चय की स्थिति बनी रहती है। सामान्य तौर पर हमें यह शब्दावली कई विभिन्न सन्दर्भों में मिलती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ है- व्यवस्था में सरकारी, निजी और संयुक्त सेक्टरों का साथ-साथ प्रचलन। मिश्रित अर्थव्यवस्था में विकास के लिए इन सेक्टरों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कुछ व्यवस्थाओं में इनमें से कोई एक सेक्टर प्रबल हो सकता है। परन्तु व्यवस्था में तीनों सेक्टर्स का सह-अस्तित्व इसे मिश्रित अर्थव्यवस्था की संज्ञा दिए जाने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में भी सरकारी उपक्रम पाये जाते है तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति होती है तथापि यह मात्रात्मक अन्तर होता है। ए0 एच0 हेन्सन मिश्रित अर्थव्यवस्था को दोहरी अर्थव्यवस्था नाम देते है। भारत, स्वीडन, नार्वे, आस्ट्रिया तथा इजरायल की अर्थव्यवस्था मिश्रित मानी जाती है। कुछ अर्थशास्त्री फ्रांस की अर्थव्यवस्था को भी मिश्रित कहना पसंद करते हैं। दरअसल मिश्रित अर्थव्यवस्था में दोहरे बाजार की स्थिति पाई जाती है अर्थात् कुछ कीमतें मांग तथा आपूर्ति के आधार पर बाजारी ताकतें तय करती हैं तो कुछ वस्तुओं पर सरकार राशनिंग एवं नियंत्रण भी रखती है। इसलिये सामान्यतया यह शब्दावली किसी भी ऐसी अर्थव्यवस्था के लिए प्रयुक्त की जाती है जिसमें स्वामित्व, नियंत्रण और निर्णय लेने के एक से अधिक तरीके साथ-साथ विद्यमान है। राज्य के कार्यों में परिवर्तन, कल्याणकारी कार्यों के विस्तार, निजी सेक्टर की सफलता, लोगों की बढती हुई मांग, वस्तुओं के निर्माण और बिक्री में तीव्र प्रतियोगिताआने से मिश्रित अर्थव्यवस्था का मॉडल अति अनिवार्य हो गया है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में उत्पादन के सरकारी साधनों का उपयोग समाज कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था में उत्पादन के निजी स्वामित्व के साधन राज्य द्वारा निर्धारित नियमों के अन्तर्गत ही निजी हितों की पूर्ति करते हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था की अन्तर्निहित विषयवस्तु यह है कि तेजी से आर्थिक विकास हो सके। ऐसी अर्थव्यवस्था में राज्य (सरकार) निजी उद्यमों के साथ आर्थिक विकास की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार बनकर भाग लेता है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तीन खण्डों में विभाजित होती है-

1. वे क्षेत्र जिनमें उत्पादन तथा वितरण दोनों का सम्पूर्ण प्रबन्ध और नियंत्रण राज्य द्वारा किया जाता है और निजी उद्यमों को उस क्षेत्र से पूरी तरह बाहर रखा जाता है।
2. वे क्षेत्र जिनमें राज्य और निजी उद्यम संयुक्त रूप से उत्पादन तथा वितरण में भाग लेते हैं।
3. वे क्षेत्र जो निजी उद्यमों के एकाकी और पूरे नियंत्रण में होते हैं। ये क्षेत्र राज्य के सामान्य नियंत्रण और विनियमन के अधीन रहते हैं।

5.3.1 मिश्रित अर्थव्यवस्था: एक शुद्ध अर्थव्यवस्था नहीं है

वास्तविक व्यवहार में, ऐसी कोई शुद्ध और अमिश्रित अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती जिसमें संगठन और प्रबन्ध के सुपरिभाषित एकाकी सिद्धान्तों का पालन किया जाता हो। 20वीं शताब्दी के दूसरे शतक के मध्य सोवियत अर्थव्यवस्था को मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा गया है, हालांकि वहाँ योजना कार्य केन्द्रित थी और उत्पादन के प्रमुख साधन राज्य के स्वामित्व में थे। 1950 के दशक में ग्रेट ब्रिटेन के लिए भी यह शब्दावली प्रयुक्त की जाती थी, जबकि वहाँ कई उद्योगों के राष्ट्रीयकरण तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था थी और आर्थिक क्रियाकलापों को विनियमित तथा नियंत्रित करने हेतु सक्रिय शासकीय नीतियों के होते हुए भी निजी एकाधिकारी प्रतिष्ठानों का प्रभुत्व था। 1950 के मध्य दशक में जबकि भारत में सरकारी क्षेत्र का आरम्भ ही हुआ था, मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा गया हैं। 1980 के मध्य दशक में भारत की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग एक चौथाई भाग सरकारी क्षेत्र का था और तब भी इसे मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा गया है। बहुत से विद्वान यह भी मानते है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था, पूंजीवाद तथा समाजवाद के बीच का एक रास्ता है। अतः इसका झुकाव किसी न किसी और अवश्य पाया जाता है। साथ ही मिश्रित अर्थव्यवस्था की अपनी कोई शुद्ध विशेषताएं नहीं होती हैं। जिन देशों में मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनायी है वहाँ अपना-अपना राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा परिवर्तित हालातों के सन्दर्भ विद्यमान है। युगोस्लाविया ने समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी बाजार प्रणाली को बनाए रखा है। अतः वह बाजार समाजवाद या समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था कहलाती है। अमेरिका, जापान, ब्रिटेन, कनाडा तथा फ्रांस में पूंजीवाद के साथ-साथ सरकारी उपक्रम भी हैं। अतः उन्हें पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था भी कह दिया जाता है।

यह स्पष्ट है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था की एक परिभाषा नहीं हो सकती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था एक ऐसी अर्थव्यवस्था है, जिसमें आर्थिक संगठन और प्रबन्ध के एक से अधिक प्रकार के सिद्धान्त एक ही समय पर प्रयुक्त होते हैं। इसका अर्थ यह है कि यह मिश्रित अर्थव्यवस्था तो है, परन्तु इसमें सम्मिलित मिश्रणों में बड़ी विभिन्नताएं है। ये विभिन्नताएं केवल मात्रा की नहीं प्रत्युत गुणात्मक भी हो सकती हैं। कुछ मामलों में राजकीय संरचना और प्रक्रि ,याओं का प्रभुत्व होता है और अन्य में निजी क्षेत्र का, जो स्वामित्व और नियंत्रण के घटते-बढते केन्द्रीयकरण से प्रभुत्व स्थापित करता है। कुछ मामलों में बाजार की शक्तियां, मूल्य, बचत, निवेश विनिमय दर आदि निर्धारित करती हैं तो अन्य में ये निर्णय योजनारत एजेंसियों द्वारा सार्वजनिक हितों को ध्यान में रखते हुए लिये जाते हैं।

5.3.2 भारतीय अर्थव्यवस्था की मिश्रित आर्थिक प्रकृति

ऐसी सभी अर्थव्यवस्थाओं को जिनमें स्वामित्व, नियंत्रण, निर्णय लेने और उत्पादन में भागीदारी के विभिन्न रूप अर्थव्यवस्था की विभिन्न शाखाओं में सक्रिय पाए जाते हैं, मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा जा सकता है। इस अर्थ में ऐसी कोई अर्थव्यवस्था मिलना अत्यन्त कठिन है, जिसे न्याय संगत ढंग से मिश्रित अर्थव्यवस्था की संज्ञा न दी जा सकती हो।

आजादी से पहले अंग्रेजों ने रेलवे, डाकतार, सिंचाई, आर्डीनेन्स फैक्ट्रियां तथा अफीम उद्योग में सरकारी क्षेत्र विकसित किया था तथा सिंदरी उर्वरक फैक्ट्री, विशाखापट्टनम जलपोत कारखाना तथा बंगलौर वायुयान फैक्ट्री,

अंग्रेजों द्वारा स्थापित की गई थी। इसलिये हमने अंग्रेजों से जो अर्थव्यवस्था अपनायी वह पहले से ही मिश्रित अर्थव्यवस्था थी। निष्कर्ष यह है कि उत्पादक शक्तियों के विकास के तथा सम्बद्ध सामाजिक उत्पादक के संबंधों के सर्वाधिक प्रभावशाली और विकासमान रूपों में ही अर्थव्यवस्था चित्रित की जानी चाहिये। अतएव उस अर्थव्यवस्था को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कहा जायेगा, जिसमें अर्थव्यवस्था के अधिकांश गतिशील सेक्टरों में उत्पति के साधनों का निजी पूंजीवादी स्वामित्व होता है और जहाँ लाभार्जन हेतु उत्पादन की व्यवस्था उत्पादक घटकों को किराये पर लेकर बाजार बिक्री की दृष्टि से की जाती है। समाजवादी अर्थव्यवस्था भी इसी तरह परिभाषित की जा सकती है। इसका तात्पर्य उस अर्थव्यवस्था से है, जिसमें अर्थव्यवस्था के सर्वाधिक प्रभावकारी सेक्टरों में उत्पत्ति के साधनों का स्वामित्व राज्य का होता है। राज्य द्वारा निर्धारित मूल्यों के आधार पर माल की बिक्री होती है और लाभार्जन की बजाय सामाजिक न्याय प्रबल होता है।

पर्याप्त अधिक मात्रा में सरकारी सेक्टर होने तथा योजना पद्धति का उपयोग करने से स्वीडन, फ्रांस, यूनाईटेड किंगडम, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि जैसे देशों की अर्थव्यवस्था की मूल पूंजीवादी प्रकृति विलुप्त नहीं होती है। उसी प्रकार संगठन के निजी और सहकारी रूप तथा विशिष्ट उद्देश्यों हेतु बाजार के साधन अपनाने से चीन और रूस की अर्थव्यवस्था की मौलिक समाजवादी प्रकृति बदल नहीं जाती है। किसी भी अर्थव्यवस्था की प्रकृति निर्धारित करने के लिये निर्णायक तत्व यह है कि उसमें कौन से पैटर्न (प्रतिमान) प्रधान है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में न तो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के और न ही समाजवादी अर्थव्यवस्था के आधारभूत लक्षण है। भारत में सरकार ने एक सुविचारित योजना के तहत जानबूझ कर यह निश्चय किया कि न केवल सरकार के प्रोत्साहक और नियामक नियमों में वृद्धि की जाये, बल्कि कई विभिन्न कार्यकलापों की उत्पादन सुविधाएं अपने हाथ में लेकर प्रत्यक्ष सहभागी भूमिका भी अदा की जाये। इतना अवश्य सुनिश्चित है कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था एक राष्ट्रीय योजना के अनुसार कार्यरत है। यह स्थिति भारतीय अर्थव्यवस्था की मिश्रित आर्थिक प्रकृति पर प्रकाश डालती है।

5.4 मिश्रित अर्थव्यवस्था का तर्कसंगत आधार

आजादी के समय की सामाजिक-आथिक रूपरेखा ऐसी थी कि उत्पादन और विकास के कार्यों को पूर्ण रूप से निजी क्षेत्र अथवा सरकारी क्षेत्र को दिये जाने से किन्हीं भी समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता। प्रति व्यक्ति निम्न आय, प्राइमरी सेक्टर में कार्यरत जनसंख्या का भारी अनुपात, उच्च जन्मदर, दीर्घकालिक बेरोजगारी व अर्द्ध-बेरोजगारी, पूंजी निर्माण की निचली आय व सम्पत्ति का असमान वितरण, निरक्षरता, तकनीकी ज्ञान का अभाव, घटिया मानव संसाधन, प्रति व्यक्ति कम उपभोग, संसाधनों का अल्प उपयोग आदि ऐसी समस्याओं ने यह अनिवार्य बना दिया कि भारतीय योजनाकार एक ऐसी व्यवस्था अपनाएं जो संतोषजनक ढंग से योजनाबद्ध आर्थिक विकास ला सके और जो देश की परिस्थितियों के अनुकूल हो। 5वें दशक के दौरान विकास हेतु अपरिहार्य बड़े-बड़े काम सम्पादित करने की क्षमता अल्पसंख्यक सामंतवर्ग, भू-स्वामियों, व्यापारियों, साहूकारों और उद्योगपतियों में नहीं थी। उच्च प्रारम्भिक निवेश तथा लम्बी परिपक्वता अवधि के कारण निजी क्षेत्र बड़ी पूंजी वाले और आवश्यक उपभोक्ता माल उत्पादन के विकास कार्यक्रम हाथ मे लेने के लिए भी तैयार नहीं थे। इनके अलावा ब्रिटिश शासन काल में भी अर्थव्यवस्था के मुख्य क्षेत्र स्वयं राजा के हाथों में थे। इसलिए सामाजिक और आर्थिक विकास प्राप्त करने के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाई गयी। अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका निर्णायक मानी जाती है, क्योंकि सरकार विकास प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप कर विभिन्न कार्य सम्पादित कर सकती है। सरकार विकास सम्बन्धी पारस्परिक सम्बन्धित कार्यो का और निवेश का उपयुक्त ढंग से समन्वय कर सकती है। सरकारी क्षेत्र जोखिम भी उठा सकता है, क्योंकि यह वित्तीय मुनाफे के स्थान पर सामाजिक उपलब्धियों को महत्व दे सकता है। सरकारी क्षेत्र दीर्घकालीन दृष्टिकोण अपना सकता है और किसी हद तक कम लाभ और वित्तीय घाटे

सहन कर सकता है। सरकार ऐसी परियोजनाओं पर भी रोक लगा सकती है जिनमें केवल वित्तीय लाभ को ध्यान में रखा गया हो और बड़ी मात्रा में अर्थशास्त्रीय मितव्ययिता विरोध की उपेक्षा की गई हो।

सीमित और कम से कम प्रारम्भिक अवस्था के, असंतुलित विकास वाले देश में राज्य को उन स्थितियों तक पहुँचने के लिये, जिनमें बाद में भी विकास जारी रह सके, एक अहम भूमिका निभानी होती है। भारतीय योजनाकारों ने भी सरकारी क्षेत्र की सीमाओं को तथा नियंत्रित निजी क्षेत्र की निश्चयात्मक शक्ति और सामर्थ्य को समझा। इसलिये न तो सरकारी क्षेत्र को ही सर्वग्राही बनाया गया और न ही निजी क्षेत्र को निरर्थक बनाया गया। राज्य के नीति-निदेशक सिद्धान्तों में यह दिया गया है कि राज्य को यथा सम्भव प्रभावशाली ढंग से ऐसी सामाजिक व्यवस्था निश्चित और संरक्षित कर जनकल्याण को आगे बढाने का प्रयास करना चाहिये जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करें। इन नीति निदेशक सिद्धान्तों के अधीन निजी क्षेत्र को एक सुनिश्चित भूमिका दी गयी। आर्थिक क्षेत्र में स्वामित्व का बेहतर वितरण और समाज के भौतिक संसाधनों का नियंत्रण सुनिश्चित करने तथा श्रमिकों का शोषण और केवल कुछ लोगों के हाथों के सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण रोकने के लिए राज्य को अपनी नीति निर्देशित करनी होती है। नीति निर्देशक सिद्धान्तों में अन्तनिर्हित इन लक्ष्यों को प्राप्त करना राज्य के लिए असम्भव होगा, जब तक कि राज्य स्वयं उत्पादन तथा वितरण के क्षेत्र में प्रवेश न करे। इससे आत्मनिर्भरता लाने और तेजी से औद्योगिक रण लाने के लिए सरकारी क्षेत्र के विस्तार की जानबूझ कर अपनाई गयी नीति का औचित्य स्पष्ट होता है।

समाज के कमजोर वर्गों की सुरक्षा, अनिवार्य वस्तुओं के वितरण पर नियंत्रण, निजी एकाधिकार की रोकथाम, देश में विदेशी पूंजी के लिए द्वार खोलने पर रोक, समंतावादी और न्यायसंगत समाज के निमार्ण, आय की असमानताओं को कम करने के लिये भारत को ऐसी मिश्रित अर्थव्यवस्था के मॉडल की आवश्यकता थी जिसमें राज्य प्रमुख मार्गदर्शी भूमिका अदा करे और निजी उद्यम देश की सामाजिक और आर्थिक प्रगति प्राप्त करने के महत्वपूर्ण साधन के रूप में कार्य करें।

5.5 मिश्रित अर्थव्यवस्था के लक्षण

मिश्रित अर्थव्यवस्था के लक्षणों को निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर समझने का प्रयास करते है-

1. **वृहद सरकारी सैक्टर-** स्वतंत्र उद्यमों के साथ-साथ बड़े सरकारी सेक्टर की मौजूदगी हो तो अर्थव्यवस्था की प्रकृति 'मिश्रित' कही जाती है। समाजवादी देशों में सरकारी सेक्टर अर्थव्यवस्था के लगभग सभी क्षेत्रों में प्रमुख भूमिका अदा करता है। पाश्चात्य पूंजीवादी देशों में भी राज्य ने उन देशों की अर्थव्यवस्था में न केवल बड़े स्तर पर हस्तक्षेप किया है, बल्कि विभिन्न उत्पादक और वितरण कार्यो को भी अपने हाथ में लिया है। जिन देशों में औद्योगिकरण कुछ विलम्ब से हुआ है, उनमें राज्य की विकास संबंधी भूमिका अधिक स्पष्ट रही है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में भी सरकारी क्षेत्र की अत्यन्त निर्णायक भूमिका होती है।
2. **उत्पत्ति के साधनों का निजी स्वामित्व तथा वस्तुओं का लाभ प्रेरित उत्पादन-** कई मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में तथा भारत में भी औद्योगिक सेक्टर का एक बडा भाग इस समय निजी हाथों में है। कुछ बुनियादी उद्योगों को छोड़ कर बाकी सभी उद्योग जैसे- सीमेंट, वनस्पति तेल, चमड़ा आदि निजी सेक्टर में हैं। सड़क परिवहन मुख्यतः निजी सेक्टर में है। कृषि भी निजी सेक्टर में है। इसका अर्थ यह है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था में अधिकांश माल बाजार के लिये उत्पादित किया जाता है और अधिकांश आर्थिक क्रियाकलाप लाभ प्रेरित होते हैं।
3. **बाजार तंत्र (क्रियाविधि) की निर्णायक भूमिका-** भारतीय अर्थव्यवस्था में बाजार तंत्र की निर्णायक भूमिका है। भारत में न केवल विभिन्न उत्पादनों के लिये बल्कि उत्पादक घटकों के लिये भी बाजार हैं। अधिकांश वस्तुओं और उत्पादन के घटकों की कीमतें मांग और पूर्ति के पारस्परिक प्रभाव द्वारा निर्धारित

होती हैं। विभिन्न वस्तुओं की कीमतों और कीमतों के उतार-चढाव से उत्पादकों के निर्णय और उत्पादन की तकनीक प्रभावित होती है। यद्यपि सभी बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, फिर भी उनके कार्यकलाप और निजी सेक्टर के उत्पादकों के साथ उनके व्यापारिक लेन-देन सामान्यतः बाजार के नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। निवेश की राशि और उसका प्रकार भी मुद्रा बाजार में प्रचलित ब्याज की दरों से प्रभावित होता है। इतना होते हुए भी बाजार तंत्र पूरी तरह राज्य के नियंत्रण से बाहर नहीं है। लाईसेंस देने, उचित दर की दुकानों के माध्यम से आवश्यक वस्तुओं के वितरण तथा समर्थित मूल्यों पर कृषि उत्पादनों का क्रय कर सरकार भारतीय अर्थव्यवस्था में बाजार तंत्र विनियमित करने का प्रयास करती है।

4. **संयुक्त सेक्टर-** संयुक्त सेक्टर संतुलित औद्योगिक विकास के लिये अत्याधिक महत्वपूर्ण मार्ग खोलता है। यह सरकारी सैक्टर (पब्लिक सेक्टर) और निजी सेक्टर (प्राईवेट सेक्टर) के विकास का पूरक है। यह मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। बुनियादी तौर पर यह मिश्रित अर्थव्यवस्था की धारणा का विस्तार है। यह समग्र राष्ट्रीयकरण का आश्रय लिए बिना उद्योगों पर सामाजिक नियंत्रण का साधन है। देश में समानतावादी और न्यायपूर्ण आर्थिक विकास के लिये यह आवश्यक है और यह औद्योगिक परिदृष्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत कर सकता है। भारत में आर्थिक विकास में संयुक्त सेक्टर का उल्लेखनीय योगदान अभी भी आना शेष है।

5.6 मिश्रित अर्थव्यवस्था का महत्व

मिश्रित अर्थव्यवस्था सामाजिक-आर्थिक शक्तियों के बीच संस्थागत संतुलन बनाये रखती है। आजादी के बाद भारत में इन्हीं शक्तियों के नियंत्रण में तथा इन्हीं के प्रयासों से विकास हुआ। इसलिये मिश्रित अर्थव्यवस्था की आवश्यकता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था राज्य के नेतृत्व में राज्य निर्देशित पूंजीवादी प्रक्रियाओं के लोकप्रिय समर्थन को गति देती है। यह भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के आधुनिकीकरण के लिये सामान्य रूप से तथा उद्योगों और कृषि की प्रभावशाली वृद्धि के लिये विशेष रूप से लोकप्रिय समर्थन को गतिमान करती है। व्यवस्था में सरकारी और निजी सेक्टरों (पब्लिक और प्राईवेट सेक्टरों) की वृद्धि और उनका महत्व मिश्रित अर्थव्यवस्था का अनिवार्य अंग है।

5.7 अवसंरचना का विकास तथा सरकारी सेक्टर (पब्लिक सेक्टर)

अर्थव्यवस्था का वह भाग जो राज्य के स्वामित्व की सम्पत्ति के आधार पर कार्य करता है, अर्थव्यवस्था के सरकारी सेक्टर का निर्माण करता है। भारतीय समाज की सामाजिक-आर्थिक संरचना का यह एक महत्वपूर्ण घटक है। भारत जैसे विकासशील देशों में उत्पादक शक्तियों के आधुनिकीकरण के लिये एकमात्र राष्ट्रीय आधार सदैव उद्यमशीलता रही है। हमारे देश में सरकारी सेक्टर के उदय और विस्तार का यही कारण है।

इस बात की बढती हुइ मान्यता और स्वीकृति यही है कि राज्य नवोदित सरकारी सेक्टर के माध्यम से सभी मूल और आधारभूत क्षेत्रों की आर्थिक क्रियाओं के लिये उत्प्रेरक एजेंट के रूप में कार्य करें। भारत में सरकारी विनियमन अधिकांश आर्थिक क्रियाओं में प्रत्यक्ष साझेदार और सभी आर्थिक क्रियाओं में निष्क्रिय साझेदार है। अधिकांश प्राइमरी सेक्टर दूसरों की अपेक्षा काफी जल्दी सरकार के नियंत्रण और स्वामित्व में आये और उन कार्यो की व्यवस्था की जिनके बिना राज्य का अस्तित्व नहीं हो सकता था और जिनके बिना सरकार कार्य नहीं कर सकती थी। केन्द्रीय बैंकिग, राजकोष तथा राजकीय अर्थप्रबन्ध, रेल, सड़क तथा बंदरगाह, डाक और तार जैसे सेक्टर आजकल राज्य के मूल कर्तव्यों के रूप में पहचाने जाते है। ये अवसंरचनात्मक सेक्टर हैं और आर्थिक विकास के सहायक और साधक हैं।

भारत में सरकारी सेक्टर (पब्लिक सेक्टर) के अभ्युदय को खनिज पदार्थों और धातुओं, उद्योगों तथा तेल तथा पैट्रोलियम सेक्टरों में किए गए राष्ट्रीयकरण के साथ ही गति प्राप्त हुई। यह प्रवृति जीवन बीमा तथा अधिकांश व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण में भी जारी रही। वास्तव में सरकार औद्योगिक वृद्धि का विस्तार करने और पूंजी तथा उद्यमशीलता प्रदान करने का उत्तरदायित्व अपने हाथ में लेने के लिये सरकारी सेक्टर के रूप में ही अग्रसर हुई। सरकारी सेक्टर (पब्लिक सेक्टर) केवल केन्द्रीय शासन के अधीन ही नहीं बढा, प्रत्युत विभिन्न राज्य सरकारों के अधीन भी इसने वृद्धि की।

5.7.1 निजी क्षेत्र (सेक्टर) की भूमिका

सकल घरेलू उत्पादन (जी0डी0पी0) की वृद्धि का एक बड़ा भाग निजी सेक्टर के योगदान का रहा है। उपभोक्ता माल के उत्पादन में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है। मांग और पूर्ति के प्रत्यक्ष विरोध में उत्पादन और पूर्ति द्वारा निजी सेक्टर ने बहुत हद तक कीमतों में हेरफेर किया और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का मूल्य वृद्धि का दबाव बढाने का प्रयास किया। अर्थव्यवस्था में संसाधनों का व्यापक अपवर्तन कर इस सेक्टर ने इसे संपत्ति के केन्द्रीयकरण तथा उत्पादन और आय के असमान वितरण की ओर अग्रसर किया, जिससे सकल घरेलू उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय की राष्ट्रीय और सहज वृद्धि में रूकावट आई।

अभी भी भारत के प्रमुख सेक्टर अर्थात् कृषि पूरी तरह निजी सेक्टर द्वारा संचालित है, थोक और फुटकर व्यापार तो सदैव ही निजी सेक्टर के हाथों में रहा है। भारत के लघु और घरेलू उद्योग भी निजी सेक्टर में है और वे औद्योगिक विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

5.7.2 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था का विकास

मिश्रित अर्थव्यवस्था की सफलता अर्थव्यवस्था के सरकारी, निजी और संयुक्त सेक्टरों की असंदिग्ध वृद्धि पर निर्भर करती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका इसके विकास के लिये निर्णायक होती है। इस दृष्टिकोण को स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भी चहुमुखी समर्थन प्राप्त हुआ था। सरकार को द्रुतगामी औद्योगिक रण और आर्थिक विकास में अहम भूमिका अदा करनी होती है। सन्1931 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित किया था जिसमें कहा गया था कि, ‘‘सरकार मुख्य उद्योगों और सेवाओं, खनिज संसाधनों, रेलों, जलमार्गों, जलपोतों तथा परिवहन के अन्य साधनों का स्वामित्व ग्रहण करेगा या उन्हें नियंत्रित करेगा।’’ तथापि आजादी के बाद से वास्तविक कार्यक्रम आदर्शवादी उद्देश्यों के स्थान पर वास्तविक उद्देश्यों द्वारा निर्देशित हुए हैं।

प्रारम्भ से ही राज्य की नीति इस विचार पर आधारित थी कि छोटे पैमाने के उद्योग तथा वित्त और व्यापार का एक बड़ा भाग निजी सेक्टर के अधिकार क्षेत्र में छोड़ा जाना था। बड़े उद्योगों के क्षेत्र में भी निजी पहल को पूरी तरह नकारा नहीं गया था। सरकारी और निजी सेक्टरों के कार्यकलापों का आनुपातिक कार्य-क्षेत्र भारत सरकार द्वारा आजादी के तुरन्त बाद ही सन् 1948 में स्वीकार किये गये औद्योगिक नीति प्रस्ताव (आई0पी0आर0) में स्पष्ट कर दिया गया था।

सन् 1948 के प्रस्ताव (आई0पी0आर0) का जोर मिश्रित अर्थव्यवस्था पर था। अर्थात् सरकारी सेक्टर और निजी सेक्टर दोनों का सह-अस्तित्व बनाये रखना था। इस प्रस्ताव में अधिकतम उत्पादन के माध्यम से सामाजिक न्याय प्राप्त करने पर बल दिया गया था। उद्योगों को चार मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया गया था-

1. केन्द्रीय सरकार के पूर्ण एकाधिकार के अधीन उद्योग।
2. ऐसे उद्योग जो इसके बाद से केवल सरकार द्वारा हाथ में लिये जायेंगे।
3. तीसरी श्रेणी में बुनियादी महत्व के ऐसे उद्योग, जिनका आयोजन तथा विनियमन केन्द्रीय सरकार आवश्यक समझे।

4. चौथी श्रेणी में औद्योगिक क्षेत्र का शेष भाग निजी उद्यमों, व्यक्तियों तथा सरकारी संस्थाओं के लिये खुला छोड़ दिया गया था।

1948 के प्रस्ताव में लोकहित में औद्योगिक प्रतिष्ठान ग्रहण करने के राज्य के अधिकार पर बल दिया गया था, परन्तु इस प्रस्ताव में निजी सेक्टर के लिये भी उपयुक्त कार्य-क्षेत्र आरक्षित किया गया था।

1980 की औद्योगिक नीति का लक्ष्य स्थापित क्षमता का अधिकतम उपयोग करता, उत्पादन की न्यूनतम सीमा निर्धारित करना, क्षेत्रीय असंतुलन ठीक करना, कृषि संबंधी आधार सुदृढ करना और निर्यात अभिमुखी तथा स्थानापन्न निजी उद्योग स्थापित करना था।

5.7.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था में योजना की भूमिका

भारत अभी तक एक मिश्रित अर्थव्यवस्था के रूप में जाना जाता है और इस व्यवस्था को समाप्त करने का कोई कारण नहीं। देश में एक विशालकाय सार्वजनिक क्षेत्र में जिसमें बैंक, बीमा कम्पनियों, कोयला, इस्पात, पेट्रोलियम, मशीनरी, रेलवे सहित कई महत्वपूर्ण व्यवसाय शामिल हैं। अधिकतर सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग हालांकि लाभ कमाते हैं फिर भी लाभ कमाने से ज्यादा नागरिक सुविधा रोजगार, क्रियान्वयन में सरकार को ठोस मदद जरूर करते हैं। सरकार की फसल बीमा योजना हो, जनस्वास्थ्य योजना हो या प्रधानमंत्री जन-धन योजना, सरकारी बैंकों और बीमा कम्पनियों की भूमिका सर्वविदित हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था अनिवार्यतः एक योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था है। चूंकि मिश्रित अर्थव्यवस्था विभिन्न तथा कई परिस्थितियों में विरोधी प्रेरकों के अधीन क्रियाशील होती है, इसलिये इससे योजना की प्रक्रिया अत्यधिक जटिल होती है। एक और निजी स्वार्थ और दूसरी ओर सामाजिक लाभ, यह विरोध उपस्थित करते हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था में आर्थिक योजना का उद्देश्य इन विरोधी हितों में सामंजस्य स्थापित करना होता है, ताकि राष्ट्रीय हित की उपेक्षा न हो। मिश्रित अर्थव्यवस्था में आयोजन की सफलता निम्नलिखित कारकों पर निर्भर करती है-

1. सरकारी सेक्टर किस सीमा तक निर्धारित सामाजिक लक्ष्यों के अनुसार काम करने में समर्थ है।
2. सरकार किस सीमा तक निजी सेक्टर को निर्धारित सामाजिक लक्ष्यों के पालन में निर्देशित करने में समर्थ है।
3. सरकार किस सीमा तक निजी सेक्टर के हितों से उत्पन्न निवेश निर्णयों में सरकारी सेक्टर विरोधी विकृतियां रोकने में समर्थ है।

यह माना गया था कि विकासशील अर्थव्यवस्था में बढती हुई विविधता होने से सरकारी और निजी सेक्टरों को साथ-साथ बढने की गुंजाइश है। भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था के मार्ग-दर्शक और अपनाए गए मार्ग की एक मान्यता है कि सरकारी सेक्टर देश के सामाजिक और आर्थिक रूपान्तरण का मुख्य साधन है। इसके अलावा निजी सेक्टर में संसाधनों का उपयोग पूरी तरह स्वच्छन्द न छोड़कर उसे आर्थिक आयोजन के माध्यम से राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुरूप बनाए रखने का प्रयास रहता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार योजनाबद्ध विकास लाने के लिये विभिन्न साधनों जैसे- औद्योगिक लाईसेंस, भूमि सुधार, सेवा क्षेत्र का विकास एवं सहायता अनुदान का प्रयोग करती है।

अतएव सरकार देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था विकसित करने के लिये लगातार प्रयास करती रही है। सभी तीनों सेक्टरों यथा कृषि, उद्योग और सेवाओं में निजी पहल और उद्यम को भी बरकरार रखा गया है, परन्तु विभिन्न माध्यमों से सरकार उनके आर्थिक क्रियाकलापों को विनियमित तथा निर्देशित करती रही है।

5.8 निष्कर्ष

भारत में जो विभिन्न क्रियात्मक नियंत्रण प्रयोग में लाए गए, उनका अनुभव बहुत संतोषजनक नहीं रहा है। प्रशासकीय नियंत्रण पर अत्यधिक निर्भर रहने की प्रवृति का परिणाम नौकरशाही, लालफीताशाही और कामकाज में देरी हुआ है। अवसरों की समानता और सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण में कमी के समाजवादी उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में नाममात्र प्रगति हुई है। विकास कार्यक्रमों में मुख्यतः समाज के सम्पन्न वर्गों को लाभ हुआ है। देश की लगभग आधी जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे रह रही है। बेरोजगारी बढी है। काले धन का उदय कर अपवंचन, मूल्य वृद्धि रोकने में असफलता यह सब प्रदर्शित करते है कि सरकार द्वारा अपनाएं गए दोष-निवारक साधनों का उचित फल प्राप्त नहीं हुआ है।

परन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था द्रुतगामी आर्थिक प्रगति और सामाजिक न्याय प्राप्त करने हेतु सक्षम नहीं है। कृषि सुधार, बैंको के राष्ट्रीयकरण, बुनियादी और भारी उद्योगों का विकास, खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि जैसे प्रगतिशील उपाय इस बात के सूचक हैं कि मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे के अन्तर्गत नीतियां बनाने और उन्हें कार्यान्वित करना सम्भव है।

अभ्यास प्रश्न-

1. विकास के सन्दर्भ में 'विश्व विकास रिपोर्ट' कब प्रदर्शित हुई?
2. 'विश्व विकास रिपोर्ट' विकास के सन्दर्भ में क्या कहती है?
3. मिश्रित अर्थव्यवस्था क्या है?
4. जी0डी0पी0 क्या है?

5.9 सारांश

मिश्रित अर्थव्यवस्था देश के सामाजिक और आर्थिक विकास की उपलब्धि का एक प्रगतिशील साधन हो सकती है। इस बात पर अवश्य नजर रखनी होगी कि वर्तमान असमानताएं काफी कम करने, न्यायपूर्ण वितरण योजना को प्रक्रिया का अविभाज्य अंग बनाने तथा सामाजिक-आर्थिक विकास के लाभों का व्यापक और न्यायपूर्ण बंटवारा करने के लिये उपयुक्त संस्थाएं निर्मित करने के सुनिश्चित प्रयास हो।

5.10 शब्दावली

ब्राण्ड- ब्राण्ड कम्पनी द्वारा प्रसारित एक निवेश प्रमाण-पत्र है जो यह दर्शाता है कि आपने उन्हें कोई धनराशि उधार दी है और वे आपको निर्धारित दर पर ब्याज भुगतान करने का वचन देते हैं।

सरकारी खेती- पर्याप्त भूमि की अनुपलब्धता के कारण सभी छोटे खेतों के आकार में वृद्धि करना कदाचित संभव नहीं है, इसलिए सहकारी खेती प्रासंगिक हो जाती है। वांछित सीमा से कम भूमि वाले किसान अपनी भूमि एकत्रित कर अधिक दक्षतापूर्वक कार्य कर सकते हैं। वे अपनी भूमि के मालिक बने रहते हैं और अपनी भूमि के भाग के अनुसार उत्पादन आधिक्य बांट लेते है।

परिपक्वता अंतर अवधि- परियोजना की अवधारणा तथा प्रारम्भ से अन्तिम समाप्ति अथवा उत्पादन तक की अन्तिम स्टेज में लिया गया समय। छोटे कुटीर उद्योगों के लिये कुछ महीनों की परिपक्वता अन्तर अवधि ही आवश्यक हो सकती है, जबकि स्टील अथवा ऊर्जा के औद्योगिक सयंत्रों को कुछ वर्षों की परिपक्वता अंतर अवधि आवश्यक हो सकती है।

उद्योग अधिनियम-1951- इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य भारतीय उद्योगों को इस प्रकार विकसित और विनियमित करना है जिससे योजना नीति का, समाजवादी समाज का और अन्य सामाजिक आर्थिक अथवा राजनीतिक प्रयोजनों का हित लाभ हो।

5.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1991, **2.** जीवन स्तर को सुधारना विकास की सबसे बड़ी चुनौति है।, **3.** न पूर्ण रूप से पूंजीवादी और न पूर्ण रूप से समाजवादी अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था कहलाती है।, **4.** सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product)

5.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ढीगरा, आई0सी0 और वी0के0 गर्ग, 1989, इकोनोमिक डवलपमेंट एण्ड प्लानिंग इन इण्डिया, सुलतान चंद एंड संसः नई दिल्ली।
2. दत्त, रूद्र और के0पी0एम0 सुदंरम, 2016, इण्डियन इकोनोमी, एस0 चॉदः नई दिल्ली।
3. काबरा, कमल नयन, 1990, नेशनेलाइजेशन इन इण्डियाः पालिटीकल, इकोनोमी ऑफ ऑप्शन, वाल्युम-10, ईस्टर्न बुक्सः नई दिल्ली।
4. मिश्रा,एस0के0 और वी0 के0 पुरी, 2016 इण्डियन इकौनामी: इट्स डवलपमेन्ट एक्सपीरिएस हिमालयाः मुम्बई।

5.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ढीगरा, आई0सी0 और वी0के0 गर्ग, 1989, इकोनोमिक डवलपमेंट एण्ड प्लानिंग इन इण्डिया, सुलतान चंद एंड संसः नई दिल्ली।
2. दत्त, रूद्र और के0पी0एम0 सुदंरम, 2016, इण्डियन इकोनोमी, एस0 चॉदः नई दिल्ली।
3. काबरा, कमल नयन, 1990, नेशनेलाइजेशन इन इण्डियाः पालिटीकल, इकोनोमी ऑफ ऑप्शन, वाल्युम-10, ईस्टर्न बुक्सः नई दिल्ली।
4. मिश्रा,एस0के0 और वी0 के0 पुरी, 2016 इण्डियन इकौनामी: इट्स डवलपमेन्ट एक्सपीरिएस हिमालयाः मुम्बई।

5.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. सामाजिक और आर्थिक विकास की उपलब्धि के लिये भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था मॉडल क्यों अपनाया?
2. मिश्रित अर्थव्यवस्था के विभिन्न लक्षणों की विवेचना कीजिये।
3. मिश्रित अर्थव्यवस्था में योजनाबद्ध विकास के लिये सरकार द्वारा प्रयुक्त विभिन्न साधनों को समझाइये।

इकाई- 6 योजना की भूमिका

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 योजना का अर्थ
6.3 योजना की आवश्यकता
6.4 भारत में योजना हेतु मशीनरी
    6.4.1 योजना का विकास
    6.4.2 योजना कार्य में सम्बद्ध संस्थाएं
6.5 भारत में योजना की प्रक्रिया
    6.5.1 प्रथम चरण- सामान्य दिशा निर्देश
    6.5.2 द्वितीय चरण- ड्राफ्ट मेमोरेण्डम का निर्माण
    6.5.3 तृतीय चरण- ड्राफ्ट आउटलाईन का निर्माण
    6.5.4 चतुर्थ चरण- अन्तरिम प्रतिवेदन
6.6 योजना की सीमाएं
6.7 निष्कर्ष
6.8 सारांश
6.9 शब्दावली
6.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.13 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

योजना सामान्यतः अर्थव्यवस्था के विकास से सम्बद्ध होती है। योजनाओं का प्रयास यह सुनिश्चित करना होता है कि हमारा विकास किस प्रकार हो, इसलिये ये व्यवस्था के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करती है। भारत में विकास की समस्याओं की जटिल प्रकृति के कारण योजनाओं की आवश्यकता हुई। देश को विकास कार्यों के माध्यम से पिछड़ेपन तथा गरीबी की चुनौती का सामना करना था। इस हेतु अत्यधिक संसाधनों की उच्च स्तर पर निवेश तकनीकी विकास और संस्थागत पुनःनिर्माण की आवश्यकता थी। इन्हीं सब कारणों से राष्ट्रीय आर्थिक योजना अनिवार्य थी।

भारत में ब्रिटिश राज के अन्तर्गत सबसे पहले सन् 1930 में बुनियादी आर्थिक योजनाऐं बनाने का काम शुरू हुआ। भारत की औपनिवेशिक सरकार ने आपैचारिक रूप से कार्य योजना बोर्ड का गठन भी किया जिसने सन् 1944 से 1946 तक कार्य किया। निजी उद्योगपतियों और अर्थशास्त्रियों ने सन् 1944 में कम से कम तीन विकास योजनाएं बनाई। भारत की योजनाओं में बार-बार जनतांत्रिक आयोजन अपनाने पर बल दिया गया। उत्पादन में वृद्धि, आर्थिक विकास, संतुलित क्षेत्रीय विकास, रोजगार के अधिक अवसर, गरीबी उन्मूलन, आत्मनिर्भरता और सामाजिक न्याय इन योजनाओं के उद्देश्य रहे हैं। अतएव भारत में योजना कार्य की भूमिका समझने के लिए हमें देश की योजना प्रक्रिया, योजना का क्रम विकास, योजना कार्य में लगी हुई संस्थाओं, योजनाओं के लक्ष्य और

उद्देश्य तथा भारतीय योजना व्यवस्था की उपलब्धियों और सीमाओं से भलीभांति अवगत होने का प्रयास करना चाहिए। इस अध्याय में इन्हीं बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे भारत में योजना की प्रकृति का स्पष्ट ज्ञान हो सके।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- योजना का अर्थ, भारत में योजना की आवश्यकता और योजना की प्रकृति को समझ पायेंगे।
- योजना के निर्माण, कार्यान्वयन, निरीक्षण तथा मूल्यांकन से सम्बद्ध संस्थाओं के संबंध में जान पायेंगे।
- योजनाओं के सफल क्रियान्वयन के लिए तंत्र की प्रकृति को जान पायेंगे।
- भारत में योजना के लक्ष्यों और योजना बनाने की प्रक्रिया को समझ पायेंगे।
- भारत की योजना प्रक्रिया की सीमाओं का विश्लेषण कर पायेंगे।

6.2 योजना का अर्थ

योजना से अभिप्राय है, उचित रीति से सोच-विचार कर कदम उठाना। फेयोल के अनुसार योजना का अर्थ है 'पूर्व दृष्टि' इससे अभिप्राय है आगे की ओर देखना, जिससे यह स्पष्ट पता चल जाए कि क्या-क्या काम किया जाना है? क्या किया जाना चाहिए और यह कैसे किया जाना चाहिये? प्रत्येक वह क्रिया नियोजित क्रिया कहलाती है जो दूरदर्शिता, विचार-विमर्श तथा उद्देश्यों एवं उनकी प्राप्ति हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनों की स्पष्टता पर आधारित हो। बहुत ही व्यापक और सामान्य अर्थों में योजना, क्रियाकलापों को संगठित करने और उन क्रियाकलापों को सम्पन्न करने की एक व्यवस्थित एवं पूर्वविचारित पद्धति कही जा सकती हैं। मॉशर का कहना हैं कि ''नियोजन के अन्तर्गत उद्देश्यों की पहचान कर उनको प्राप्त करने हेतु वैकल्पिक कार्यप्रणालियों का विकास करना'' अर्थात् अधिक सुस्पष्ट ध्येयों के लिए विकल्पों को कम करना। मिलेट ने योजना को ''प्रशासनिक प्रयासों के लक्ष्य निर्धारित करने और उन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए वांछनीय साधन अपनाने की प्रक्रिया'' के रूप में परिभाषित किया हैं। सैकलर हडसन के अनुसार, ''योजना भविष्य में किये जाने वाले कार्य हेतु मार्गाधार बनाने की प्रक्रिया है।'' उर्विक के अनुसार, ''योजना मूलतः एक व्यवस्थित तरीके से काम करने, करने से पहले सोचने-विचारने और अनुमानों की अपेक्षा तथ्यों के प्रकाश में कार्य करने की एक बौद्धिक प्रक्रिया है। यह चिन्तनशील कल्पित प्रवृति की एन्टीथीसिस अथवा उसका प्रतिस्थापन हैं।''

अधिकांशतः यह कहा जाता है कि योजना संगठन और निर्णय-प्रक्रिया की एक तार्किक पद्धति है। इसका अर्थ यह हैं कि योजना में निम्न पद सन्निहित हैं-

1. समस्या की स्पष्ट व्याख्या तथा उसका प्रत्यक्ष बोध।
2. उद्देश्यों (लक्ष्यों) का निर्धारण तथा संसाधनों की उपलब्धि।
3. लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साधनों तथा क्रियाकलापों का सहयोजन।
4. परस्पर आश्रित इन साधनों तथा क्रियाकलापों का सहयोजन।
5. कार्यक्रम बनाना।
6. सहयोजित कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने की सर्वाधिक प्रभावी तथा सुसंगत पद्धति का चयन।
7. इस पद्धति को कालान्तर तक जारी रखने के लिए व्यवस्थित पुनरावलोकन।

इस प्रकार योजना, भविष्य के कार्यों हेतु एक सुदृढ मार्गाधार बनाने की प्रक्रिया है। सभी प्रकार के कार्यों के लिए चाहे छोटे हो या बडे, योजना आवश्यक होती है। कोई भी देश विकास के विभिन्न चरणों में तथा विभिन्न

सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में इसे अपना सकता है। योजना लचीली, परिवर्तनशील तथा अनुकूलनशील होनी चाहिए। इसमें सुनिश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न पद्धतियां सम्मिलित होती हैं और ये पद्धतियां दूरदर्शिता, चिन्तन तथा लक्ष्यों की स्पष्टता पर आधारित होती हैं। वैसे भी योजना दीर्घ, मध्यम व लघुकालिक विकास योजनाओं की एक सतत् प्रक्रिया हैं।

6.3 भारत में योजना की आवश्यकता

योजना की भूमिका देश की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। विकासशील देशों में योजना अत्यन्त निर्णायक भूमिका सिद्ध करती है। व्यवस्था में निरन्तर उपस्थित विभिन्न समस्याओं की प्रकृति, परिणाम तथा उनकी जटिलता के कारण योजना की आवश्यकता पडती है। योजना के कई लाभ हैं।

1. **योजना, समस्याओं का व्यापक और वैज्ञानिक बोध करने में समर्थ होती है-** अनिवार्यतः निश्चित रूप से न भी हो पर सामान्यतः योजना, व्यवस्था की समस्याओं का व्यापक एवं वैज्ञानिक बोध कराती है। विकास योजना के सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि अल्पविकास का व्यापक और सार्थक ज्ञान हो तथा उन कारकों, शक्तियों तथा प्रक्रियाओं का भी ज्ञान हो जो विकास अथवा प्रगति में रूकावटें डालती हैं। यह ज्ञान प्राप्त करना विकास योजना का पहला चरण हैं और इसलिए एक व्यवस्थित योजना तंत्र की आवश्यकता पर बल दिया जाता है।
2. **योजना, नुकसान (बरबादी) की रोकथाम करती है तथा उत्पादकता में सुधार लाती है-** समस्याओं के व्यापक एवं वैज्ञानिक बोध के आधार पर योजना उपलब्ध संसाधनों का आंकलन कर उन्हें जुटाने तथा उनका उपर्युक्त उपयोग करने में निर्णायक भूमिका निभाती है। यह संसाधनों के अधूरे उपयोग, दुरूपयोग तथा अनुप्रयुक्त आंवटन को रोकती हैं।
3. **योजना, विभिन्न निर्णयों के पूर्ववर्ती तथा आगामी प्रभाव पर प्रकाश डालती है-** निर्णय लेने के लिए किए गए भौगोलिक और आंचलिक क्षेत्र सर्वेक्षण के प्रसार के फलस्वरूप योजना लाभदायक भूमिका निभाती है। यह विभिन्न निर्णयों से उत्पन्न होने वाली बाहरी प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालती है। यह निर्णयों के सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों आयामों को सामने लाती है, जिससे योजना बनाने वाले लोग सकारात्मक प्रभावों का उपयोग कर पाने और निर्णयों के नकारात्मक प्रभावों को कम करने में समर्थ हो पाते हैं।
4. **योजना, व्यवस्था की उपयुक्तता में वृद्धि करती है-** स्वेच्छाचारिता, पुनरावृति, असंगति सामूहिक तथा दीर्घकालीन हितों की उपेक्षा आदि का परिहार कर योजना व्यवस्था की उपयुक्तता बढाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। फलस्वरूप योजना के माध्यम से व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा पर आधारित विकेन्द्रित और असहयोजित निर्णयों के कई दोषों को संशोधित किया जा सकता हैं।
5. **योजना, परस्पर संबंधित मसलों पर वैयक्तिक निर्णयों की असंगति को रोकती है-** सामाजिक प्रासंगिकता के सामान्य महत्वपूर्ण मूद्दों पर सामूहिक सामाजिक निर्णय लिये जाते हैं। साथ ही जहाँ विस्तृत विवरण, स्थानीय परिस्थितियों और तेजी से बदलती हुई स्थितियों पर ध्यान देना पडता हैं, वहां वैयक्तिक निर्णय लिये जाते हैं। योजना के माध्यम से इन दोनों प्रकार के निर्णयों का पारस्परिक सुसंगत सहयोजन संभव हो जाता हैं।
6. **योजना, संरचनात्मक परिवर्तन लाती है-** सामाजिक संसाधनों के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नियंत्रण और सामूहिक निर्णयों के माध्यम से योजना देश को बड़े कार्य हाथ में लेने तथा व्यवस्था के ढांचे में परिवर्तन लाने की समर्थता प्रदान करती हैं। असहयोजित निर्णयों से पैदा होने वाली प्रेरणात्मक तथा ज्ञानात्मक अड़चनों को योजना के माध्यम से दूर किया जा सकता हैं।

7. **योजना, विरोधी हितों में सुव्यवस्थित सामंजस्य लाने की सामर्थ्य प्रदान करती है-** निर्णय के उपरान्त प्रति उत्पादक विरोधों को रोकने तथा सुव्यवस्थित परिवर्तन लाने में योजना महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वास्तव में योजना तो इस प्रकार के विरोधों को पहले ही आमंत्रित कर लेती है, जिससे कि शीघ्रातिशीघ्र उनके समायोजन का प्रयास किया जा सके। इस प्रकार पूर्व में ही यह सुनिश्चित कर कि विभिन्न आयोजित कार्यकलाप तथा परिवर्तन पारस्परिक संसुगत हैं, योजनाएं संसाधनों तथा प्रयासों की बरबादी को रोकती है।

अतएव योजना सामाजिक और आर्थिक विकासोन्मुख का अत्यन्त निर्णायक घटक (अंग) है। परियोजनाओं (स्कीमों) की अवधारणा के चरण से लेकर उनके अंतिम कार्यान्वियन तथा मूल्यांकन के चरण तक योजना (प्लानिंग) को एक क्रियाशील, संगठनात्मक तथा निर्णायक भूमिका अदा करनी होती है। योजना बहुत ही प्रभावी तथा तर्कसंगत ढंग से पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन सुगम बनाती हैं।

जहाँ एक ओर ब्रिटिश शासन के पूर्व भारत की अर्थव्यवस्था धन-धान्यपूर्ण, समृद्ध और उन्नत थी। भारत का अतीत गौरवपूर्ण था। सत्रहवीं शताब्दी में भारत संसार का सर्वाधिक धनी, एशिया की कृषि जननी तथा सभ्यता का औद्योगिक निर्माण ग्रह होने के साथ-साथ आध्यात्मिक गुरू था। वहीं भारत ब्रिटिश शासन की घातक एवं दोषपूर्ण आर्थिक नीतियों के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति तक आर्थिक शोषण और साधनों के बाह्य बहाव से आर्थिक पतन के गर्त में पहुँच गया। अर्थव्यवस्था निष्क्रिय और मृतप्रायः हो गई। देश में गरीबी और बेरोजगारी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। अंग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था का जो निर्मम शोषण किया उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन हैं और इस शोषण को विश्व आर्थिक इतिहास का सबसे अधिक कालिमामय अध्याय कहा जाये तो भी कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। स्वाधीनता के समय विकास के लिए अनिवार्य कार्यों तथा परिवर्तनों की प्रकृति भी ऐसी थी कि योजना का मार्ग अपनाए बिना इसे सम्भाला नहीं जा सकता था। निजी उद्योग आर्थिक एवं मानव संसाधनों का पूरा उपयोग करने की स्थिति में नहीं थे। भू-वितरणात्मक सम्बन्ध, कृषि भूमि के छोटे आकार, खण्डों में विभाजित कृषि भूमि, किसानों पर ऋण का भारी बोझ, निरन्तर उत्पादन की निम्न उत्पादकता पद्धति आदि ने कृषि को पिछड़ेपन के दोषयुक्त चक्र में फंसा रखा था। भारत की दो-तिहाई आबादी के मुख्य व्यवसाय कृषि को उत्पादक और समृद्ध बनाए बिना आधुनिक उद्योग के विकास की कोई संभावना नहीं थी। भारतीय हस्तशिल्प के विनाश तथा कुटीर उद्योगों के अभाव ने इस संकट को और बढ़ा दिया था। इसलिए एक व्यवस्थित योजना प्रक्रिया आवश्यक थी। ब्रिटिश शासन के उपनिवेशीय शोषण की भारत को भारी कीमत चुकानी पड़ी। ब्रिटिश शासकों ने भारत के आर्थिक विकास की आड़ में भारतीय अर्थव्यवस्था का बर्बरतापूर्ण शोषण किया। उसके साधनों का बाह्य बहाव कर लूटा, खसोटा और ब्रिटिश पूंजी को खुली छूट देकर भारत में अपने आर्थिक साम्राज्य का विस्तार किया जिससे भारत की अर्थव्यवस्था खोखली होती गई और अंग्रेजी शासन के पूर्व एक आर्थिक सत्ता सम्पन्न आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था ब्रिटिश उपनिवेशीय शोषण के कारण दरिद्र जर्जरित एवं निष्क्रिय अर्थव्यवस्था बनकर रह गई। प्राकृतिक संसाधनों, मानव संसाधनों, विज्ञान तथा तकनीकी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक संबंधों का उपयोग करने तथा विभिन्न सामाजिक सेवाओं की आवश्यकता की प्रत्यक्ष पूर्ति के लिए आधुनिक साधन एवं सुविधाएं इस प्रकार और इस सीमा तक विकसित नहीं थी कि वे विकास के कार्य में सहायक अथवा प्रेरक हो सके। औपनिवेशिक राज्य द्वारा इन महत्वपूर्ण निवेशों की अवहेलना की गई थी और भारत के बहुमूल्य संसाधनों को बाहर ले जाया गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति, विभाजन के उपरान्त देश के एकीकरण तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक संविधान ने यह स्पष्ट कर दिया कि ऐसी योजना की तुरन्त आवश्यकता थी जो आर्थिक संगठन का तथा किंचित अपरिहार्य अंश केन्द्रीय नियंत्रण में निर्णय लेने का संचेतन माध्यम हो। विकास के लिये संसाधन बढाने के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक था। औपनिवेशिक राज्य में नौकरशाही द्वारा ऐसे कार्य नहीं किये गये थे। अतएव स्वतंत्रता के समय देश के समक्ष उपस्थित समस्याओं का सही ढंग से सामना संचेतन

विकल्प, कार्यकलापों के सहयोजन, बड़े स्तर पर संसाधनों के एकत्रीकरण तथा केन्द्रीयकृत प्रयासों के बिना कभी भी नहीं किया जा सकता था। इसलिए योजना विकास के बहुआयामी, परस्पर सम्बन्धी और विशाल विकास कार्यों को पूरा करने की पद्धति बन गई।

6.4 भारत में योजना हेतु मशीनरी

भारत जैसे देश में जहाँ उत्पादन के बहुत अधिक साधन निजी व्यक्तियों के स्वामित्व में है, वहीं योजना ऐसी होनी चाहिए कि वह विकास में योगदान देने वाले निजी सामाजिक, आर्थिक कार्यकलापों को नियंत्रित एवं नियमित करें तथा लोकनीति के उद्देश्यों तथा कार्यों के अनुकूल हो। यह एक ऐसी चुनौती है तथा ऐसा प्रयोग है जिसकी सफलता-असफलता पर न केवल भारत में बल्कि सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका में लोकतंत्र का भविष्य टिका हुआ है। चूंकि योजना आयोग स्वयं एक प्रशासनिक संगठन है, इसलिए हमारे जैसे विकासशील देश में इस पर असैनिक सेवा के मुख्य ढांचे से बाहर, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के आयोजना के एक नए तरीके के रूप में ही विचार किया जाना चाहिए। प्रशासन के इतिहासकार के लिए योजना आयोग इस निहित धारणा के कारण अधिक रोचक बन गया है कि प्रशासन ही आर्थिक विकास का प्रमुख माध्यम है। भारत में योजना का लक्ष्य संविधान में वर्णित मूल उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सामाजिक और आर्थिक विकास सुनिश्चित करना है। भारतीय योजना को मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे में विकासवादी तथा नियामक योजना की संज्ञा दी जा सकती है। अर्थात योजना निजी तथा सरकारी दोनों क्षेत्रों के लिए आयोजन प्रक्रिया है। अपने देश में योजना की प्रक्रिया को समझने के लिए हमें भारत में योजना के क्रम विकास तथा योजना निर्माण और कार्यान्वयन में लगी हुई विभिन्न संस्थाओं का भी बोध होना चाहिए।

6.4.1 योजना का विकास

श्री एम0 विश्वेस्वैरया ने सर्वप्रथम 1934 में भारत की राष्ट्रीय आय को दुगुना करने के उद्देश्य से एक दस वर्षीय योजना का निर्माण किया था। इस योजना के निर्माण के पश्चात सन् 1938 में प्रान्तीय उद्योग मंत्रियों के एक सम्मेलन में एक राष्ट्रीय नियोजन समिति की स्थापना पर विचार किया गया। इस सम्मेलन के निर्णय के अनुरूप पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय नियोजन समिति एवं अन्य उप-समितियों का गठन देश में आर्थिक विकास हेतु योजनाओं का निर्माण करने के लिए किया गया। सन् 1944 में सरकार द्वारा एक 'नियोजन व विकास विभाग' की स्थापना कर इसे युद्ध के पश्चात देश में पुनः निर्माण तथा विकास कार्यों का उत्तरदायित्व सुपूर्द किया गया। सितम्बर 1946 में श्री के0 सी0 नियोगी की अध्यक्षता में एक सलाहकार नियोजन बोर्ड की स्थापना की। इस बोर्ड ने देश में एक स्वतंत्र योजना आयोग एवं सलाहकार समिति की स्थापना की सिफारिश की। सन् 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत को विभिन्न प्रकार की समस्याएं व कठिनाईयां विरासत के रूप में प्राप्त हुई। इस समय भारत की औद्योगिक अर्थव्यवस्था पूर्णरूप से विखण्डित थी तथा दिन-प्रतिदिन की आवश्यकता पूरी करने वाली वस्तुओं के लिए भी विदेशी आयात पर निर्भर रहना पड़ता था। इन विभिन्न प्रकार की समस्याओं एवं कठिनाईयों से निपटने का एकमात्र उपाय देश का नियोजित ढंग से विकास करना था। स्वतंत्रता पूर्व के ये प्रयास विचारों की उस एकता पर बल देते हैं जो सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु हमारे नेताओं में थे। स्वतंत्रता के उपरान्त योजनाबद्ध विकास की एक व्यवस्थित प्रक्रिया प्रारम्भ की गयी। तब से हमारी योजनाऐं जनता के कल्याण और संतुलित सामाजिक-आर्थिक विकास को बढाने का प्रयास करती रही हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुसदस्यीय योजना आयोग 15 मार्च 1950 के एक मंत्रिमंडलीय संकल्प द्वारा स्थापित किया गया। इसके उद्देश्य और कार्य हैं- देश के संसाधनों का आंकलन करना, इन संसाधनों में वृद्धि की संभावनाओं की खोज करना तथा देश के संसाधनों के सर्वाधिक प्रभावी और संतुलित उपयोग के लिए योजना बनाना। योजना आयोग को योजना

कार्यान्वित करने के लिए विभिन्न चरण निश्चित कर प्रत्येक चरण को ठीक ढंग से पूरा करने के लिए संसाधनों का आवंटन प्रस्तावित करना होता है। योजना आयोग आर्थिक विकास में बांधा डालने वाले कारकों को इंगित कर योजना के सफल कार्यान्वयन के लिए मशीनरी तथा परिस्थितियां निर्धारित करता है। योजना आयोग को समय-समय पर योजना के प्रत्येक चरण के कार्यान्वयन में प्राप्त प्रगति का पुर्नरीक्षण भी करना होता है तथा जहाँ आवश्यक हो, इसमें परिवर्तनों की अनुशंसा भी करनी होती है।

6.4.2 योजना कार्य में सम्बद्ध संस्थाएं

योजना के निर्माण, कार्यान्वियन, निरीक्षण तथा मूल्यांकन में कई संस्थाएं लगी हुई हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद, योजना आयोग तथा इसके कार्यकारी समूह और सलाहकार पैनल, राज्य योजना मण्डल, जिला योजना खण्ड, केन्द्र तथा राज्य के मंत्रालयों में योजना खण्ड, केन्द्र तथा राज्य के मंत्रालयों में योजना खण्ड तथा संसद इस प्रयास से सम्बद्ध हैं। विभिन्न विकास परिषदों तथा उद्योग और वाणिज्य के प्रतिनिधियों के माध्यम से निजी क्षेत्र का साथ और सहयोग भी प्राप्त किया जाता है। यह बहुस्तरीय, बहुचरणीय और बहुएजेन्सी वाली योजना व्यवस्था है।

1. **राष्ट्रीय आयोजन परिषद-** योजना आयोग प्रत्येक योजना के निर्माण के समय एक राष्ट्रीय आयोजन परिषद गठन करता है, जो आयोग की योजना सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करके परामर्श देती हैं। इसमें वैज्ञानिक, इंजीनियर, अर्थशास्त्री तथा अन्य विशेषज्ञ होते हैं जो अपने अपने क्षेत्र से सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन करके आयोग को प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं, जिन पर विवेचना होती है।
2. **अनुसंधान प्रोग्राम समिति-** योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में आयोग के उपाध्यक्ष के अधीन अनुसंधान प्रोग्राम समिति की स्थापना की जो महत्वूर्पण कार्य करती है। इस समिति में देश के विशिष्ट एवं प्रसिद्ध वैज्ञानिक, शोधकर्ता, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री आदि विशेषज्ञ नियुक्त किये जाते हैं, जिनका सम्बद्ध विश्वविद्यालय एवं शोध तथा अनुसंधान संस्थाओं से होता है। यह समिति विश्वविद्यालयों तथा अनुसंधान संस्थाओं को विकास के प्रशासनिक, सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं से सम्बन्धित शोध के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है।
3. **मंत्रणा दल-** योजना आयोग को सलाह देने के लिए विभिन्न परियोजनाओं से सम्बन्धित मंत्रणा दल की नामिका (Pannel) बनायी जाती है जो समय-समय पर विभिन्न नीतियों एवं कार्यक्रमों पर अपनी सलाह देती हैं। ऐसे मंत्रणा दल सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, विद्युत आदि परियोजनाओं के लिए हैं। इसके अतिरिक्त संसद सदस्यों से परामर्श करने के लिए योजना आयोग के लिए संसद के सदस्यों की सलाहकार समिति तथा प्रधानमंत्री, आयोजन के लिए अनौपचारिक सलाहकार समिति भी हैं। योजना आयोग, योजना निर्माण के पूर्व और बाद में निजी क्षेत्र की वाणिज्य एवं उद्योगों से सम्बन्धित अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधियों से परामर्श करता है।
4. **सम्बद्ध दल-** योजना आयोग के कार्य में कुछ सम्बद्ध दल भी सहायता करते हैं। जैसे- विभिन्न केन्द्रीय मंत्रालय, भारतीय रिजर्व बैंक का अर्थशास्त्र विभाग, केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन आदि। योजना आयोग इन संस्थाओं द्वारा विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अध्ययन करवाता है तथा केन्द्रीय सांख्यिकीय विस्तृत आंकड़े एकत्रित करके योजना के निर्माण तथा मूल्यांकन में योजना आयोग की सहायता करता है।
5. **कार्यकारी दल-** योजना निर्माण के समय आयोग अनेक कार्यकारी दल नियुक्त करता है, जिन पर विभिन्न समस्याओं से सम्बद्ध विशेषज्ञ होते हैं। ये दल योजना निर्माण के लिए विभिन्न विषयों पर अपनी रिपोर्ट देते हैं। जिनके आधार पर योजना बनायी जाती है।
6. **कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन-** इसकी स्थापना सन् 1952 में हुई थी। राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के कार्यो को निर्धारित करने के लिए यह एक स्वतंत्र इकाई है, किन्तु यह

संगठन योजना आयोग के सामान्य मार्गदर्शन में कार्य करता है। कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन मुख्यालय में एक संचालक तथा अनेक उपसंचालक, अनुसंधान पदाधिकारी और अन्य कर्मचारी कार्य करते हैं। तीन क्षेत्रीय मूल्यांकन अधिकारी के हैं। एक पूर्वी क्षेत्र के लिए जिसका मुख्यालय कोलकता में है। दूसरा दक्षिण क्षेत्र के लिए है जिसका मुख्यालय मुम्बई में है। तीसरा उत्तरी क्षेत्र के लिए है जिसका मुख्यालय दिल्ली में है। इन तीनों पदाधिकारियों में से प्रत्येक के अधीन परियोजना मूल्यांकन अधिकारी होते हैं। जिन केन्द्रों में ये अधिकारी नियुक्त किये गये हैं वे देश को बड़े-बड़े आर्थिक तथा कृषि सम्बन्धी प्रदेशों में विभाजित करके चुने गये हैं। कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन की वर्तमान व्यवस्था के अनुसार वह सामुदायिक सम्बन्धी मंत्रालय से स्वतंत्र रहकर कार्य करता है। यह संगठन योजना आयोग के सामान्य निर्देशन के अधीन कार्य करता है।

7. **राष्ट्रीय विकास परिषद-** भारत में संघात्मक शासन प्रणाली है तथा केन्द्र एवं राज्यों के बीच शक्तियों का बंटवारा किया गया है। केन्द्र और राज्यों में शक्तियों के बंटवारे को ध्यान में रखते हुए योजना तैयार करने में राज्यों की हिस्सेदारी भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी केन्द्र की। राष्ट्रीय विकास परिषद योजना आयोग की सर्वोच्च नीति-निर्धारक संस्था है। यह योजना आयोग और विभिन्न राज्यों में समन्वय स्थापित करने का भी कार्य करती है। जिलों में योजना निर्माण के लिए जिला योजना प्रखण्ड है। राज्य विधायिका द्वारा बजट पारित होने के तुरन्त उपरान्त विभिन्न विभागाध्यक्ष योजना में प्रवाहित व्यय का जिलेवार बंटवारा करते हैं। जिले के प्राधिकारी जिला योजना प्रखण्डों के साथ मिलकर एक जिला योजना तैयार करते हैं जो राज्य सरकारों को प्राप्त विभागीय परियोजनाओं का संकलन होती है।

6.5 भारत में योजना की प्रक्रिया

भारतीय संविधान में सामाजिक तथा आर्थिक आयोजन का विषय समवर्ती सूची में सम्मिलित हैं। भारत में योजनाएं पंचवर्षीय कार्यक्रम के रूप में बनायी जाती हैं। पंचवर्षीय योजना बनाने की प्रक्रिया काफी जटिल और समय लेने वाली है। इस प्रक्रिया को निम्न चरणों में विभाजित किया जा सकता है-

6.5.1 प्रथम चरण- सामान्य दिशा-निर्देश

पंचवर्षीय योजना की निर्धारित अवधि से 2-3 वर्ष पूर्व ही आगामी योजना के लिए सामान्य दिशा-निर्देश निर्मित कर लिये जाते हैं। इस अभिगत में सम्पूर्ण योजना का संक्षिप्त किन्तु मूलभूत एवं सारगर्भित दर्शन समाहित होता है। इसमें मुख्य रूप से उन लक्ष्यों की रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है जिन्हें अगली प्रस्तावित योजना में प्राप्त किया जाना है। यह अभिगम(Approach)-पत्र सत्तारूढ सरकार के सामाजिक, आर्थिक विकास से सम्बन्धित बुनियादी लक्ष्यों का दस्तावेज होता है। इसमें सामान्यतः अगली पंचवर्षीय योजना के साथ-साथ 15-20 वर्षों के दूरगामी योजना दर्शन तथा रणनीति का भी चिन्तन दिखाई देता है। योजना आयोग के विशेषज्ञों द्वारा निर्मित इस दस्तावेज में आर्थिक विकास का प्रयुक्त किया जाने वाला मॉडल भी स्पष्टतः वर्णित रहता है। सम्पूर्ण योजना आयोग द्वारा स्वीकृति मिलने पर इसे केन्द्रीय मंत्रिमंडल एवं राष्ट्रीय विकास परिषद की प्रतिक्रिया प्राप्ति हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

6.5.2 द्वितीय चरण- ड्राफ्ट मेमोरेण्डम का निर्माण

ड्राफ्ट मेमोरेण्डम का निर्माण-कार्य एक लम्बी प्रक्रिया है। जब नई योजना से सम्बन्धित अभिगम-पत्र में वर्णित लक्ष्यों तथा रणनीति को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया जाता है तब योजना आयोग अपने तकनीकी विषय संभागों में पदस्थापित विशेषज्ञों की सहायता से विभिन्न कार्यदलों का निर्माण करता है। इन कार्यदलों में अनेक

अर्थशास्त्री, प्रशासक, अनुसंधानकर्ता, परामर्शदाता तथा तकनीकी विशेषज्ञों सहित सम्बन्धित मंत्रालय के अधिकारी भी सम्मिलित होते हैं। प्रायः एक ही विषय जैसे- शिक्षा या स्वास्थ्य के लिए आवश्यकतानुसार 5 से 15 तक कार्य दल भी बनाने पड़ सकते हैं। इन कार्यदलों का प्राथमिक कार्य योजना के प्रारम्भिक सामान्य दिशा निर्देशों के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र तथा उपक्षेत्र में विस्तृत योजनाएं निर्मित करना है। कार्यदलों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे योजना के लक्ष्यों की प्राप्ति के क्रम में कार्यक्रमों तथा नीतियों की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करें। इस चरण में योजना आयोग, राज्य सरकारों को भी प्रोत्साहित करता है कि वह अपने आयोजन मण्डलों, विभागों के माध्यम से कार्य दलों का निर्माण करें।

6.5.3 तृतीय चरण- ड्राफ्ट आउट-लाईन का निर्माण

योजना आयोग का यह तीसरा चरण ड्राफ्ट आउटलाईन (रूपरेखा प्रारूप) निर्माण का है। रूपरेखा ज्ञापन के बजाय रूपरेखा प्रारूप का दस्तावेज बड़ा तथा अधिक स्पष्ट होता है। योजना आयोग के विषय संभागों तथा तकनीकी एवं प्रशासनिक नियोजन संभागों की सहायता से निर्मित यह दस्तावेज संसद में भी प्रस्तुत किया जाता है तथा केन्द्रीय मंत्रालयों के साथ-साथ राज्य सरकारें भी अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। योजना निर्माण के इस तीसरे चरण में राज्यों के मुख्यमंत्रियों के साथ योजना आयोग की औपचारिक बैठकें महत्वपूर्ण सिद्ध होती हैं।

6.5.4 चतुर्थ चरण- अन्तरिम प्रतिवेदन

राज्यों के विभागों, केन्द्रीय मंत्रालयों, संसद, अकादमिक संगठनों, मीडिया तथा आम जनता से प्राप्त प्रतिक्रियाओं, सुझावों, समीक्षा, आलोचना तथा संशोधनों के आलोक में योजना आयोग संबंधित योजना का संशोधित अंतरिम प्रतिवेदन तैयार करता है, जिसे सम्पूर्ण योजना आयोग की बैठक में पुनः गंभीरता से जांचा-परखा जाता है तथा आयोग की स्वीकृति के पश्चात प्रायः केन्द्रीय मंत्रिमंडल में इस पर चर्चा होती है तथा अंत में इसे राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक में अन्तिम स्वीकृति हेतु रखा जाता है। योजना का अन्तिम प्रतिवेदन इस प्रपत्र पर विचारोपरान्त प्राप्त निष्कर्षों पर आधारित होता है। योजना आयोग राज्यों, जिलों और पंचायत समितियों द्वारा प्रस्तुत आवश्यकताओं, प्रस्तावों, कार्यक्रमों और परियोजना की आर्थिक और तकनीकी दृष्टिकोण से सावधानीपूर्वक जांच करता है और उनके आधार पर योजना निर्माण करता है।

जब योजना बना ली जाती है तो सुगम कार्यान्वयन तथा संसाधनों के आवंटन हेतु इसे वार्षिक योजनाओं में विभाजित किया जाता है। योजना राज्य सरकारों द्वारा कार्यान्वित की जाती है। योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद योजना के कार्यान्वयन से सम्बद्ध नहीं होते हैं। योजना आयोग योजना के उपयुक्त कार्यान्वयन हेतु केवल मशीनरी सुनिश्चित करता है। यह बनायी गयी योजना का कार्यान्वयन नहीं करता है। योजना की मॉनीटरिंग तथा मूल्यांकन, योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन तथा योजना के मूल्यांकन में लगी हुई अन्य एजेन्सियों के माध्यम से किया जाता है।

6.6 योजना की सीमाएं

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के प्रमुख उद्देश्य विकास दर में वृद्धि, व्यापक आधुनिकीकरण समाज के समाजवादी स्वरूप की स्थापना, आत्मनिर्भरता की प्राप्ति, पिछड़े वर्गों का उत्थान, संतुलित विकास तथा बड़े और पूंजीगत उद्योगों को प्रोत्साहन है। परन्तु यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि आयोजन के चार दशक गुजर जाने के बावजूद हम बेरोजगारी, अल्प बेरोजगारी, मूल्य वृद्धि और गरीबी की समस्याओं को हल नहीं कर पाये हैं। आंचलिक असमानताएं भी निरन्तर बनी हुई हैं। अपने जनशक्ति संसाधनों का भी अधिकतम सीमा तक उपयोग करने में असमर्थ रहे हैं। हमारी विकास दर अपर्याप्त रही है। आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण बढ गया है। इस प्रकार लक्ष्यों

और उपलब्धियों में विस्तृत अंतर रहा है। इन समस्याओं का श्रेय हमारी योजना पद्धति की अनेक सीमाओं को है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने 'योजना हेतु मशीनरी- 1968' पर अपने प्रतिवेदन में योजना आयोग और निजी क्षेत्र के बीच उपयुक्त सहयोजन का अभाव निर्दिष्ट किया था। निजी क्षेत्र को केवल योजना निर्माण के समय ही सम्बद्ध किया जाता है और उस समय भी दोनों में पारस्परिक विचार बहुत ही कम होता है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने केन्द्रीय सलाहकार समिति तथा औद्योगिक क्षेत्र से विचार-विमर्श के लिए सरकार द्वारा बनाई गई विभिन्न विकास परिषदों की भी आलोचना की। आयोग का मानना था कि इन परिषदों में उपयुक्त नेतृत्व तथा तकनीकी सहायता की कमी थी और इसलिये ये परिषदें सामान्यतः अप्रभावी रही थीं।

योजना परिषदों में वांछित क्षमता और अनुभव वाले प्रशिक्षित कार्मिकों का भी अभाव था। योजना निर्माण के समय तथा कार्यान्वयन के समय अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित क्षेत्रों में सहयोजन का अभाव था। इसके अतिरिक्त योजनाओं का कार्यान्वयन भी एक प्रकार से अपर्याप्त रहा। योजनाएं बनाते समय योजनाओं की व्यवहारिकता को तो ध्यान में रखना ही चाहिये साथ ही योजनाओं के कार्यान्वयन और मूल्यांकन में लगे हुए लोगों तथा एजेन्सियों पर भी उचित ध्यान दिया जाना चाहिये और एक उपयुक्त शोध तंत्र स्थापित किया जाना चाहिये। केवल आर्थिक विकास से भी देश का समग्र विकास नहीं हो सकता। अतएव समाज में संरचनात्मक तथा संस्थागत परिवर्तन लाना भी अनिवार्य है। सामान्यतः यह देखा गया है कि योजनाओं में समाजशास्त्रीय यथार्थवाद का अभाव होता है। यद्यपि कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है, तथापि भूमि सुधार की प्रक्रिया अत्यन्त ही धीमी रही है और छोटे तथा भूमिहीन श्रमिक अभी भी गरीबी में रह रहे हैं। आर्थिक सुधार और विकास के मार्ग में जातिप्रथा पर आधारित पारिवारिक वंशानुगत संबंध जैसी सामाजिक बांधाओं के सतत और वैज्ञानिक अनुसंधान हेतु भारतीय योजनाओं का अनुकूलन नहीं किया गया है। पिछड़ापन कम करने के लिए वित्तीय प्रोत्साहन पर्याप्त नहीं है। इस हेतु कुछ गैर-आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक कारकों पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

हमारी योजनाएं समय सारणी का पालन करने में असमर्थ रही हैं जिसके फलस्वरूप लागत में वृद्धि होती रही है। हमारी योजनाओं की निष्पादन प्रक्रिया इतनी धीमी है कि कुछ समय के पश्चात योजनाओं की अनुमानित लागत अपर्याप्त हो जाती है, क्योंकि समय के साथ मूल्य वृद्धि के फलस्वरूप व्यय में भी वृद्धि होती है। योजना के कार्यान्वयन और मूल्यांकन की महत्ता पर जोर नहीं दिया जाता है। सभी स्तरों पर योजना का निरीक्षण अप्रभावी रहा है। योजना कार्यान्वयन तथा योजना मूल्यांकन लालफीताशाही तथा संसाधनों के अपव्यय का शिकार है। आंचलिक और क्षेत्रीय योजनाएं तो सही मायने में कभी भी भारत में लागू नहीं हो पायी। भारत में योजनाओं का स्वरूप खंडीय रहा है। राज्य, जिला, विकास खण्डों तथा ग्राम स्तरों पर योजनाएं खण्डीय योजनाओं का विभाजन मात्र रही है। आधार स्तर पर आयोजन बहुत ही कमजोर है। जिला, विकास खण्ड और ग्राम स्तर पर निकाय (इकाई) राज्य और केन्द्र सरकार के आंकड़े इकट्ठे करते हैं और इन स्तरों पर विस्तृत रूप से सम्पूर्ण योजना पर कार्य नहीं किया जाता है। सामान्यतः नीतियां ऊपर के स्तर से स्थानीय लोगों को हस्तान्तरित कर दी जाती हैं और स्थानीय स्तर पर लोगों से केवल उसी ढांचे की पूर्ति अपेक्षित होती है। योजना में जन-साधारण तथा ऐच्छिक एजेन्सियों की भागीदारी भी काफी अपर्याप्त रही है।

6.7 निष्कर्ष

यद्यपि हमारी आयोजन पद्धति के सामने कई समस्याएं हैं, फिर भी स्थिति उतनी भयावह नहीं है। हम एक सामान्य विकास दर बनाये रखने में समर्थ रहे हैं। आधारभूत उद्योगों और संरचनात्मक ढांचे में विकास हुआ है। भारत खाद्य आयात पर आश्रित नहीं रहा है। शिक्षा, सामाजिक सेवाएं और मानवीय पूंजी भी विकसित हुई है तथा इसमें कुछ सीमा तक विस्तार भी हुआ है। आर्थिक संरचनात्मक ढांचे, ऊर्जा, संसाधनों, सिंचाई कार्यों और आवागमन

साधनों का भी विकास हुआ है। भारत की औद्योगिक क्षमता जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र की अहम भूमिका रही है, का भी विकास और विविधीकरण हुआ है।

योजनाओं के प्रशासनिक शोध तथा मूल्यांकन हेतु, लागत कम करने एवं विलम्ब दूर करने हेतु, कार्य पद्धतियों के सरलीकरण पर, अर्थव्यवस्था के विभिन्न खण्डों में पारस्परिक संबंधित कार्यों में बेहतर सहयोजन पर और अधिक अच्छे प्रशिक्षित कार्मिकों तथा आधारभूत स्तर पर, योजना के विकास पर समुचित बल देकर योजना पद्धति के समक्ष प्रस्तुत बाधाओं को दूर किया जा सकता है। जनसहभागिता के बिना कोई भी योजना सम्भव नहीं है। जनसाधारण केवल लक्ष्य नहीं है, बल्कि वे विकास रणनीति के माध्यम भी हैं। अतएव योजना बनाने तथा निर्णय लेने में, आयोजित कार्यों के कार्यान्वयन में, विकास के लाभों के वितरण में तथा योजनाओं के निरीक्षण और मूल्यांकन में जनसाधारण तथा ऐच्छिक एजेन्सियों को सम्मिलित किया ही जाना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में सर्व प्रथम बुनियादी आर्थिक योजनाऐं बनाने का काम कब शुरू हुआ?
2. योजना का क्या तात्पर्य है?
3. हेनरी फेयोल के अनुसार योजना का क्या अर्थ है?
4. भारत की राष्ट्रीय आय को दो गुना करने के उद्देश्य से कब और किसके द्वारा एक दस वर्षीय योजना का निर्माण किया गया?
5. योजना आयोग का निर्माण कब किया गया?

6.8 सारांश

भारत द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाये जाने के कारण नियोजित अर्थव्यवस्था के साथ चलना आवश्यक हो गया। 69 वर्षों (सन्1949-2018) के अनुभव ने यह दर्शाया है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में नियोजन ने नियोजन के संस्थागत नेटवर्क, मिश्रित अर्थव्यवस्था एवं सार्वजनिक सेवाओं की बढती हुई भूमिका का एक शक्तिशाली आधार निर्मित कर लिया है। योजना आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद, राज्य योजना मण्डल व तंत्र, जिला नियोजन व्यवस्था आदि ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में, नियोजन को अविलम्ब प्रदान किया है परन्तु ये योजनाओं को क्रियान्वित करने में असफल रहे हैं और अधिकतर पंचवर्षीय योजनाएं कुछ क्षेत्रों में आंशिक सफलता प्राप्त कर सकी है एवं कुछ अन्य में पूर्णतया असफल रही है। सन् 1991 में नई अर्थव्यवस्था के आने व 20-25 वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नवीन आर्थिक परिदृश्य के उद्-भव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय नियोजन को निर्माण व क्रियान्वयन दोनों ही स्तरों पर उपयुक्त मार्ग नहीं दिया जा सकता। नियोजन प्रक्रिया नौकरशाही प्रकृति से भरी हुई एवं राजनीतिक विचारों व दृष्टिकोणों के नियंत्रण में रही है और देश के सर्वसम्मिलित विकास पर ध्यान नहीं दिया गया है। नियोजन के क्रियान्वयन में निजी क्षेत्र, विदेशी निवेश, जनभागीदारी, उदार आर्थिक विचार आदि की सरकार एवं नौकरशाही द्वारा अपने हितों, शक्ति, प्रतिष्ठा, प्रभुता, स्थान आदि के कारण पूर्णतया अवहेलना की गई। आधुनिक समय की मांग है कि सर्वसम्मिलित उन्नति की ऐसी योजना विकसित की जाए जिसमें प्रत्येक नागरिक और विदेशी संस्थाओं को भाग लेना और योगदान करना आवश्यक हो। इस प्रकार से यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि सामाजिक आर्थिक विकास के लक्ष्यों के प्रति वचनबद्ध किसी भी देश के लिए योजना एक आवश्यक घटक है। हमारी योजनाओं का लक्ष्य सदैव ही व्यवस्थित और संतुलित विकास हेतु सामाजिक, आर्थिक और संरचनात्मक परिवर्तन रहा है। इस अध्याय में योजना के महत्व, योजना के क्रम विकास और देश में योजना पद्धति की प्रकृति को स्पष्ट कर भारत में योजना व्यवस्था का विश्लेषण किया गया है।

6.9 शब्दावली

अर्थव्यवस्था का उपरी ढ़ाँचा- अर्थव्यवस्था के उपरी ढ़ाँचे के निर्माण का अर्थ है सड़कों के जाल का विकास, सिचाई तथा जल विद्युत कार्यो का निर्माण, रेलवे का विकास तथा अन्य पूंजी आधारित परियोजनाएँ जो देश की आर्थिक सम्पत्ति होती है।

खण्डों में विभाजित कृषि भूमि- भूमि के छोटे-छोटे भागों में विभाजन और उप-विभाजन से कृषि भूमि का अपव्यय होता है। कृषि लागत में वृद्धि तथा श्रम और पूँजी का अधूरा उपयोग होता है।

मुद्रा स्फीती- जब आय अर्जन की अपेक्षा मुद्रा आय में तीव्र गति से वृद्धि होती है तो मुद्रा स्फीती हो जाती है। जब वस्तुओं और सेवाओं की कुल पूर्ति की वृद्धि की तुलना में मौद्रिक रूप में कुल प्रभावी मांग अधिक तीव्र गति से बढ़ती है तो मुद्रा स्फीती होती है।

वंशानुगत सम्बन्ध- वंशानुगत सम्बन्ध ऐसे पारिवारिक संबंध अथवा निकट और दूर के रिश्तेदारों के बीच के सम्बन्ध हैं जो सामाजिक-व्यवहारिक प्रतिमानों को प्रभावित करते है।

राष्ट्रीय आय- उत्पादन के साधनों (भूमि, श्रम तथा पूँजी) से होने वाली आय की राशि जिसकी पूर्ति देश के निवासियों द्वारा प्रत्यक्ष करों (सम्पत्ति कर, आय कर, उपहार कर) के घटायें जाने के पूर्व की जाती है, राष्ट्रीय आय है।

आंचलिक योजनाएँ- इसमें विशिष्ट अंचल की अर्थव्यवस्था के विभिन्न प्रखण्डों का सहयोजन सम्मिलित होता है। इन प्रखण्डों को कुछ प्राकृतिक एवं आर्थिक समानताओं से सम्बद्ध किया जाता है।

6.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1930, **2.** उचित रीति से सोच-विचार कर कदम उठाना, **3.** पूर्व दृष्टि, **4.** सन् 1934 में श्री एम0 विश्वेस्वैरैया, **5.** 15 मार्च 1950

6.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी, ए0 और महेश्वरी एस0 आर0 2015, पब्लिक एडमिनिशट्रेशन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
2. सरूप, ए0 और ब्रहम एस0 2016, प्लानिंग फॉर, मिलियंस विले ईस्टर्न: नई दिल्ली।
3. उप्पल, जे0 एस0 2017, इंडियन इकौनामिक प्लानिंग, मैक्मिलेन: दिल्ली।

6.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी, ए0 और महेश्वरी एस0 आर0 2015, पब्लिक एडमिनिशट्रेशन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
2. सरूप, ए0 और ब्रहम एस0 2016, प्लानिंग फॉर, मिलियंस विले ईस्टर्न: नई दिल्ली।
3. उप्पल, जे0 एस0 2017, इंडियन इकौनामिक प्लानिंग, मैक्मिलेन: दिल्ली।

6.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में योजना प्रक्रिया की विवेचना कीजिये।
2. भारत में योजना के उद्देश्यों की विवेचना कीजिये।
3. हमारी योजना प्रक्रिया की सीमाएँ क्या हैं?

इकाई- 7 विकास का उद्देश्य

इकाई की संरचना

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 विकास की संकल्पना
7.3 भारत में विकास संबंधी लक्ष्य
 7.3.1 आर्थिक संवर्धन
 7.3.2 आत्म निर्भरता
 7.3.3 औद्योगिकीकरण
 7.3.4 आधुनिकीकरण
 7.3.5 सामाजिक न्याय
7.4 हमारे योजनागत उद्देश्य
7.5 निष्कर्ष
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

विकासशील देशों के लिए विकास की समस्या का सामना करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जब देश साम्राज्यवादी सत्ता से मुक्त हो जाते हैं और स्वयं के स्वामी बन जाते हैं, तब जनता सरकार से अपेक्षा करती है कि विदेशी सत्ता के शासनकाल में रूकी हुई विकास प्रक्रिया को गति प्रदान की जाये। प्रशासन विकास के मौलिक उद्देश्यों की पूर्ति का सर्वमान्य माध्यम है, परन्तु दुर्भाग्यपूर्ण साम्राज्यवादी विरासत के कारण जनता प्रशासन में दूरी बनी हुई है तथा जनता प्रशासन के प्रति आशंकित है। दोनों में दूरी देखने को मिलती है साथ ही अपेक्षित सहभागिता का अभाव भी दृष्टिगत है। जनता प्रशासन की क्षमता के प्रति भी आश्वस्त नहीं है कि वह विकास की नवीन और बढती हुई चुनौतियों का सामना करने में सक्षम है। विकास एक जटिल और बहुपक्षीय संकल्पना है। विकास के लक्ष्य, विकास की संकल्पना पर निर्भर होते हैं जो देश में प्रचलित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर होती है। विकास को न तो आर्थिक विकास और न ही प्रति व्यक्ति आय के स्तर के अनुरूप निर्धारित किया जा सकता है। यह एक समग्र संकल्पना है जो सामाजिक रूप से विद्यमान सभी सहज पहुलओं से सम्बन्धित है।

विकास सम्बन्धी लक्ष्य या उद्देश्य अल्पावधि या दीर्घावधि के हो सकते हैं। उनका वास्तविक तथा प्रभावी अनुसरण होने अथवा न होने के आधार पर वे वास्तविक या वर्णित भी हो सकते हैं। भारत ने अनेक उद्देश्यों और लक्ष्यों वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रणाली की संरचना के अनुरूप विकास सम्बन्धी योजना को अपनाया जो अन्य सभी उद्देश्यों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। सामाजिक समानता दूसरा उद्देश्य है, जिसे भारत में प्रवृत बेरोजगारी, गरीबी, आय में विषमताओं तथा क्षेत्रीय असंतुलन सम्बन्धी परिस्थितियों के कारण काफी महत्व दिया गया। हमारे देश में अनुसरण किए जा रहे अन्य विकास सम्बन्धी लक्ष्य हैं- आधुनिकीकरण, औद्योगिकरण तथा

अत्मनिर्भरता। इस इकाई में विकास और संवर्धन के बीच सम्बन्ध स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायेगा तथा विकास के उन विभिन्न लक्ष्यों पर प्रकाश डाला जायेगा, जिनके सम्बन्ध में सभी पंचवर्षीय योजनाओं में विशेष जोर दिया गया। विकास सम्बन्धी नीतियों तथा कार्यक्रमों के गठन और कार्यान्वयन के दौरान सामने आने वाली कठिनाईयों को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया जायेगा।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विकास का अर्थ एवं आर्थिक विकास के साथ इसके सम्बन्ध को समझ पायेंगे।
- देश में विकास सम्बन्धी लक्ष्यों को जान पायेंगे।
- पंचवर्षीय योजनाओं के विभिन्न उद्देश्यों को जान पायेंगे।
- विकास सम्बन्धी लक्ष्यों की उपलब्धि में बाधक समस्याओं के संबंध में जान पायेंगे।

7.2 विकास की संकल्पना

विकास की अवधारणा न तो नवीन है और ना ही प्राचीन। विकास एक निरन्तर परिवर्तनशील और गतिशील प्रक्रिया हैं। सभ्यता के विकास के साथ इसके विभिन्न रूप और अवधारणा रही हैं। 19वीं सदी की तुलना में आज विकास की प्रकृति अलग प्रकार की हैं। विकास एक बहुआयामी अवधारणा है, जिसकी निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। सच तो यह है कि विकास की एक संतोषप्रद सर्वव्यापी परिभाषा न तो हो सकती है और न ही की जा सकती है। विकास के विभिन्न लक्ष्यों का विश्लेषण करने से पहले 'विकास' शब्द का अर्थ जानना जरूरी है। विकास की संकल्पना को परिभाषित करना कठिन है। सामान्य रूप से इसका आशय है, प्रगति अर्थात् एक असंतोषप्रद परिस्थिति की अवस्था को पीछे छोड़कर बेहतर परिस्थिति की अवस्था की ओर अग्रसर होना।

हेन-बीन-ली के अनुसार, ''विकास प्रगतिशील राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों की उपलब्धि के लिए नए, अनवरत परिवर्तनों का सामना करने के सम्बन्ध में प्रणाली की क्षमताओं में सतत् विकास अर्जित करने की प्रक्रिया हैं। विकास का आशय है- परिवर्तन और विकास।'' व्यापक समर्थन प्राप्त करने वाली एक परिभाषा मेयर की यह है, जिसमें कि आर्थिक विकास को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है, जहाँ दीर्घावधि में देश में प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में इस शर्त के साथ वृद्धि हो, कि सुनिश्चित गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों की संख्या में वृद्धि नहीं होगी तथा आय का वितरण और असमानता अधिक नहीं होगी।'' जेराल्ड ई0 काईडन के अनुसार, ''विकास शब्द का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं हैं। अर्थशास्त्री इसे आधुनिक उत्पादकता के रूप में परिभाषित करते हैं, समाजशास्त्री इसका प्रयोग सामाजिक परिवर्तन से करते हैं, राजनीतिक विचारक इसे जनतंत्रकरण, राजनीतिक क्षमता अथवा विकासशील सरकार के रूप में करते हैं, प्रशासक इसे अधिकारी तंत्र, प्रशासनिक कुशलता एवं क्षमता के रूप में मानते हैं।'' आक्सफोर्ड शब्दकोष ने विकास को उच्चतर, पूर्णत्तर और प्रौढ स्थिति की और बढना बताया है। एडवर्ड वीडनर के अनुसार, ''विकास गतिशील है जो सदैव चलता रहता है। विकास मन की स्थिति, प्रवृति और एक दशा है जो एक निश्चित लक्ष्य के बजाय एक विशिष्ट दिशा में परिवर्तन की गति हैं।'' जान माण्ट गोमरी के अनुसार, ''विकास जो अभीष्ट अथवा परिवर्तनशील होता हैं।''

'विकास' शब्द को 'संवर्धन' शब्द के समान नहीं समझना चाहिये। यद्यपि, संवर्धन विकास की पूर्व शर्त है, तथापि अर्थव्यवस्था में मात्र संवर्धन से ही कोई अर्थव्यवस्था विकसित नहीं हो जाती। चार्ल्स पी0 किंडल वर्गर का यह कहना सही है कि जहाँ आर्थिक संवर्धन से मात्र उत्पादन में वृद्धि का संकेत मिलता हैं, वहीं आर्थिक विकास से उत्पादन के तकनीकी और संस्थागत संगठनों तथा आय की वितरण प्रणाली में परिवर्तन का आभास मिलता है।

विकास के उद्देश्य की तुलना में आर्थिक संवर्धन की अनुभूति अधिक सरल है। अधिक संसाधनों को संगठित करके और उनकी उत्पादकता को बढाकर उत्पादन स्तर ऊंचा उठाया जा सकता है। विकास की प्रक्रिया बहुत व्यापक है। उत्पादन में वृद्धि के अलावा इसमें उत्पादन के संयोजन में परिवर्तन तथा उत्पादक संसाधनों के आवंटन में बदलाव भी शामिल है, जिससे सामाजिक न्याय सुनिश्चित किया जा सके। कुछ देशों में आर्थिक संवर्धन की प्रक्रिया में आर्थिक विकास भी शामिल होता है हालांकि, यह जरूरी नहीं हैं। संवर्धन के अभाव में विकास कल्पनानीत है, परन्तु विकास के बिना संवर्धन संभव है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि विकास परिवर्तन की वह स्थिति है जिसके द्वारा परम्परागतपूर्ण स्थिति में हम आधुनिक स्थिति पर आते हैं। विकास सामाजिक गतिविधियों से प्रभावित होता है जो सदैव राष्ट्रीय विकास एवं सामाजिक आर्थिक प्रगति की ओर निर्देशित होती है। भारत में आयोजकों ने यह तथ्य महसूस किया कि विकास की संकल्पना में निम्नांकित घटक अवश्य शामिल होने चाहिए-

1. आर्थिक संवर्धन को विकास के समान नहीं समझा जा सकता। वास्तव में इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि निवेश, पूंजी-निर्माण, औद्योगिक और राष्ट्रीय आय में वृद्धि से सम्पूर्ण विकास हो पाएगा, जिसके परिणामस्वरूप गरीबों को बेहतर जीवन का अवसर मिल सकेगा। अतःविकास को पूर्णरूप से एक अकेली, एकीकृत संकल्पना के रूप में समझना जरूरी है, जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक आयाम शामिल है।
2. सामाजिक न्याय विकास का आधार है।
3. विकास एक सहभागिता वाली प्रक्रिया है न कि ऐसी प्रक्रिया, जिसमें विशिष्ट वर्ग के चुने हुए अल्पसंख्यक विकास की प्रक्रिया को नियंत्रित तथा निर्देशित करते हैं।
4. आत्म-निर्भरता, विकास का एक अभिन्न अंग है। इसका आशय यह है कि विकासशील देशों को आपसी फायदों के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पूर्ण समानता के आधार पर, विकास प्रक्रिया में हिस्सा लेने के योग्य होना चाहिए।
5. प्राकृतिक संसाधनों की कमी के कारण यह जरूरी है कि संवर्धन के अनुसरण में उन संसाधनों का अत्यधिक या असंतुलित इस्तेमाल न किया जाये, ताकि उनका प्राकृतिक संतुलन बना रहे।

7.3 भारत में विकास संबंधी लक्ष्य

विकसित और विकासशील देशों में संवर्धन और विकास सार्वजनिक नीतियों पर हावी रहते हैं। सभी जगह विकास में सरकार के सामूहिक प्रयासों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, जो विभिन्न देशों में गुणात्मक तथा मात्रात्मक रूप से भिन्न होती है। यह कई तथ्यों पर निर्भर होती है, जिसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य विकास का उद्देश्य या लक्ष्य है। इसका आशय यह है कि विभिन्न देशों में विकास की संकल्पना को अलग ढंग से समझा जाता है। यह विभेद विभिन्न देशों द्वारा अपनाए गए विकास के लक्ष्यों की विविधता और भिन्नता से सम्बन्धित है। चूंकि विकास बहुमूखी है और उसका उद्देश्य समाज का लोक कल्याण करना है तथा नागरिकों को अच्छा जीवन प्रदान करना है। समस्त विकासशील राष्ट्रों का उद्देश्य लगभग एक जैसा होता है, जिसमें निम्न गतिविधियां सम्मिलित है- 1. राष्ट्र का उत्कृष्ट विकास, 2. राष्ट्र की आय में वृद्धि, 3. देश की जनता का जीवन-स्तर विकसित करना, 4. देश को आत्मनिर्भरता प्रदान करना, 5. नागरिकों को रोजगार उपलब्ध कराना। 6. कानून व्यवस्था में सुधार करना तथा न्याय प्रदान करना, 7. आर्थिक - सामाजिक क्षेत्र में प्रगति करना, 8. विकास कार्यों में जनता की सहभागिता प्राप्त करना, 9. नीतियों एवं योजनाओं को लागू करना, 10विकास कार्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहायता प्रदान करना।

विकास के उद्देश्यों में विभेदों से विभिन्न देशों की परिस्थितियों और अभिवृतियों के विभेद परिलक्षित होते हैं, जो उनके इतिहास, प्राकृतिक परिस्थितियों राजनीतिक तथा सामाजिक प्रणाली, विश्व समुदाय में उनकी हैसियत और

महत्व पर निर्भर होती हैं। भारत में विकास की संकल्पना भी देश में विकास के लक्ष्यों पर निर्भर करती है। यह लक्ष्य है- आत्मनिर्भरता, औद्योगिकरण, आधुनिकीकरण, आर्थिक संवर्धन और सामाजिक न्याय। इन लक्ष्यों की विस्तारपूर्वक चर्चा इस प्रकार है-

7.3.1 आर्थिक संवर्धन

विकास एक व्यापक प्रक्रिया है इसके अन्तर्गत अनेक बातों का समावेश होता है। किन्तु विकास में आर्थिक विकास का अधिक महत्व रहता है। अनवरत रूप से उत्पादन बढाने के क्रम में हमने मशीनरी उपकरणों तथा बुनियादी सुविधाओं जैसे पूंजीगत लक्ष्यों से सम्बन्धित साधनों में वृद्धि की है। यह अनिवार्य है, क्योंकि इससे हमारे श्रमिक वर्ग को वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रचुर उत्पादन करने में मदद मिलती है, अन्ततः बचत और पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि होती है। अतः उत्पादन में वृद्धि के माध्यम से विकास करना भारतीय योजना की आधारशीला बन गया है। दूसरी और एक देश में हमारी सभी विकास सम्बन्धी नीतियों में यह नजर आता है। भारतीय योजनाओं के स्वरूप को देखते हुए यह स्पष्ट है कि इनमें आर्थिक विकास को अधिक महत्व दिया गया है। योजनागत लक्ष्यों के निर्धारण और विभिन्न क्षेत्रों में संसाधनों के आवंटन का उद्देश्य आर्थिक संवर्धन करना ही है।

पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) से आरम्भ होने वाले आर्थिक योजनागत काल में राष्ट्रीय आय में 2.1 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर अधिक जोर देकर राष्ट्रीय आय में 4.5 प्रतिशत वृद्धि के लक्ष्य की कल्पना की गई। तीसरी योजना में राष्ट्रीय आय में 5.6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया। इसमें कृषि उत्पादन के संवर्धन पर जोर दिया गया। चौथी योजना का मुख्य उद्देश्य विकास पर और स्थिरता बनाए रखना था। पांचवी योजना में राष्ट्रीय आय में 5.5 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया। इसमें आर्थिक विकास के उद्देश्यों को गरीबी उन्मूलन तथा आत्म-निर्भरता की उपलब्धि जैसे अन्य लक्ष्यों का अनुपूरक लक्ष्य माना गया। छठी योजना में सकल घरेलू उत्पाद में 5.2 प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए पूंजीगत वस्तुओं के उपयोग के सम्बन्ध में विद्यमान कुशलता स्तर में सुधार लाने, निवेश दर को ऊंचा उठाने, निवेश पद्धति को अधिक व्यावहारिक बनाने और भुगतान शेष को निश्चित सीमाओं के अन्दर रखने पर अधिक जोर दिया गया। सातवीं योजना में सकल घरेलू उत्पाद या राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया। आठवीं, नौवी, दसवीं, ग्यारवीं और बारहवीं पंचवर्षीय योजनाओं में इसी प्रकार आर्थिक वृद्धि का लक्ष्य रखा गया।

अतः हमारी योजनाओं में आर्थिक विकास को विशेष महत्व दिया गया। किसी योजना के निष्पादन का मूल्यांकन करते समय उसकी विकास दर को पूरा करने के लिए उत्पादन की दर ऊंची होना जरूरी समझा गया है। इसलिये हमारे संसाधनों के समुचित प्रयोग पर हमेशा जोर दिया जाता है, जिससे लोगों की जरूरतें पूरी की जा सकें। यह समझा जाता है कि हमारी उत्पादन प्रक्रिया से उद्-भव संवर्धन आहिस्ता-आहिस्ता सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में व्याप्त हो जाएगा। उत्पादन में वृद्धि के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी की भूमिका और उसके महत्व पर भी जोर दिया गया। हमारे योजनाकाल के आरम्भ से लेकर हम आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन बढाने के उपाय सुलझाने के साथ आर्थिक विकास को उच्च प्राथमिकता देते आए हैं। गरीबी हटाने, समुचित और उपयुक्त समाज की स्थापना करने और लोगों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए उत्पादन में वृद्धि करना आवश्यक समझा गया है।

हमारी योजनाओं में विकास की संतुलित दर की उपलब्धि को भी महत्व दिया गया और उद्योग, कृषि तथा छोटे उद्योग (उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग) तथा भारी उद्योग (पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग) के बीच एक संतुलन स्थापित कर लिया गया। योजनाओं में अर्थव्यवस्था के वस्तुओं का उत्पादन करने वाले क्षेत्र और सेवाएं उपलब्ध कराने वाले क्षेत्र के बीच संतुलन स्थापित करने का भी लक्ष्य रखा गया।

7.3.2 आत्म निर्भरता

किसी देश को आर्थिक रूप से स्वावलंबी तभी माना जा सकता है जब वह अपनी आवश्यकताओं, संसाधनों और उपयोगिता के अनुरूप विकास के मार्ग का अनुसरण करें। भारत जैसा विकासशील देश तब तक आत्मनिर्भर नहीं बन सकता जब तक कि व्यापार, निवेश और प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में अन्य देशों पर आश्रित रहना छोड़ नहीं देता। हमारी योजनाओं में आत्मनिर्भरता के निम्नांकित आयामों पर जोर दिया गया है-

1. कतिपय महत्वपूर्ण वस्तुओं के आयात में कमी लाना।
2. विदेशी सहायता पर निर्भरता में कमी।
3. घरेलू उत्पादन का विविधकरण।
4. निर्यात का संवर्धन कराना जिससे कि हम अपने स्त्रोतों से आयात की जाने वाली वस्तुओं की अदायगी कर सकें।

चूंकि विदेशी मुद्रा हमारे विकास संवर्धन में बांधा हो सकती है, इसलिए हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में आत्म-निर्भरता तथा आयात प्रतिस्थापन के माध्यम से इसका प्रबन्ध करने का प्रयत्न किया गया है। हम देश में मशीनरी के विनिर्माण का विकास करके आयात प्रतिस्थापन की उपलब्धि चाहते हैं। आत्म निर्भरता की उपलब्धि के माध्यम से कोई भी देश विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था के साथ समरूपों का तालमेल सुनिश्चित कर सकता है और बाहरी दबावों तथा व्यवधानों का खतरा कम करने में समर्थ हो सकता है। आर्थिक विकास के उद्देश्य के साथ आत्म-निर्भरता की उपलब्धि अपेक्षित है, परन्तु विकास की कीमत पर इसकी उपलब्धि अनुचित है। आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन के अर्थ को आपस में उलझाना नहीं चाहिए। रक्षा जैसे क्षेत्रों में स्वावलम्बन अनिवार्य है तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक भी है। अन्य क्षेत्रों में केवल आत्मनिर्भरता को महत्वपूर्ण माना है अर्थात् इन क्षेत्रों में सामान्य मांग घरेलू उत्पादन से पूरी हो जाती है, परन्तु अन्य देशों से आयात करना आवश्यक हो जाने की स्थिति में निर्यात के माध्यम से अर्जित विदेशी मुद्रा के आधार पर ही खरीद की जाती है। कुल मिलाकर विदेशी मुद्रा की मांग को विदेशी मुद्रा के निर्यात के समरूप रखा जाता है। यह आत्मनिर्भरता की विशेषता है।

1950 के दशक में देखा जाये तो भारत अन्य देशों पर निर्भर था, क्योंकि खाद्यान्नों का उत्पादन पर्याप्त नहीं था, बुनियादी उद्योग प्रायः उपलब्ध नहीं थे और बचत दर काफी कम थी। इस कारण भारतीय आयोजकों के लिए हमारी योजनाओं में आत्मनिर्भरता के लक्ष्य पर यथोचित ध्यान देना आवश्यक हो गया। पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में आत्मनिर्भरता को विशेष महत्व नहीं मिल पाया। तीसरी योजना में पहली बार यह कहा गया कि लगभग एक दशक में देश को आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास किया जायेगा। साथ ही यह भी यह कहा गया कि इस समय देश के आगे प्रस्तुत भुगतान शेष की समस्याएं अस्थायी नहीं हैं और आने वाले कई वर्षो तक यह समस्याएं बनी रहेगी। इस अवधि के लिए बाहरी सहायता जरूरी हैं। परन्तु अर्थव्यवस्था को अधिक से अधिक आत्मनिर्भर बनाने का लक्ष्य सामने होना चाहिये, जिससे कि दस या बारह वर्षों की अवधि में यह अपने उत्पादन और बचत में से पर्याप्त निवेश करने में समर्थ हो सके। विदेशी पूंजीगत वस्तुओं का सामान्य आयात जारी रखा जाए परन्तु बाहरी विशेष पूंजीगत वस्तुओं पर निर्भरता को उत्तरोत्तर कम करते हुए समाप्त करना आवश्यक है। चौथी योजना में इस तथ्य को मूर्त रूप दिया गया और इसकी उपलब्धि के लिए समयबद्ध कार्यक्रम निर्धारित किया गया।

7.3.3 औद्योगिकरण

जैसा कि विदित हैं कि राष्ट्रीय आय की विकास दर में वृद्धि भारत के योजनाबद्ध विकास का मूल विषय रहा है। इसकी उपलब्धि के लिए हमारे योजनाकाल के आरम्भ में पूंजीगत वस्तुओं और बुनियादी उद्योगों के विकास की आवश्यकता महसूस की गई। अतः देश के विकास की रूपरेखा में पूंजीगत वस्तुओं से संबंधित उद्योगों के विकास

को सर्वाधिक महत्व दिया गया। कोयला, इस्पात, मशीन, विद्युत, रसायन आदि जैसे आधारभूत पदार्थों और वस्तुओं के उत्पादन पर ध्यान दिया गया। संरचनात्मक सुविधाओं की स्थापना और पूंजी के संचयन के लिए यह अनिवार्य केवल भारी और आधारभूत वस्तुओं के उत्पादन, उपभोक्ता वस्तुओं का गैर-उत्पादन तथा नियोजन के अवसरों में कमी जैसी औद्योगीकरण की प्रारंभिक कठिनाईयों के बावजूद यह महसूस किया गया कि इस उद्देश्य पर जोर देने के फलस्वरूप पूंजीगत और उपभोक्ता वस्तुओं, ऊंची आय के स्तर पर नियोजन, पूंजी निर्माण तथा विकास दर की वृद्धि में व्यापक विस्तार होता है। हमारी योजनाओं में औद्योगिकरण के उद्देश्य को उच्च प्राथमिकता दी गई है। आयोजकों ने उपभोक्ता वस्तुओं की पर्याप्त सप्लाई की व्यवस्था पर जोर दिया। कुटीर उद्योगों को उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए बढावा दिया जा रहा है। इस प्रकार के उद्योगों में अधिक पूंजी की अपेक्षा नहीं होती तथा श्रमिकों की संख्या भी अधिक होती है। बचत और निवेश की वर्तमान दर, आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात विस्तार पर जोर देने के कारण हमारे औद्योगिकी उत्पादन को बढावा मिला है। औद्योगीकरण के लिए इस नीति का शीघ्र कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिये हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में उद्योगों के लिए पर्याप्त धनराशि आवंटित की गई है। हमारी योजनाओं में प्रमुखतः निम्न बातों पर जोर दिया गया-

1. आन्तरिक क्षेत्र (Core Sector) के उद्योगों का तीव्र विकास और इसके लिए इस्पात, अलौह धातुओं, उर्वरकों, खनिज तेलों तथा मशीन निर्माण को उच्च प्राथमिकता देना।
2. ऐसे उद्योगों का विकास करना, जिनके निर्यात में वृद्धि की संभावनाएं हो।
3. जन-उपभोग की वस्तुओं, उद्योगों के उत्पादन को बढाना।
4. निर्यात को छोड़ अनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन को सीमित करना।
5. छोटे उद्योगों का विकास करने के उद्देश्य से 124 मदों को केवल उनके लिए रिजर्व करना और सहायक उद्योगों के राहत कार्यक्रम को विकसित करना जिससे वे बड़े उद्योगों के पोषक उद्योग बन सके।

इसके अतिरिक्त उद्योग और खनन, विद्युत और परिवहन तथा संचार जैसे अर्थव्यवस्था के कतिपय क्षेत्रों के विकास को उच्च प्राथमिकता दी गई है।

7.3.4 आधुनिकीकरण

छठी पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज के अनुसार आधुनिकीकरण शब्द का आशय है- आर्थिक गतिविधियों की रूपरेखा में विविध संरचनात्मक और संस्थागत परिवर्तन। उत्पादन के आंशिक संयोजक में बदलाव, गतिविधियों का विविधीकरण, प्रद्योगिकी की उन्नति और संस्थागत नवीनीकरण आदि आधुनिकीकरण सम्बन्धी प्रयासों का अंश हैं। आयोजकों ने विकास के सम्बन्ध में विज्ञान तथा प्रद्योगिकी की भूमिका को हमेशा सराहा है। उत्पादन में विज्ञान और प्रद्योगिकी के अनुप्रयोग से उत्पादन का स्तर ऊंचा उठता है तथा आर्थिक विकास की गति को बढावा मिलता है। हमारी योजनाओं में विदेशी प्रद्योगिकी पर हमारी निर्भरता को कम करने के लिए अनुसंधान और विकास की आवश्यकता पर जोर दिया गया। यद्यपि संरचनात्मक विविधकरण की संकल्पना दूसरी पंचवर्षीय योजना के साथ शुरू हुई थी, तथापि आधुनिकीकरण की संकल्पना की स्पष्ट व्याख्या छठी पंचवर्षीय योजना में ही की गई। योजना के अन्य पहलुओं में निम्नलिखित तत्व शामिल कए गए-

1. सरकारी एवं निजी क्षेत्र के बहुत से उद्योगों में विनिर्माण क्षमता में काफी वृद्धि करनी होगी, जिससे न केवल उपभोक्ता वस्तुएं और चिरस्थायी उपभोक्ता वस्तुएं उपलब्ध कराई जा सके बल्कि कृषि तथा औद्योगिक विकास को बढावा देने के लिए अन्तर्वती (Intermediate) और पूंजी वस्तुओं का संभरण भी बढाया जा सके।
2. सामान्य तौर पर पूंजी वस्तु उद्योगों और विशेषकर इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग पर विशेष ध्यान देना होगा, क्योंकि इनसे आर्थिक क्रिया के विस्तृत क्षेत्र को बढावा मिलता है।

3. योजना के लिये काफी मात्रा में विदेशी संसाधनों की आवश्यकता है और इन्हें प्राप्त करने के लिए इंजीनियरी सामान, औद्योगिक वस्तुओं और परियोजना निर्यात में काफी वृद्धि करनी होगी।
4. औद्योगिक प्रगति निरन्तर तकनीकी विकास पर निर्भर करेगी। सबसे अधिक बल आन्तरिक अनुसंधान और विकास पर देना होगा, जिससे कि देशी तकनीकी विकास प्रोन्नत किया जा सके।
5. पिछड़े क्षेत्रों में विकास के लिए नई कार्य नीतियां निर्धारित करने की आवश्यकता है। इसलिए विकास के नए मॉडल लागू करने पर बल देना होगा।

इसके अतिरिक्त उद्योगों में निजी निवेश को बढावा देने तथा उसका वित्त पोषण करने के लिए बैंकिग संस्थाओं का एक तंत्र स्थापित किया गया। सरकार ने संरचनात्मक व्यवस्था, कच्चे माल की सप्लाई और विपणन तथा प्रद्योगिकी के विकास में सहायता देने के लिए विविध संस्थाएं स्थापित की। लघु उद्योगों तथा कारीगरों को उत्पाद आरक्षण, अर्थात विनिर्दिष्ट वस्तुओं का उत्पादन केवल लघु उद्योगों द्वारा ही किये जाने की छूट देकर और वित्तीय छूट देकर संरक्षण दिया जा रहा था। हमारी योजनाओं में उद्योग के अलावा कृषि के क्षेत्र में भी आधुनिकीकरण का लक्ष्य रखा गया। हमारे योजनाकाल के प्रारम्भ में तत्कालीन पुरानी कृषि काश्तकारी प्रणाली, खेती-बाड़ी की पुरातन प्रद्योगिकी और उत्पादन में वृद्धि सम्बन्धी आधारभूत ढांचे की कमी के कारण हमारी कृषि की वृद्धि अधिक नहीं थी, इसलिये इस क्षेत्र का आधुनिकीकरण बहुत कठिन कार्य था। कृषि अनुसंधान और विस्तार संगठन के व्यापक ढंग, प्रमुख खाद्यान्नों और उद्यान-कृषि उत्पादन एवं समर्थन मूल्यों की पद्धति की स्थापना आधुनिकीकरण के परिणाम हैं।

7.3.5 सामाजिक न्याय

व्यापक और बहुआयामी असमानताएं गैर-विकास तथा पिछड़ेपन का एक महत्वपूर्ण कारण है। भारत में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में गहरी विषमताएं है। यदि सामाजिक विषमताएं इसी प्रकार बनी रहीं, तो राजनीतिक अधिकारों का कोई फायदा नहीं होगा। गरीबी, बेरोजगारी, क्षेत्रीय असंतुलन और आय की विषमताओं को दूर करने तथा लोकतंत्र को प्रभावी बनाने के लिए पर्याप्त समानता लाना अनिवार्य है। भारतीय आयोजकों ने भारत की अर्थव्यवस्था को समाजवादी पद्धति में रूपान्तरित करने पर जोर दिया। दूसरी पंचवर्षीय योजना में मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे के भीतर ही अर्थव्यवस्था को समाजवादी पद्धति में ढालने की आवश्यकता पर विचार किया गया। इसमें सुझाव दिया गया कि योजना सम्बन्धी मुख्य निर्णय समाज उत्थान के लिए समर्पित अभिकरणों द्वारा लिए जाने चाहिए और हमारी योजनाओं से कम सुविधा प्राप्त वर्ग को सबसे अधिक लाभ मिलना चाहिए। आय और सम्पत्ति का केन्द्रीकरण कम किया जाना चाहिए तथा अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका होनी चाहिए। सातवीं योजना के मार्गदर्शी सिद्धान्तों अर्थात् सामाजिक न्याय के साथ विकास और उत्पादता उन्नत करने के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए औद्योगिक क्षेत्र के विकास कार्यक्रम तैयार किये गये-

1. हमारी योजनाओं में निर्दिष्ट सामाजिक न्याय का उद्देश्य, समाज के निर्धनतम वर्गों के जीवन-स्तर से सम्बन्धित है।
2. परिसम्पतियों के वितरण में विषमताओं को कम करना।
3. बेरोजगारी दूर करना।
4. संतुलित विकास लाना।
5. पिछड़े वर्गो का उत्थान।

उपरोक्त उद्देश्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं -

1. **आय की विषमताओं को कम करना-** भारतीय नियोजन के उद्देश्यों में सबसे अधिक विफलता सामाजिक न्याय व आर्थिक समानता के उद्देश्यों को प्राप्त करने के सम्बन्ध में रही है। योजनाकाल में आय

व धन की असमानताएं बढ गई हैं। भारत में सामाजिक न्याय की उपलब्धि का अन्य तरीका आय की विषमताओं में तथा सम्पत्ति के केन्द्रीकरण में कमी लाना हो सकता है। भारत में आय की विषमताओं का मामला कृषि भूमि के स्वामित्व में असमानताओं और औद्योगिक क्षेत्र में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण से जुड़ा है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी बड़े व्यापारिक घरानों की तेजी से बढती हुई परिसम्पत्तियों के कारण यह विषमता बढ रही है। शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में आय की असमानताएं भी बढ रही हैं। आर्थिक विकास और औद्योगिकरण से यह समस्याएं सुलझने के बजाय और गंभीर हो गई हैं।

योजना आयोग के अनुसार भारत में विद्यमान आर्थिक विषमताओं की जड़ें सामन्ती प्रणाली के अवशेषों से जुड़ी हैं और इन अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों को नष्ट करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की उपलब्धि के लिए भारत सरकार ने योजनागत उद्देश्यों के माध्यम से, समुचित विधि निर्माण करते हुए कृषि क्षेत्र से सभी मध्यस्थों का उन्मूलन करने का वादा किया है। विषमताएं दूर करने के सम्बन्ध में कृषि जमाखोरों पर रोक लगाना एक अन्य उपाय हो सकता है।

विकासशील देशों में उच्च आय के मुख्यतः तीन स्त्रोत होते हैं- पूंजीगत प्रणालियां, उद्यमशील और संदिग्ध लाभ तथा व्यावसायिक कार्यकलापों के वेतन तथा परिलब्धियां।

अतः योजना आयोग के अनुसार विषमता दूर करने के लिए पहले पूंजीगत प्राप्तियों तथा लाभों पर रोक लगाई जानी चाहिए और उसके बाद हमारी कराधान प्रणाली को स्वयं ऐसा होना चाहिए जिसमें उपरोक्त स्त्रोतों से होने वाली आय का पता लगाया जाए और कर अपवंचकों को सख्त सजा दी जाए। इन विषमताओं में कमी लाने के लिए क्रमशः कृषि उत्पादन बढाने, कृषि पर आधारित उद्योगों तथा समाज सेवाओं का विकास करने, कृषक उत्पादकों के लिए उचित कीमतें सुनिश्चित करने, विकास दर में वृद्धि करने तथा कमजोर वर्गों की उत्पादकता को सुधारने और उत्पादन की आय के उचित वितरण जैसे अन्य उपायों को अपनाया जा सकता है।

2. **गरीबी और बेरोजगारी हटाना-** हमारी पंचवर्षीय योजना में नियोजन के अवसर पैदा करते हुए और उनका विस्तार करते हुए गरीबी तथा बेरोजगारी दूर करने पर जोर दिया गया। हमारी योजनाओं में मात्र श्रम प्रधान उद्योगों, लघु उद्योगों और हस्तशिल्प के संवर्धन की ही संकल्पना नहीं की गई, अपितु उनका मुख्य लक्ष्य नियोजन को लाभकारी बनाना तथा प्रति कामगार उत्पादन को ऊंचा उठाना था। योजनाओं में उपलब्ध उत्पादन क्षमता का सम्पूर्ण उपयोग करने तथा गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों, छोटे तथा मध्यम कृषकों तथा स्वनियोजन के अभिलाषी योग्य व्यक्तियों को ऋण और अन्य सहायता उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया।

   ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष नियोजन कार्यक्रम चलाने की भी व्यवस्था की गई, जहाँ बेरोजगारी तथा गरीबी की दर ऊंची पाई गई। सभी पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धनता उन्मूलन को विशेष महत्व दिया गया है। चौथी योजना में निर्धनता हटाने पर विशेष ध्यान देना शुरू किया गया। छठी योजना को गरीबी हटाओं से गरीबी की दर कम करने में परिवर्तित कर दिया गया। इस योजना में गरीबी की दर कम करने की समस्या के सम्बन्ध में निम्नलिखित उपाय किए गए- गरीबी का स्तर और अनुपात निर्धारित करना, वस्तुगत लक्ष्यों का विकास करना, लक्ष्यों के अनुरूप विनिर्दिष्ट कार्यक्रम तैयार करना तथा योजना में गरीबी को पूर्ण रूप से समाप्त करने पर जोर दिया गया।

   चूंकि पूर्ण उन्मूलन के लिए उठाया जाने वाला मुख्य कदम निर्धनता की दर में कमी लाना है, इसलिये छठी योजना में सरकार ने वस्तुगत परिस्थतियों के अनुरूप अपना दृष्टिकोण बदलते हुए लक्ष्य की ओर कदम दर कदम अग्रसर होना उचित समझा। सातवीं योजना में भी समरूपी प्रयास जारी रहा और आठवीं योजना में निर्धनता की दर में कमी लाने के सम्बन्ध में विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना में मानवीय

संसाधनों का विकास करने, राजकोषीय असंतुलन को दूर करने तथा जनता के सक्रिय सहयोग से आर्थिक विकास की गति तेज करने पर जोर दिया गया। कई मायनों में यह योजना एकीकृत एवं व्यापक दृष्टिकोण पर आधारित थी और मुख्य रूप से उपलब्धि-परक (Performance Oriented) थी। नौवीं योजना के प्रारूप में सामाजिक न्याय के साथ ऊंची विकास दर, गरीबी और बेरोजगारी के निराकरण, कृषि क्षेत्र में विकास दर को अन्ततः 4.5 प्रतिशत करने तथा औसत वार्षिक वृद्धि दर 6.5 प्रतिशत करने जैसे नेक इरादों को दोहराया गया था फिर भी वित्तीय साधनों की समस्या, विदेशी सहायता पर निर्भरता और औद्योगिक क्षेत्र में मंदी की परिस्थितियों के साथ-साथ पूंजी बाजार की कमजोर स्थिति को सुधारने के लिए प्रबल प्रयास करने पड़े। दसवीं पंचवर्षीय योजना आर्थिक विकास, गरीबी निवारण तथा सामाजिक उत्थान की दिशा में एक पारदर्शी प्रामाणिक तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों की दिशा में एक ऐसा सामयिक दस्तावेज रहा, जिसकी सफलता के लिये भारी जन सहयोग, दृढ राजनैतिक इच्छा-शक्ति और उपयुक्त राजनैतिक एवं सामाजिक वातावरण बना। इसके लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अथक प्रयास, जनता में दृढ संकल्प और सरकारी नीतियों का सफल क्रियान्वयन जरूरी था। ग्यारहवीं योजना उच्चतर विकास दर के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में आर्थिक असमानताओं को दूर करने के लिये समावेशी संवृद्धि (Inclusive Growth) की दो तरफा रणनीति पर आधारित थी। बारहवीं योजना में विद्युत के सृजन का विस्तार, तीव्र समावेशी व सुस्थिर विकास के मार्ग पर आगे बढने का प्रयास करने पर जोर दिया गया। निर्धनता की दर में कमी लाने की दिशा में उठाया जाने वाला मुख्य कदम भूमि सुधार है। इसमें मध्यस्थ काश्तकारी और काश्तकारी के अधिकार समाप्त करने, जोत के स्वामित्व की सीमा निर्धारित करने, संस्थागत ऋण और विपणन का विकास करने, कृषि कराधान में सुधार लाने, कृषि विस्तार सम्बन्धी शिक्षा देने, आधुनिक उपकरणों आदि की सप्लाई करने जैसे उपाय शामिल हैं। इस लक्ष्य की दिशा में दूसरा कदम निर्धनता की दर में कमी लाने सम्बन्धी कार्यक्रम था। एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम स्व-नियोजन के लिए ग्रामीण युवाओं को प्रशिक्षण, राष्ट्रीय ग्रामीण नियोजन कार्यक्रम आदि कतिपय महत्वपूर्ण कार्यक्रम हैं। इन कार्यक्रमों का मुख्य लक्ष्य ग्रामीण और भूमिहीन लोगों के लिए नियोजन के अवसर जुटाना, स्वरोजगार के अभिलाषी लोगों को प्रशिक्षण दिलाने की व्यवस्था करना, स्वरोजगार के अवसर पैदा करना और प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना करना तथा ऋण और अन्य साधनों के माध्यम से निर्धन ग्रामीणों की सहायता करना है।

ग्रामीण महिलाओं और बच्चों की सहायता करने के लिए 'ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों का विकास सम्बन्धी' (DWCRA) नामक एक कार्यक्रम चलाया गया। इसमें महिलाओं को आय अर्जन के अवसर दिलाने की व्यवस्था है। इससे पहले भी सन् 1952 में 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' प्रारम्भ किया गया था, जिसका लक्ष्य ग्रामीण लोगों को आत्मनिर्भर बनाना था। इसका उद्देश्य मानव संसाधनों और विज्ञान तथा प्रद्योगिकी के बेहतरीन उपयोग के माध्यम से सहयोग की भावना पैदा करना था। उसके बाद श्रम प्रधान कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम, उच्च उत्पादकता वाले विविध कार्यक्रम और विविध फसलें उगाने सम्बन्धी कार्यक्रम, जैसे कार्यक्रमों को वर्ष 1960 में कृषि उत्पादन का संवर्धन करने और खाद्यानों के उत्पादन में आत्म-निर्भरता की उपलब्धि के लिए आरम्भ किया गया। ग्रामीण नियोजन कार्यक्रम सन् 1967 में चालू किया गया, इसका उद्देश्य कृषि के अनुत्पादनकारी मौसम के दौरान नियोजन उपलब्ध कराना था। छोटे कृषक विकास सम्बन्धी एक एजेन्सी वर्ष 1967 में स्थापित की गई, इसमें ऋण और आर्थिक सहायता की व्यवस्था सुनिश्चित करते हुए निर्धारित वर्गों तथा ऋण देने वाली संस्थाओं को सहायता दी गई। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम का लक्ष्य निर्धन लोगों की आधारभूत आवश्यकताएं पूरी करना था, जिससे वे अपने जीवन स्तर में सुधार ला सकें। इसमें प्रारंभिक शिक्षा, ग्रामीण लोगों के

स्वास्थ्य, जल आपूर्ति, बिजली, गांवों की सडकों, ग्रामीण आवास तथा पोषण के लिए भूमिहीनों की सहायता और शहरी गंदी बस्तियों के संबंध में व्यवस्था की गई। वर्ष 1977 में आरम्भ किए गए काम के लिए अन्य कार्यक्रम का लक्ष्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था को ऊंचा उठाना और नियोजन के अवसर पैदा करना था।

अतः इन कार्यक्रमों का लक्ष्य मात्र निर्धनता और बेरोजगारी ही दूर करना नहीं था, अपितु ग्रामीण शहरी स्थानान्तरण को कम करने का प्रयास भी करना था। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य शहरी क्षेत्रों में भी बेरोजगारी और निर्धनता की समस्या को कम करना था, क्योंकि इस संबंध में अधिकांश समस्याएं ग्रामीण लोगों के शहरों में आकर बस जाने के कारण पैदा होती हैं।

3. **क्षेत्रीय विषमताओं को दूर करना-** लाभकारी विकास के लिए यह आवश्यक है कि विकास संतुलित हो, अर्थात् देश के सभी क्षेत्रों का विकास हो। कुछ क्षेत्रों की उपेक्षा करते हुए अन्य क्षेत्रों या अंचलों के विकास का देश की अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अतः राशि के आवंटन के समय वित्त आयोग द्वारा हमारे देश के पिछड़े क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम स्थापित करने और उन क्षेत्रों में निजी क्षेत्र में निवेश करने के लिए प्रोत्साहित करने की नीति अपनाई गई।

   अर्थव्यवस्था के संतुलित विकास की उपलब्धि के लिए औद्योगिक लाईसेंस नीति में भी उद्योगों के प्रसार की आवश्यकता पर बल दिया गया। योजना आयोग का यह मत है कि राज्य क्षेत्रीय विषमताओं को कम करने के संबंध में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। राज्यों को अपनी योजनाएं इस प्रकार तैयार करने के लिए कहा गया, जिससे विभिन्न क्षेत्रों के बीच विषमताओं को कम किया जा सके और विभिन्न कार्यक्रमों के लिए योजनागत संसाधनों का आवंटन करते समय पिछड़े क्षेत्रों पर यथोचित ध्यान देने के लिए भी कहा गया।

   चौथी पंचवर्षीय योजना में देश के पिछड़े क्षेत्रों के विकास के संबंध में एक राष्ट्रीय नीति के गठन की व्यवस्था की गई। इस नीति में ऐसे क्षेत्रों के निर्धारण, विशेष क्षेत्र विकास स्कीमों के चयन और नीति के कार्यान्वयन के लिए नीति और साधनों के मूल्यांकन की आवश्यकता पर बल दिया गया। क्षेत्रीय विकास योजना का मुख्य उद्देश्य उस क्षेत्र के सतत् विकास के लिए निश्चित कार्यक्रम तैयार करना था। परिणामस्वरूप, पहाड़ी क्षेत्र विकास कार्यक्रम जैसे कुछ क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम आरम्भ किए गए। जिसका लक्ष्य पहाड़ी क्षेत्रों में, प्रदर्शन अभियानों के माध्यम से अधिकतम कृषि उत्पादन करना था। यह कार्यक्रम कृषकों को उन्नत बीज, कीट-नाशक, उर्वरक, कृषि की नई प्रद्योगिकी आदि की आवश्यकता के संबंध में जानकारी देने के लिए आयोजित किए गए। इनमें पहाड़ी क्षेत्रों में वानिकी के विकास तथा बेहतरीन विपणन और उधार की सुविधाएं उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई। सूखा प्रभावित क्षेत्र कार्यक्रम का लक्ष्य, भूमि, जल और पशुधन जैसे संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग के माध्यम से सूखा प्रभावित क्षेत्रों में पारिस्थितिक संतुलन लाना और कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों का विकास करना था। अति शुष्क क्षेत्रों के लिए मरूस्थल विकास कार्यक्रम चालू किया गया। इसका लक्ष्य वनरोपण, भू-तल जल के संरक्षण तथा हरी-भरी भूमि के विकास के माध्यम से मरूस्थलों के विकास को रोकना था। जनजातीय क्षेत्रों के लिए जनजातीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम नामक एक विशेष क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम भी आरम्भ किया गया। इसका लक्ष्य कृषि उत्पादन बढाना, पशु पालन और बागवानी का विकास करना, सड़कें बनाना, खेती-बाड़ी के विचलन को रोकना, मुद्रा और भूमि का संरक्षण तथा पशु विकास करना था। अतः यहाँ यह प्रतीत होता है कि इन कार्यक्रमों का लक्ष्य देश के पिछड़े क्षेत्रों को आर्थिक रूप से विकसित बनाना था।

4. **पिछड़े वर्गों का उत्थान-** पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए विशेष स्कीम चलाना इन योजनाओं की विशेषता रही है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए विशेष कार्यक्रम आरम्भ किए गए। पांचवी योजना में जनजातीय क्षेत्रों के लिए, समग्र जनजातीय विकास परियोजनाओं के माध्यम से निर्दिष्ट उप-योजनाएं संचालित करने की नीति अपनाई गई। इन जनजातीय उप-योजनाओं का दीर्घावधिक उद्देश्य जनजातीय और अन्य क्षेत्रों के विकास स्तर के बीच विभेद को समाप्त करना और जनजातीय समुदाय के जीवन स्तर में गुणात्मक परिवर्तन लाना था। छठी योजना में तीन अन्य कार्यक्रम चालू किए गए।

पहला- राज्यों और केन्द्रीय मंत्रालयों की विशेष अंगभूत योजना, जिसमें राज्यों तथा केन्द्रीय मंत्रालयों की योजनाओं के सामान्य खंड़ों में से अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों को सुविधाएं प्रदान करने का प्रयत्न करना। इसका लक्ष्य, आय अर्जन स्कीमों तथा आधारभूत सुविधाएं प्रदान करने के माध्यम से अनुसूचित जातियों और जनजातियों को वित्तीय तथा वस्तुगत लाभ पहुँचाना।

दूसरा- विशेष केन्द्रीय सहायता स्कीम का उद्देश्य, आय अर्जन के माध्यम से अनुसूचित जातियों और जनजातियों का विकास करना।

तीसरा- राज्यों में अनुसूचित जाति विकास निगम आर्थिक विकास संबंधी बैंकों में चलाई जाने वाली स्कीमों के संबंध में निर्धन अनुसूचित जनजाति और वित्तीय संस्थाओं के बीच कडी के रूप में इन नियमों की संकल्पना की गई।

भारत में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के अधिकारों की रक्षा के लिए इन कार्यक्रमों के अलावा, कई अन्य उपाय भी अपनाए गए। संविधान के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए उपबंधित सुरक्षा उपायों संबंधी सभी मामलों की जांच करने के लिए अनुच्छेद- 338 के अनुसार, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाता है जो इन सुरक्षा उपायों के संबंध के वार्षिक रिपोर्ट भारत के राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है। अनुच्छेद- 275 में अनुसूचित क्षेत्रों में प्रशासनिक स्तर ऊंचा उठाने के लिए राज्यों को अनुदान सहायता के रूप में भारत की समेकित निधि में से धनराशि उपलब्ध कराने का प्रावधान है।

7.4 हमारे योजनागत उद्देश्य

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में आत्मनिर्भरता सामाजिक न्याय, औद्योगिकरण, आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास के उद्देश्यों की उपलब्धि पर अनवरत जोर दिया गया है। सभी योजनाओं में हर उद्देश्य पर समान रूप से बल नहीं दिया गया। प्रारंभिक योजनाओं में त्वरित आर्थिक विकास पर जोर दिया गया, जबकि बाद वाली योजनाओं में आत्मनिर्भरता तथा गरीबी उन्मूलन को अधिक महत्व दिया गया। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के अवलोकन से प्रत्येक योजना के अन्तर्गत विभिन्न उद्देश्यों और प्राथमिकताओं के सम्बन्ध में संकेत मिल सकता हैं। हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) देश के राजनैतिक और प्रशासनिक एकीकरण की प्रक्रिया पूरी होने के बाद प्रारम्भ की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) का लक्ष्य था- अर्थव्यवस्था के असंतुलन को दूर करना, मुद्रास्फीति दबावों को रोकना तथा परिवहन पद्धति का विकास करना। चौमुखी संतुलित विकास की प्रक्रिया को एक साथ प्रारम्भ करने का प्रस्ताव। सिंचाई सुविधा का विस्तार करके, कृषिगत विकास की ओर अधिक ध्यान देना। सामाजिक न्याय सम्बन्धी प्रयास करना। विकास के लिये प्रेरक प्रशासनिक तथा अन्य संगठनों का गठन करना तथा जीवन-स्तर में सुधार लाने तथा राष्ट्रीय आय के वर्धन पर बल देना।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61) के उद्देश्य थे- राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना, जिससे देश में जीवनस्तर ऊंचा किया जा सके। तीव्र गति से औद्योगिकरण करना एवं इसके लिए आधारभूत व भारी उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देना। रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना। आर्थिक असमानताओं में कमी करना।
द्वितीय योजना के लक्ष्यों को पांच वर्षों की अवधि में प्राप्त करना आसान नहीं था। लेकिन इनको प्राप्त करने की दिशा में आगे बढना आवश्यक माना गया।
तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66) का लक्ष्य आत्मनिर्भर और स्वचालित अर्थव्यवस्था की स्थापना करना था। इसका उद्देश्य था- तृतीय योजना की अवधि में प्रतिवर्ष 5 प्रतिशत से अधिक राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना एवं विनियोग ढांचा इस प्रकार का बनाना जिससे भावी योजनाओं में भी विकास की यह दर कायम रह सके। खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना एवं उद्योगों व निर्यात की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि का उत्पादन बढाना । आधारभूत उद्योगों, जैसे- इस्पात एवं रासायनिक उद्योग, ईंधन व शक्ति का विस्तार करना और मशीन निर्माण की क्षमता स्थापित करना। देश की श्रम शक्ति का अधिकतम उपयोग करना और रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना। अवसर की समानता को अधिकाधिक रूप में बढाना तथा उत्तरोत्तर समान अवसर प्रदान करने की व्यवस्था करना। उपर्युक्त उद्देश्यों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि द्वितीय व तृतीय योजना के उद्देश्य परस्पर काफी मिलते-जुलते थे।
चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-1974) में लगभग उन्हीं उद्देश्यों पर बल दिया गया जो द्वितीय व तृतीय योजनाओं में घोषित किये गये थे, जैसे- आर्थिक विकास मूल्य स्थिरता के वातावरण में किया जाए। विदेशी सहायता पर निर्भरता कम करके राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की ओर बढा जाए और विकास के लिए आन्तरिक साधनों का अधिक उपयोग किया जाए। औद्योगिक इकाईयों को देश के विभिन्न क्षेत्रों में फैलाया जाए। समाज के अपेक्षाकृत निर्धन, दुर्बल व पिछड़े हुए व्यक्तियों के लिए रोजगार के साधन उत्पन्न किये जाए। एकाधिकार कानून व अन्य उपायों के द्वारा आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण कम किया जाए। स्थानीय नियोजन में पंचायती राज संस्थाओं व सहकारिताओं का अधिक उपयोग किया जाए। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की प्रबन्ध व्यवस्था को सुधारा जाए तथा निर्णय की प्रक्रिया को यथा संभव विकेन्द्रित स्वरूप प्रदान किया जाये।
पांचवी पंचवर्षीय योजना (1974-79) में दो उद्देश्य निर्धारित किये गये थे- निर्धनता का उन्मूलन और आत्मनिर्भरता की उपलब्धि। ये दोनों उद्देश्य दीर्घकालीन किस्म के थे, लेकिन पांचवी योजना में इनको प्राप्त करने की दिशा में प्रभावपूर्ण कदम उठाने पर जोर दिया गया। निर्धन वर्ग का उपयोग का स्तर ऊंचा करने के लिए सम्पन्न व धनी वर्ग से अधिक बचत कराने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया।
छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में, कृषि तथा सम्बद्ध गतिविधियों में नियोजन सम्बन्धी संभावनाओं के वर्धन, लोगों के उपभोग के लिए उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले घरेलू तथा छोटे उद्योगों को बढावा देना तथा निम्न आय वाले वर्गों की आय को बढाने पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके मुख्य उद्देश्य थे- अर्थव्यवस्था के विकास की दर में महत्वपूर्ण वृद्धि एवं साधनों के उपयोग की कार्यकुशलता में वृद्धि तथा अधिक उत्पादकता। आर्थिक व तकनीकी आत्मनिर्भरता की प्राप्ति के लिए आधुनिकीकरण की शक्तियों को सुदृढ करना। निर्धनता व बेरोजगारी के प्रभाव को उत्तरोत्तर कम करना। ऊर्जा के स्वदेशी साधनों का तीव्र विकास तथा इसके संरक्षण व उपयोग की कार्यकुशलता पर उचित बल देना। लोगों के जीवन स्तर में सुधार करना तथा आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों को न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के माध्यम से लाभ पहुँचाना। सार्वजनिक नीतियों व सेवाओं में पुनर्वितरण के प्रति झुकाव को सुदृढ करना। विकास में प्रादेशिक असमानताओं को कम करने के लिए निर्धन वर्ग के पक्ष में नीतियां अपनाना। विकास के अल्पकालीन व दीर्घकालीन लक्ष्यों में तालमेल स्थापित करना। विकास की प्रक्रिया में सभी प्रकार के लोगों को शामिल करना तथा उचित शिक्षा, संचार व संस्थागत नीतियों के माध्यम से इस कार्य को आगे बढाना और आबादी में वृद्धि को नियंत्रित करने सम्बन्धी नीतियों का संवर्धन करना।

इस प्रकार छठी योजना, 1980-85 के उद्देश्य भी पूर्व योजनाओं से मिलते जुलते थे। इसमें उद्देश्यों की संख्या अवश्य बढा दी गई थी लेकिन मुख्य समस्या उद्देश्यों को प्राप्त करने की होती हैं।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) का दृष्टिकोण प्रपत्र जुलाई 1984 में जारी किया गया था। इस योजना के निम्न उद्देश्य रखे गये- खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि। रोजगार अवसरों में वृद्धि तथा उत्पादकता वृद्धि।

इस प्रकार भारत के योजनाबद्ध विकास की प्रक्रिया में सातवीं पंचवर्षीय योजना एक महत्वपूर्ण कड़ी है, जिसमें गरीबी उन्मूलन, सुदृढ एवं आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण तथा समानता एवं न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के उद्देश्य निहित थे।

भारत में आठवी पंचवर्षीय योजना(1992-97) का शुभारम्भ ऐसे समय में हुआ जबकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कई चौकाने वाले एवं क्रान्तिकारी आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों का दौर चल रहा था। इस योजना में मानवीय संसाधनों का विकास करने, राजकोषीय असंतुलन को दूर करने तथा जनता के सक्रिय सहयोग से आर्थिक विकास की गति तेज करने पर जोर दिया गया। इसके प्रमुख उद्देश्य थे- रोजगार के पर्याप्त अवसर सृजन करना। जनसंख्या वृद्धि को सीमित करना। प्राथमिक शिक्षा का व्यापक विस्तार। सुरक्षित पेयजल तथा प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं को सभी गांवो एवं जनता तक पहुँचाना तथा स्फूर्त विकास प्रक्रिया के लिए संरचना को सुदृढ करना।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) में सामाजिक न्याय व समानता के साथ विकास पर बल दिया गया। इसके उद्देश्य निम्न रखे गये- कृषि व ग्रामीण विकास को प्राथमिकता देना तथा पर्याप्त मात्रा में उत्पादक रोजगार सृजित करना। स्थिर मूल्यों की स्थिति में विकास की दर को तीव्र करना। खाद्य व पोषण की सुरक्षा उपलब्ध कराना। सुरक्षित पेयजल, प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाओं प्राथमिक शिक्षा, रिहायशी सुविधा व सड़कों की समयबद्ध रूप में सेवाएं उपलब्ध कराना। जनसंख्या की दर को नियंत्रित करना।पर्यावरण की सुरक्षा करना और आत्मनिर्भर विकास के प्रयासों को सुदृढ करना। ये सभी लक्ष्य काफी महत्वाकांक्षी थे, लेकिन इनकी तरफ अग्रसर होना आवश्यक माना गया।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) में विकास की दर का लक्ष्य 8.3 प्रतिशत रखा गया। राष्ट्रीय योजना आयोग के अनुसार दसवीं योजना में निम्न लक्ष्य रखे गये थे-वर्ष 2007 तक निर्धनता अनुपात को 5 प्रतिशत और 2012 तक 15 प्रतिशत तक कम करना। दसवीं योजना की अवधि के दौरान श्रमशक्ति में वृद्धि के लिए लाभपूर्ण रोजगार उपलब्ध कराना। सन् 2007 तक प्राथमिक शिक्षा की पहुँच को सर्वव्यापक बनाना। वर्ष 2001 और 2011 के बीच जनसंख्या की दस वर्षीय वृद्धि दर को 16.2 प्रतिशत तक कम करना। मातृ मृत्यु दर 2007 तक 45 प्रति हजार जीवित जन्मों और 2012 तक 28 तक कम करना। 2007 तक वनों और वृक्षों से घिरे क्षेत्र को 25 प्रतिशत और 2012 तक 33 प्रतिशत तक बढाना। सभी ग्रामों में वर्ष 2012 तक पीने योग्य पानी की पहुँच कायम करना। तथा सभी मुख्य नदियों को 2007 तक और अन्य अनुसूचित जल क्षेत्रों को 2012 तक साफ करना।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) के उद्देश्य तीव्र विकास और समावेशी विकास रखा गया था। ऊंची विकास दर से ही बेरोजगारी, गरीबी, असमानता व पिछड़ेपन आदि की समस्याएं हल की जा सकती हैं। इस योजना के अन्तर्गत निम्न उद्देश्य रखे गये थे- निर्धनता का उन्मूलन करना। रोजगार प्रोत्साहन के कार्यक्रम अपनाना। विकास की दृष्टि से ग्रामीण व शहरी खाई को पाटना। सन्तुलित प्रादेशिक विकास का प्रयास करना। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़े व वंचित वर्गो के विकास को प्रोत्साहन देना।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्ष में (2011-12) में मुद्रास्फीति व राजकोषीय घाटे की समस्याओं ने भारत की आर्थिक स्थिति पर दबाव उत्पन्न कर दिया जिससे विकास की दर को ऊंचा रखने में भी कठिनाई होने लगी।

बारहवीं पंचवर्षीय योजना (2012-17) के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे- विद्युत के सृजन का विस्तार करना। तीव्र, समावेशी व सुस्थिर विकास के मार्ग पर आगे बढना तथा आम जनता की मूलभूत आवश्यकताओं को विकास के मॉडल में शामिल करना।

7.5 निष्कर्ष

अतः यह स्पष्ट है कि हमारे आयोजक, आर्थिक विकास, आत्म-निर्भरता आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण और सामाजिक न्याय जैसे पांच प्रमुख उद्देश्यों के अनुसरण द्वारा विकास लाने का प्रयास कर रहे हैं। अब हम पर्याप्त संख्या में औद्योगिक उत्पादों का उत्पादन कर सकते हैं। हमने आधारभूत तथा पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों में आत्मनिर्भरता अर्जित कर ली है। देशीय क्षमताएं स्थापित हो चुकी हैं। औद्योगिकरण की प्रक्रिया ने उद्यमशीलता को प्रोत्साहित किया है। तकनीकी, प्रबंधकीय और कार्यात्पादक योग्यताओं का व्यापक विकास हुआ है। भारी उद्योगों के विकास में सार्वजनिक क्षेत्र का विशेष योगदान रहा है। निजी क्षेत्र में औद्योगिक निवेश के वित्त पोषण में मदद देने के लिए विशिष्ट विकास बैंकिंग संस्थाओं के व्यापक तंत्र की स्थापना की गई है।

यद्यपि, उपलब्धियों की सूची काफी व्यापक है, परन्तु फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि हम उस रूप में विकसित हो पाए हैं, जैसा हम चाहते थे। असफलताओं तथा विकास के हमारे प्रयास में बांधक समस्याओं की सूची भी समान रूप से व्यापक है। भारत की आत्म निर्भरता संबंधी उपलब्धि के बारे में कुछ अर्थशास्त्रियों को संदेह है। हमने खाद्यान्न में उल्लेखनीय आत्मनिर्भरता हासिल की है, परन्तु अन्य क्षेत्रों में ऐसा नहीं कर पाए हैं। पूंजीगत वस्तुओं प्रद्योगिकी, पैट्रोलियम उत्पादों, खाद्य तेलों आदि के आयात से हमारे बाहय संसाधनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और व्यापार संतुलन में भारी घाटा उठाना पड़ता है। यद्यपि विकास दर में पर्याप्त सुधार हुआ है तथापि यह अभी भी लक्ष्य से काफी कम है। कृषि में प्रद्योगिकी आधुनिकीकरण अभी आरम्भ ही हुआ है। अधिकांश क्षेत्रों और कृषि पद्धतियों में औसत उत्पादन का स्तर से कम है, जितना हम प्रद्योगिकी की जानकारी होने की स्थिति में प्राप्त कर सकते थे। इस समय भारत विश्व में व्यापक और विस्तृत वैज्ञानिक तथा तकनीकी रूप से परिपूर्ण है, परन्तु फिर भी उत्पादक नियोजन में इन योग्यताओं के सम्पूर्ण विलय के संबंध में इस प्रणाली की क्षमता काफी कम है। साथ ही विशुद्ध और प्रयुक्त अनुसंधान में, कृषि अनुसंधान परमाणु ऊर्जा तथा अंतरिक्ष जैसे कुछ क्षेत्रों को छोड़कर विकास सीमित हो रहा है।

उद्योग में एकाधिकार बढा है। उत्तरोत्तर कराधान प्रायःअप्रभावी रहा है। बाजार में कालाधन बढा है। उत्पादन में हुई वृद्धि से आर्थिक विषमताओं में भी वृद्धि हुई है। प्राथमिकता के सन्दर्भ में आय में समानता लाने के उद्देश्य को हमारी योजनाओं में हमेशा कम महत्व दिया गया। योजना आयोग के प्रकाशनों तथा योजना के दस्तावेजों में कभी भी आय और सम्पत्ति के असमान वितरण का आंकलन प्रस्तुत नहीं किया गया। हम निर्धनता की समस्या पर भी कोई प्रभाव नहीं डाल पाए हैं। गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों से मात्र अस्थायी राहत ही मिली है। लाभ प्राप्तकर्ताओं के अनुचित निर्धारण, कार्यक्रमों से मिलने वाले लाभों के संबंध में निर्धन लोगों के बीच जागरूकता का अभाव, राशियों का अपव्यय, पर्यवेक्षण तथा मूल्यांकन का अभाव, मजदूरी पर आधारित नियोजन स्कीमों पर अधिक बल देने, कार्यक्रमों के कार्यान्वयन से जुड़े कर्मचारियों के प्रशिक्षण का अभाव और ग्रामीण विकास में स्वैच्छिक एजेंसियों और सहकारी समितियों का योगदान कम मिलने जैसे कारण हमारे कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में समस्याएं सिद्ध हुयी हैं। न तो निर्धनता का प्रभाव ही कम हुआ है और न ही जीवन स्तर में सुधार हुआ है।

भूमि सुधार का कार्यान्वयन व्यवस्थित ढंग से नहीं हुआ है। भूमि संबंधी अद्यतन रिकार्ड का अभाव, बेनामी सौदों का चलन, बेकार किस्म की भूमि का वितरण, फालतू जमीन के नाम पर कम भूमि का ब्यौरा देना, लाभ प्राप्तकर्ताओं द्वारा सहयोग में अभाव, भूमि सुधार के लिए न के बराबर सहकारी समितियां होना, कृषि में अनुचित प्रद्योगिकी के इस्तेमाल से सुधार के मार्ग में बाधा पहुँची है।

भारत में योजनागत विकास के प्रारंभिक चरण में क्षेत्रीय तथ्यों को अधिक महत्व नहीं दिया गया। इसके अलावा औद्योगिक रूप से पिछड़े इलाकों में स्थित सार्वजनिक क्षेत्र की औद्योगिक परियोजनाओं से भी अपेक्षित परिणाम नहीं मिले हैं। इससे क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था का विविधकरण भी नहीं हो पाया है। हमने बड़े पैमाने पर सिंचाई संबंधी

परियोजनाओं के विकास में कुछ सफलता जरूर हासिल की है, जिससे कृषि औद्योगिक विकास हुआ है। परन्तु औद्योगिक रूप से पिछड़े इलाकों में निजी क्षेत्र में पूंजी निवेश करने के लिए प्रोत्साहित करने संबंधी हमारी नीति अधिक सफल नहीं रही।

शिक्षा, स्वास्थ्य संबंधी देखभाल और परिवार कल्याण में अब तक किए गए प्रयास, सुविधाओं का लक्ष्य मूलक विस्तार करने पर केंद्रित रहे हैं या नाम के लिए विज्ञापन तक सीमित रहे हैं। अधिकांश निर्धन लोगों का माध्यमिक और उच्च शिक्षा सुलभ कराने के बावजूद निरक्षरता दर में कमी नहीं आई है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में समानता के महत्व को स्वीकार किया गया है, फिर भी आय और सम्पत्ति के वितरण की सीमा लागू की जाने वाली सामाजिक समानता संबंधी विभिन्न पद्धतियों, आय और सम्पत्ति के केंद्रीकरण को कम करने नहीं दिया गया है। समानता लाने के संबंध में विभिन्न नीतियों तथा कार्यक्रमों और इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपायों को कभी भी निर्दिष्ट नहीं किया गया।

इस स्थिति को सुधारने के लिए कतिपय उपाय किए जा सकते हैं। विकास के अनुसरण में हमारी प्राथमिकताओं तथा नीतियों की पुनः जांच करने की तत्काल आवश्यकता है। राज्य सरकारों और केन्द्रीय मंत्रालयों द्वारा अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए संगत स्कीमों के निर्धारण की प्रक्रिया में सुधार लाने की जरूरत है। इन स्कीमों पर पर्याप्त महत्व देना और इनके आर्थिक आधार को मजबूत बनाना भी जरूरी है। निर्धन और दलित लोगों के लिए स्कीमों के गठन, कार्यान्वयन, परिवीक्षण तथा मूल्यांकन में स्वैच्छिक संगठनों, सहकारी समितियों और लोगों का सहयोग लेने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। एक ऐसी नीति तैयार करना अपेक्षित है, जिसके द्वारा हम विकास कार्य से जुड़े कर्मचारियों के कार्य-निष्पादन में सुधार ला सके, लोगों के प्रति उनकी जिम्मेदारी सुनिश्चित कर सकें तथा सामान्य जन तक आसानी से पहुँच सकें। इस प्रकार भ्रष्टाचार और लालफीताशाही की समस्याओं को समुचित रूप से निपटाया जा सकता है।

देश के वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक आधार को मजबूत करने के लिए अर्थव्यवस्था के सामरिक महत्व वाले क्षेत्रों में घरेलू प्रद्योगिकी की क्षमताओं का विस्तार और विज्ञान तथा प्रद्योगिकी के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अनुसंधान तथा विकास करना जरूरी है। समाज कल्याण स्कीमों का मात्रात्मक मूल्यांकन करने से कोई समस्या हल नहीं होगी। हमें ऐसे कार्यक्रमों के गुणात्मक प्रभाव की ओर ध्यान देना चाहिए। क्षेत्रीय असंतुलन दूर करने के लिए एक ऐसी नीति तैयार करने की आवश्यकता है, जिससे विभिन्न क्षेत्रों का प्राकृतिक, भौतिक और मानवीय प्रवृतियों तथा क्षमताओं का निर्धारण किया जाए और इन संसाधनों पर आधारित व्यवहारिक परियोजनाएं तैयार की जाएं। इन योजनाओं में सम्पूर्ण क्षेत्रीय और पिछड़े इलाकों की विशेष आवश्यकताओं को निर्दिष्ट करने से राज्यों के अन्दर जिला संबंधी असमानताएं दूर करने में मदद मिलेगी। बेरोजगारी की समस्या को सुलझाया जा सकता है, क्योंकि निर्धनता की दर में कमी लाने संबंधी हमारे कार्यक्रमों से वांछित परिणाम मिल सकते हैं। इसके अलावा, निवेश परियोजना की नियोजन संभावना के विषय में स्पष्ट अनुमान लगाना जरूरी है। यह भी ध्यान में रखा जाए कि प्रत्येक अंचल, क्षेत्र और आर्थिक वर्ग की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्न नियोजन योजनाएं आरम्भ की जानी चाहिए। हमें विकास के अपने लक्ष्यों के सिद्धि के क्रम में अपने संसाधनों को प्रभावी ढंग से गति देना, अपने निर्यात बढाना, पारिस्थितिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों के लिए समुचित प्रद्योगिकी का विकास करना, अपनी सिंचाई क्षमता का पूर्व इस्तेमाल करना, पंचायती राज प्रणाली को मजबूत बनाना और नियोजन मूलक शिक्षा प्रणाली को लागू करना होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. यह कथन किसका है कि ''विकास अभीष्ट अथवा परिवर्तनशील होता है?''
2. पहली पंचवर्षीय योजना का कार्यकाल क्या था?
3. 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम कब प्रारम्भ किया गया?

4. हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में किन विषयों पर लगातार जोर दिया गया?

7.6 सारांश

हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में आत्मनिर्भरता, आर्थिक विकास, आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण तथा सामाजिक न्याय संबंधी मुख्य लक्ष्यों को उत्साहपूर्वक अनुसरण किया गया। इन लक्ष्यों की सम्पूर्ण उपलब्धि में बांधक समस्याओं को लोगों के सहयोग तथा अनुकूल राजनैतिक प्रयासों से ही दूर किया जा सकता है। भारत को प्रद्योगिकी रूप से योग्य बनाने तथा प्रगतिशील अर्थव्यवस्था की उपलब्धि का लक्ष्य होना चाहिए जिससे कि सभी लोग जीवन की बुनियादी सुविधाओं का लाभ उठा सकें। हमारे लक्ष्यों की प्रगति के लिए आर्थिक तथा प्रौद्योगिक विकास के प्रसार, समाज के निर्धन और कमजोर वर्गों के लिए विकास संबंधी कार्यक्रम आरम्भ करने, हमारी स्वास्थ्य तथा शिक्षा संबंधी सुविधाओं में सुधार लाने, बढती हुई आबादी की दर में त्वरित कमी लाने, लोगों के बीच जागरूकता पैदा करने और हमारी पंचायतों, सहकारी समितियों, स्वैच्छिक एजेंसियों को पुनः चालू करने की आवश्यकता है।

7.7 शब्दावली

संवर्धन- किसी भी क्षेत्र में विकास या उन्नति, पंचवर्षीय योजनाऐं- देश के विकास और जनहित के कार्यों के लिए 5 वर्षों की एक निश्चित अवधि, आधुनिकीकरण- व्यक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मुख्यत: आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन, आत्म निर्भरता- अपनी आवश्यकताओं और संसाधनों की स्वयं पूर्ति और निर्माण

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. जॉन माल्ट गोमरी, 2. 1951 से 1956, 3. सन् 1952, 4. आत्म निर्भरता, सामाजिक न्याय, औद्योगिकरण, आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, ए0एन0 1986, भारतीय अर्थव्यवस्थाः विकास और योजना सम्बन्धी समस्याएं, विले ईस्टनःनई दिल्ली।
2. दत्त, रूद्व और के0पी0 एम0 सुंदरम 1989, भारतीय अर्थव्यवस्था, एस0 चांद एंड कम्पनीःनई दिल्ली।
3. देसाई पी0 आर0 1979, भारत की योजना (1951-78) विकास पब्लिशर्स, उत्तर प्रदेश।
4. मिश्रा, एस0के0 और वी0के0 पुरी 1988, भारतीय अर्थव्यवस्थाः इसका विकाजगत अनुभव, हिमालय पब्लिसिंग हाउसः बम्बई।

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. देसाई पी0 आर0 1979, भारत की योजना (1951-78) विकास पब्लिशर्स, उत्तर प्रदेश।
2. मिश्रा, एस0के0 और वी0के0 पुरी 1988, भारतीय अर्थव्यवस्थाः इसका विकाजगत अनुभव, हिमालय पब्लिसिंग हाउसः बम्बई।

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. संवर्धन और विकास के बीच सम्बन्ध स्पष्ट करें।
2. आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की आवश्यकता पर चर्चा करें।

3. औद्योगिकरण की उपलब्ध के लिए भारत ने क्या नीति अपनायी है?
4. भारत में आधुनिकीरण लाने सम्बन्धी नीति पर चर्चा करें।
5. हमारी योजनाओ का लक्ष्य विभिन्न नीतियों और कार्यक्रमो के माध्यम से सामान्य न्याय की उपलब्धि करना है, इसकी व्याख्या करें।
6. सरकार द्वारा निर्धनता तथा बेरोजगारी उन्मूलन के संबंध में अपनाई गई विभिन्न पद्धतियो का उल्लेख करें।

इकाई- 8 नीति आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 नीति आयोग
 8.2.1 नीति आयोग की संरचना या गठन
 8.2.2 नीति आयोग के उद्देश्य
 8.2.3 नीति आयोग के कार्य
 8.2.4 नीति आयोग और योजना आयोग में अंतर
8.3 राष्ट्रीय विकास परिषद
 8.3.1 राष्ट्रीय विकास परिषद उद्देश्य
 8.3.2 राष्ट्रीय विकास परिषद की रचना
 8.3.3 राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य
 8.3.4 मूल्यांकन
8.4 सारांश
8.5 शब्दावली
8.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.9 निबंधातमक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

नियोजन वह प्रक्रिया है जो दूरदर्शिता, विचार-विमर्श तथा उपलब्ध संसाधनों के व्यवस्थित उपयोग पर आधारित है तथा राष्ट्रीय उत्पादन, रोजगार एवं लोगों के सामाजिक कल्याण की पूर्व तैयारी करता है। स्वाधीनता के बाद भारत में आर्थिक विकास के लिये आर्थिक नियोजन की अवधारणा को स्वीकार किया गया। भारत में नियोजन प्रक्रिया में योजना आयोग केन्द्रीय भूमिका में था। वर्तमान में उसका स्थान नीति आयोग ने ले लिया, जो योजना आयोग से अधिक पारदर्शी और जबाबदेह बनाया गया है।

योजना आयोग में केन्द्र सरकार के सीधे हस्तक्षेप के कारण इसे कई बार आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ा है। तथा इसमें बदलाव या इसके स्थान पर एक नई संस्था की मांग पिछली सरकारों को भी सार्वजनिक मंचों से उठाई। जिसे वर्तमान में मोदी सरकार ने धरातल पर उतारा। इस इकाई में हम नीति आयोग पर विस्तृत रूप से अध्ययन करेंगे।

नियोजन प्रक्रिया को अधिक लोकतांत्रिक तथा पारदर्शी बनाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन किया गया। इसके माध्यम से नियोजन प्रक्रिया में राज्यों की भूमिका को बढ़ाने का प्रयास किया गया। नियोजन के इन सभी पहलुओं के बारे में इस इकाई में हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नीति आयोग की संरचना, उद्देश्य, कार्य और नीति आयोग तथा योजना आयोग में अंतर को समझ पायेंगे।
- राष्ट्रीय विकास परिषद की रचना एवं कार्यों के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

8.3 नीति आयोग (NITI Aayog)

स्वाधीनता के बाद हमारे देश ने तत्कालीन सोवियत संघ के समाजवादी शासन की संरचना को अपनाया, जिसमें योजनाऐं बनाकर काम किया जाता था। पंचवर्षीय तथा एकवर्षीय योजनाएँ काफी लंबे समय तक देश में चलती रहीं। योजना आयोग ने नियोजन इकाई के रूप दशकों तक योजनाएँ बनाने के काम को अंजाम दिया। लेकिन केन्द्र में सत्ता परिवर्तन होने के बाद 1 जनवरी 2015 को योजना आयोग के स्थान पर केन्द्रीय मंत्रिमंडल के एक संकल्प पर नीति आयोग का गठन किया गया। इसमें सहकारी संघवाद की भावना को केंद्र में रखते हुए अधिकतम शासन, न्यूनतम सरकार के दृष्टिकोण की परिकल्पना को स्थान दिया गया।

नीति आयोग, योजना आयोग के स्थान पर गठित एक नई संस्था है। बीतते वर्षों के साथ सरकार का संस्थागत ढांचा विकसित और परिपक्व हुआ है। इससे कार्यक्षेत्र में विशेषज्ञता विकसित हुई है,जिसने संस्थाओं को सौंपे गए कार्यों की विशिष्टता बढ़ाई है। नियोजन की प्रक्रिया के सन्दर्भ में शासन की प्रकिया को शासन की कार्यनीति से अलग करने साथ ही साथ उसे ऊर्जावान बनाने की जरुरत है। शासन संरचना के सन्दर्भ मे हमारे देश की जरूरतें बदली हैं। ऐसे में एक ऐसे संस्थान की स्थापना की आवश्यकता है जो सरकार के दिशात्मक और नीति-निर्धारक (थिंक टैंक) के रूप में कार्य करे। प्रस्तावित संस्थान प्रत्येकक स्तर पर नीति निर्धारण के प्रमुख तत्वों के बारे में महत्वेपूर्ण और तकनीकी सलाह देगा। इसमें आर्थिक मोर्चे पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आयात के मामले, देश के भीतर और अन्य देशों में उपलब्ध सर्वोत्तम प्रक्रियाओं के प्रसारए नये नीतिगत विचारों को अपनाने और विषय आधारित विशिष्ट सहायता शामिल है। यह संस्थान लगातार बदल रहे एकीकृत विश्व के अनुरूप कार्य करने में सक्षम होगा, भारत जिसका एक भाग है।

संस्थान के तहत व्यवस्था में केन्द्र से राज्यों की तरफ चलने वाले एक पक्षीय नीतिगत क्रम को एक महत्वपूर्ण विकासवादी परिवर्तन के रूप में राज्यों की वास्तविक और सतत् भागीदारी से बदल दिया जाएगा। त्वरित गति से कार्य करने के लिए और सरकार को नीति दृष्टिकोण उपलब्ध कराने के साथ.साथ प्रासंगिक विषयों के सन्दर्भ में संस्थान के पास आवश्यक संसाधन, ज्ञान, कौशल और क्षमता होगी।

सबसे महत्वपूर्ण यह है कि विश्व के सकारात्मक प्रभावों को अपनाते हुए संस्थान को इस नीति का पालन करना होगा कि भारत के परिप्रेक्ष्य में एक ही मॉडल प्रत्यारोपित नहीं किया जा सकता है। विकास के लिए हमें अपनी नीति स्वंय निर्धारित करनी होगी। देश में और देश के लिए क्या हितकारी है, संस्थान को इस पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो विकास के लिए भारतीय दृष्टिकोण पर आधारित होगा। इन आशाओं को जीवंत बनाने के लिए संस्थान है- नीति आयोग (भारत परिवर्तन के लिए राष्ट्रीय संस्थान, National InstItutions for Transforming India)। इसे राज्य सरकारों, संसद सदस्यों, विषय विशेषज्ञ और संबंधित संस्थानों सहित तमाम हित धारकों के बीच गहन विचार-विमर्श के बाद प्रस्तावित किया गया। आयोग एक बहू-सदस्यीय संस्था है।

योजना आयोग 64 वर्ष तक अस्तित्व में रहा, लेकिन देश की आर्थिक, सामाजिक, आवश्यकताओं को देखते हुए योजना आयोग में भी सुधार या बदलाव की आवश्यरकता महसूस होने लगी। पूर्ववर्ती योजना आयोग में 30 अप्रैल, 2014 को अपने आखिरी संबोधन में तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने पूछा था ‘‘कहीं हम अब भी उन्हीं साधनों और तौर-तरीकों का तो इस्तेमाल नहीं कर रहे जो बहुत पहले के लिए निर्धारित किए गए थे, क्या हमने आयोग में अधिक पारम्परिक क्रियाकलापों की पुनर्सरचना किए बगैर, नये कार्य तथा स्तर जोड़ लिए हैं’’ इसलिए जब प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 15 अगस्त, 2014 को अपने पहले स्वतंत्रता दिवस संबोधन में कहा कि वे योजना आयोग की जगह नई संस्था बनाना चाहते हैं तो वे साझा भावना को ही अभिव्यक्ति दे रहे थे। तदुपरान्त 1

जनवरी, 2015 को उन्होंने भारत परिवर्तन के लिए राष्ट्रीय संस्था अथवा नीति आयोग के सृजन की घोषणा की। योजना आयोग की ही तरह प्रधानमंत्री ही नीति आयोग के अध्यक्ष हैं।

8.3.1 नीति आयोग की संरचना या गठन

नीति आयोग की संरचना योजना आयोग का ही प्रतिरूप है योजना आयोग की तरह ही भारत के प्रधानमंत्री नीति आयोग के पदेन अध्यक्ष हैं। नीति आयोग के पहले उपाध्यक्ष अरविंद पनगढ़िया थे। आयोग की संरचना में एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष के साथ-साथ पूर्णकालिक, पदेन और विशेष आमंत्रित सदस्यों के अतिरिक्त एक मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। नीति आयोग की संरचना में-

1. अध्यक्ष, भारत के प्रधानमंत्री।
2. गवर्निंग काउंसिल में राज्यों के मुख्यमंत्री और केन्द्रशासित प्रदेशों (जिन केन्द्रशासित प्रदेशों में विधानसभा है, वहाँ के मुख्यमंत्री) के उपराज्यपाल शामिल होंगे।
3. विशिष्ट मुद्दों और ऐसे आकस्मिक मामले, जिनका संबंध एक से अधिक राज्य या क्षेत्र से हो, को देखने के लिए क्षेत्रीय परिषद गठित की जायेंगी। ये परिषदें विशिष्ट कार्यकाल के लिए बनाई जायेंगी। भारत के प्रधानमंत्री के निर्देश पर क्षेत्रीय परिषदों की बैठक होगी और इनमें संबंधित क्षेत्र के राज्यों के मुख्यमंत्री और केन्द्र शासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल होंगे (इनकी अध्यक्षता नीति आयोग के उपाध्यक्ष करेंगे)।
4. संबंधित कार्यक्षेत्र की जानकारी रखने वाले विशेषज्ञ और कार्यरत लोग, विशेष आमंत्रित के रूप में प्रधानमंत्री द्वारा नामित किए जाएंगे।

पूर्णकालिक संगठनात्मक ढ़ाँचे में (प्रधानमंत्री अध्यक्ष होने के अलावा) निम्न होंगे।

- उपाध्यक्ष- प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त।
- सदस्य- पूर्णकालिक
- अंशकालिक सदस्य- अग्रणी विश्वविद्यालय शोध संस्थानों और संबंधित संस्थानों से अधिकतम दो पदेन सदस्य, अंशकालिक सदस्य बारी के आधार पर होंगे।
- पदेन सदस्य- केन्द्रीय मंत्रिपरिषद से अधिकतम चार सदस्य प्रधानमंत्री द्वारा नामित होंगे। यदि बारी के आधार को प्राथमिकता दी जाती है तो यह नियुक्ति विशिष्ट कार्यकाल के लिए होंगी।
- मुख्य कार्यकारी अधिकारी- भारत सरकार के सचिव स्तर के अधिकारी को निश्चित कार्यकाल के लिए प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त किया जाएगा।

वर्तमान में नीति आयोग की संरचना के सदस्य हैं-

अध्यक्ष-श्री नरेन्द्र मोदी, माननीय प्रधानमंत्री, भारत सरकार

उपाध्यक्ष (प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त)- डॉ0 राजीव कुमार

पूर्णकालिक सदस्य- श्री वी0 के0 सारस्वत, श्री रमेश चंद, डॉ0 वी0 के0 पॉल

पदेन सदस्य- श्री राजनाथ सिंह, रक्षा मंत्री, श्री अमित शाह, गृह मंत्री, श्रीमती निर्मला सीतारमण, वित्त मंत्री और कॉर्पोरेट मामलों के मंत्री, श्री नरेंद्र सिंह तोमर, कृषि और किसान कल्याण मंत्री, ग्रामीण विकास मंत्रीए पंचायतीराज मंत्री

विशेष आमंत्रित- श्री नितिन जयराम गडकरी, सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्री, सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम मंत्री, श्री थावर चंद गहलोत, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, श्री पीयूष गोयल, रेल मंत्रीय और वाणिज्य और उद्योग मंत्री

श्री राव इंद्रजीत सिंहए सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय के राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार) और योजना मंत्रालय के राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार)

मुख्य कार्यकारी अधिकारी- श्री अमिताभ कांत

8.3.2 नीति आयोग के उद्देश्य

1. नीति आयोग के उद्देश्यों को निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर समझने का प्रयास करते हैं-
2. राज्यों की सक्रिय भागीदारी के साथ राष्ट्रीय विकास प्राथमिकताओं, क्षेत्रों और रणनीतियों का एक साझा दृष्टिकोण विकसित करना।
3. सशक्त राज्य ही सशक्त राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं, इसको स्वीकार करते हुए राज्यों के साथ सतत् आधार पर संरचनात्मक सहयोग की पहल और तंत्रों के माध्यम से सहयोगपूर्ण संघवाद को बढ़ावा देना।
4. ग्राम स्तर पर विश्वसनीय योजनाएं तैयार करने के लिए तंत्र विकसित करना और इन सभी को उत्तरोत्तर रूप से सरकार के उच्चतर स्तर तक पहुँचाना।
5. जो क्षेत्र विशेष रूप से आयोग को निर्दिष्ट किए गए हैं उनकी आर्थिक रणनीति और नीति में राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों को सम्मिलित करने को सुनिश्चित करना।
6. हमारे समाज के उन वर्गों पर विशेष रूप से ध्यान देना जिन तक आर्थिक प्रगति से उचित प्रकार से लाभान्वित ना हो पाने का जोखिम हो।
7. रणनीतिक और दीर्घावधि के लिए नीति तथा कार्यक्रम का ढांचा तैयार करना और पहल करना तथा उनकी प्रगति और क्षमता को मॉनीटर करना। अनुवीक्षण और प्रतिक्रिया के आधार पर नवीन सुधार में उपयोग किए जाएंगे, जिसके अंतर्गत मध्यावधि संशोधन भी हैं।
8. महत्वपूर्ण पणधारियों तथा समान विचारधारा वाले राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय थिंक टैंक और साथ ही साथ शैक्षिक और नीति अनुसंधान संस्थाओं के बीच परामर्श और भागीदारी को प्रोत्साहन देना।
9. राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, वृतिकों तथा अन्य भागीदारों के सहयोगात्मक समुदाय के माध्यम से ज्ञान, नवाचार एवं उद्यमशीलता सहायक प्रणाली बनाना।
10. विकास के एजेंडे के कार्यान्वयन में तेजी लाने के क्रम में अंतर-क्षेत्रीय और अंतर-विभागीय मुद्दों के समाधान के लिए एक मंच प्रदान करना।
11. अत्याधुनिक संसाधन केन्द्र बनाना जो सुशासन तथा सतत् और न्यायसंगत विकास की सर्वश्रेष्ठ कार्यप्रणाली पर अनुसंधान करने के साथ-साथ हितधारियों (Stake holder) तक पहुँचाने में भी मदद करे।
12. आवश्यक संसाधनों की पहचान करने सहित कार्यक्रमों और उपायों के कार्यान्वयन का सक्रिय मूल्यांकन और सक्रिय अनुवीक्षण करना, ताकि सेवाएं प्रदान करने में सफलता की संभावनाओं को प्रबल बनाया जा सके।
13. कार्यक्रमों और नीतियों के क्रियान्वयन के लिए प्रौद्योगिकी उन्नयन और क्षमता निर्माण पर जोर।
14. राष्ट्रीय विकास का एजेंडा और उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य आवश्यक गतिविधियों का उत्तरदायित्व लेना।

8.3.3 नीति आयोग के कार्य

आईये नीति आयोग के कार्यों को निचे दिये गये बिन्दुओं के माध्यम से समझते हैं-

1. राष्ट्रीय उद्देश्यों की रोशनी में राज्यों की सक्रिय भागीदारी के साथ-साथ राष्ट्रीय विकास प्राथमिकताओं के क्षेत्रों और रणनीतियों की एक साझा दृष्टि विकसित करना।
2. निरंतर आधार पर राज्यों के साथ संरचित समर्थन पहल (Structured support in Initiative) और तंत्र के माध्यम से सहकारी संघवाद को बढ़ावा देना, यह स्वीकार करना कि मजबूत राज्य एक मजबूत राष्ट्र बनाते हैं।
3. गाँव स्तर पर विश्वसनीय योजनाएँ बनाने के लिए तंत्र विकसित करना और सरकार के उच्च स्तरों पर इन्हें उत्तरोत्तर विकसित करना।
4. यह सुनिश्चित करने के लिए कि उन क्षेत्रों पर जो विशेष रूप से इसके लिए सन्दर्भित हैं कि आर्थिक रणनीति और नीति में राष्ट्रीय सुरक्षा के हितों को शामिल किया गया है।
5. समाज के उन वर्गों पर विशेष ध्यान देना जो आर्थिक प्रगति से से लाभान्वित नहीं होने के जोखिम में हो सकते हैं।
6. रणनीतिक और दीर्घकालिक नीति, कार्यक्रम ढ़ाँचे और पहलों को डिजाइन करने के लिए उनकी प्रगति और उनकी प्रभावकारिता की निगरानी करें। निगरानी और प्रतिक्रिया के माध्यम से सीखे गये पाठों का उपयोग नवीन सुधार करने के लिए किया जाएगा, जिसमें आवश्यक मध्य.पाठ्यक्रम सुधार भी शामिल हैं।
7. प्रमुख हित धारकों और राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समान विचारधारा वाले थिंक टैंकों के साथ-साथ शैक्षिक और नीति अनुसंधान संस्थानों के बीच भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए।
8. राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों, चिकित्सकों और अन्य भागीदारों के एक सहयोगी समुदाय के माध्यम से एक ज्ञान,नवाचार और उद्यमशीलता सहायता प्रणाली बनाने के लिए।
9. विकास एजेंडा के कार्यान्वयन में तेजी लाने के लिए अंतर-क्षेत्रीय और अंतर-विभागीय मुद्दों के समाधान के लिए एक मंच प्रदान करना।
10. अत्याधुनिक संसाधन केंद्र को बनाए रखने के लिए सुशासन, सतत् और न्यायसंगत विकास में सर्वोत्तम प्रथाओं के साथ-साथ हितधारकों को उनके प्रसार में मदद करने के लिए अनुसंधान का एक भंडार हो।
11. आवश्यक संसाधनों की पहचान सहित कार्यक्रमों और पहलों के कार्यान्वयन की सक्रिय रूप से निगरानी और मूल्यांकन करना, ताकि सफलता की संभावना और वितरण की गुंजाइश को मजबूत किया जा सके।
12. कार्यक्रमों और पहलों के कार्यान्वयन के लिए प्रौद्योगिकी उन्नयन और क्षमता निर्माण पर ध्यान केंद्रित करना।
13. राष्ट्रीय विकास एजेंडे के क्रियान्वयन को आगे बढ़ाने के लिए और उपरोक्त उल्लिखित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अन्य गतिविधियाँ करना आवश्यक हो सकता है।

8.3.4 नीति आयोग और योजना आयोग में प्रमुख अंतर

नीति आयोग	योजना आयोग
नीति आयोग एक सलाहकार थिंक टैंक के रूप में कार्य करता है।	योजना आयोग ने एक संवैधानिक निकाय के रूप में कार्य किया था, जबकि इसे संवैधानिक स्थिति प्राप्त नहीं थी।
नीति आयोग सदस्यों की व्यापक विशेषज्ञता पर बल देता है।	जबकि योजना आयोग सदस्यों की विशेषज्ञता पर निर्भर था।
नीति आयोग सहकारी संघवाद की भावना पर कार्य	योजना आयोग की वार्षिक योजना बैठकों में राज्यों

करता है, क्योंकि यह राज्यों की समान भागीदारी सुनिश्चित करता है।	की भागीदारी बहुत कम रहती थी।
प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त सचिवों को CEO के रूप में जाना जाता है।	योजना आयोग में सचिवों को सामान्य प्रक्रिया के माध्यम से नियुक्त किया जाता था।
नीति आयोग जमीनी स्तर से उपर की ओर कार्य करने पर विश्वास करता है।	जबकि योजना आयोग उपर से निचे की ओर कार्य करता था।
नीति आयोग को नीतियाँ लागू करने का अधिकार नहीं है।	योजना आयोग राज्यों के लिये नीतियाँ बनाता था और स्वीकृत परियोजनाओं के लिये धन आवंटित करता था।
नीति आयोग को धन आवंटित करने की शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। वो शक्ति वित्त मंत्री में निहित है।	जबकि योजना आयोग को मंत्रालयों और राज्य सरकारों को धन आवंटित करने की शक्तियाँ प्राप्त थीं।

योजना आयोग की तुलना में नीति आयोग को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिये इसे बजटीय प्रावधानों में स्वतंत्रता होनी चाहिये और यह योजना तथा गैर-योजना के रूप में नहीं, बल्कि राजस्व और पूँजीगत व्यय की स्वतंत्रता के रूप में होनी चाहिये। इस पूँजीगत व्यय की वृद्धि से अर्थव्यवस्था में सभी स्तरों पर बुनियादी ढ़ाँचे का घाटा दूर हो सकता है।

8.4 राष्ट्रीय विकास परिषद

केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन तथा समायोजन की आवश्यकता को देखते हुये, राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना 6 अगस्त 1952 को की गयी। यह एक संविधानोत्तर निकाय है, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है और इस परिषद को 'सर्वोपरि कैबिनेट' भी कहते हैं। राष्ट्रीय योजना प्रक्रिया में जिला, राज्य, क्षेत्रीय स्तर के मध्य, जोड़ की कड़ी प्रदान करने वाला उपयुक्त निकाय राष्ट्रीय विकास परिषद है। राष्ट्रीय विकास परिषद योजना आयोग से एक उच्च निकाय है, वस्तुतः यह एक नीति-निर्मात्री निकाय है। के0 संथानम का कथन है कि 'राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थिति सम्पूर्ण भारतीय संघ के उच्च मंत्रिमण्डल के समकक्ष है।' अर्थात उसने एक ऐसे मंत्रिमण्डल का रूप धारण कर लिया है जो भारत सरकार और साथ ही सभी राज्यों की सरकारों के लिये कार्य कर रही है।

राष्ट्रीय स्तर पर योजना बनाने का प्रयत्न करते समय सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह उत्पन्न होती है कि भारतीय संघ में समाविष्ट स्वायत्त राज्यों की नीतियों तथा कार्यक्रमों में समन्वय कैसे स्थापित किया जाए। इसके लिए राष्ट्रीय विकास परिषद को एक सशक्त निकाय के रूप में स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी। डॉ0 सी0 पी0 भाम्बरी ने कहा है कि 'योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य समायोजन की स्थापना के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापित की गयी।'

8.4.1 राष्ट्रीय विकास परिषद उद्देश्य

योजना के समर्थन में राष्ट्र के साधनों तथा प्रयत्नों का उपयोग करना और उन्हें शक्तिशाली बनाना, सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों को उन्नत करना तथा योजना आयोग की सिफारिश पर देश के सभी भागों का संतुलित तथा त्वरित विकास निश्चित करना। इसके तीन प्रमुख उद्देश्य हैं-

1. योजना की सहायता के लिये राष्ट्र के स्रोतों तथा परिश्रम को सुदृढ़ करना तथा उनको गतिशील करना।

2. सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में समरूप आर्थिक नीतियों को अपनाने को प्रोत्साहित करना।
3. देश के सभी भागों के तीव्र तथा संतुलित विकास के लिए प्रयास करना।

8.4.2 राष्ट्रीय विकास परिषद रचना

राष्ट्रीय विकास परिषद में प्रधानमंत्री, योजना आयोग के सभी सदस्य, सभी राज्यों के मुख्यमंत्री, संघ शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि तथा भारत सरकार के प्रमुख विभागों के कुछ मंत्री सम्मिलित होते हैं।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने सन् 1967 में अपने एक अध्ययन दल को राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य की समीक्षा करने और भविष्य में इसे अधिक शक्तिशाली बनाने के उपायों के सम्बन्ध में सुझाव देने को कहा था। इस अध्ययन दल द्वारा प्रेषित सुझावों को प्रशासनिक सुधार आयोग एवं भारत सरकार द्वारा कुछ संशोधनों के पश्चात स्वीकार कर लिया गया और इसकी सदस्यता को अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया गया।

योजना आयोग का सचिव, राष्ट्रीय विकास परिषद का सचिव होता है। परिषद की बैठकें वर्ष में साधारणतः दो बार होती है। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। इसकी कार्यविधि योजना आयोग के सचिवालय द्वारा तैयार की जाती है। उसमें राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषय सम्मिलित रहते हैं, जिन पर राज्यों के विचारों को ज्ञात करना अति आवश्यक होता है। इसकी बैठकों में प्रत्येक विषय पर खुलकर चर्चा होती है और निर्णय प्रायः सर्वसम्मति से ही होता है।

8.4.3 राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य

राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रमुख कार्य निम्न है-

1. राष्ट्रीय योजना के निर्धारित लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सुझाव देना।
2. योजना आयोग द्वारा तैयार की गयी राष्ट्रीय योजना पर विचार करना।
3. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक तथा आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना।
4. राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिये तथा इसके साधनों के निर्धारण के लिये पथ-प्रदर्शक सूत्र निश्चित करना।
5. राष्ट्रीय योजना के निर्माण के लिये पथ-प्रदर्शक तत्व परिषद द्वारा प्रतिपादित किये जाते हैं, जिसके अनुसार योजना आयोग अपनी योजना बनाता है।

8.4.4 मूल्यांकन

इस प्रकार राष्ट्रीय विकास परिषद, शासन में नीति-निर्धारण करने वाली सर्वोपरि एवं महत्वपूर्ण संस्था बन गयी है। राष्ट्रीय विकास परिषद का मुख्य कार्य केन्द्र सरकार राज्य सरकारों और योजना आयोग के मध्य विशेषतयाः नियोजन के क्षेत्रों में उनकी नीतियों तथा कार्य योजनाओं के सन्दर्भ में ताल-मेल बनाना तथा उनके बीच एक सेतु के रूप के रूप में कार्य करना है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर केन्द्र एवं राज्यों के बीच विचार-विमर्श तथा उत्तर दायित्वों के विभाजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए राष्ट्रीय विकास परिषद ने भारतीय संघवाद को जीवंत बना दिया है। हालांकि हमेशा से परिस्थितियां ऐसी नहीं रही हैं। एक लम्बे समय तक केन्द्र एवं राज्यों में कांग्रेस का ही शासन होने के कारण राष्ट्रीय विकास परिषद का प्रयोग केन्द्र सरकार के द्वारा लिए गए निर्णयों पर 'रबर स्टैम्प' के रूप में किया जाता रहा है। राज्यों में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के बढ़ते प्रभाव के कारण इस स्थिति में काफी हद तक परिवर्तन आया है। पूर्व वित्तमंत्री एच0 एम0 पटेल का मानना है कि 'योजना आयोग के परामर्शी निकाय में राष्ट्रीय विकास परिषद भी शामिल है। संरचना पर ध्यान दें तो यह बिल्कुल ठीक नहीं है।

राष्ट्रीय विकास परिषद, योजना आयोग से उच्च निकाय है। वस्तुतः यह एक नीति निर्धारक निकाय है और इसकी सिफारिशों को सुझाव मात्र नहीं माना जा सकता, वास्तव में यह नीतिगत निर्णय ही है।'

सरकारिया आयोग का भी सुझाव है कि राष्ट्रीय विकास परिषद को प्रभावी बनाया जाना चाहिए ताकि वह केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सके। आयोग ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर अपनी रिपोर्ट में देश में योजनाबद्ध विकास को दिशा देने के लिये परिषद को और अधिक प्रभावी बनाने की आवश्यकता व्यक्त करते हुये सुझाव दिया है कि इसका पुनर्गठन करके नाम बदलकर ''राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद'' कर दिया जाये।

अभ्यास प्रश्न-

1. नीति आयोग की स्थापना किस वर्ष हुई?
2. भारत के नीति आयोग का अध्यक्ष कौन होता है?
3. नीति आयोग एक संवैधानिक निकाय है। सत्य/असत्य
4. राष्ट्रीय विकास परिषद को 'सर्वोपरि कैबिनेट' भी कहते है। सत्य/असत्य
5. राष्ट्रीय विकास परिषद के अध्यक्ष भारत के प्रधानमंत्री होते है। सत्य /असत्य

8.5 सारांश

भारत में योजनाओं का निर्माण राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उन्नयन के लिये किया जाता रहा है। नीति आयोग, नीति आयोग से पहले योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद इसके निर्माण, क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन के लिये उत्तर दायी संस्थाऐं हैं, जो व्यवहार में मंत्रिमण्डल से भी अधिक प्रभुत्वशाली हो गयी हैं। भारत में आर्थिक नियोजन को यथा संभव लोकतांत्रिक बनाने का प्रयास किया गया है। जनता द्वारा निर्वाचित सरकार ही योजना आयोग और अब नीति आयोग के सहयोग से योजनाओं पर कार्य करती है। आयोग द्वारा राज्यों को निर्देश दिया जाता है कि वे पंचायतों, खण्डों और जिलों से योजना का प्रारूप आमंत्रित करें, इससे राज्य की योजना में स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखा जा सकता है। आर्थिक आयोजन विभिन्न प्रकार के होते हैं तथा प्रचुर मात्रा में विचार-विमर्श एवं विभिन्न चरणों से गुजरने के बाद मूर्त रूप में आते हैं।

8.6 शब्दावली

समाजवादी विचारधारा- उत्पादन के साधनों पर जनता के स्वामित्व में होने की स्थिति का समर्थन करना।

परिप्रेक्ष्यात्मक- किसी सन्दर्भ से सम्बन्धित।

प्रख्यापित- प्रस्तुत करना।

वैश्वीकरण- सम्पूर्ण विश्व का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से निकट आ जाना।

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 2015, **2.** प्रधानमंत्री, **3.** असत्य, **4.** सत्य, **5.** सत्य

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. फड़िया, बी0 एल0 (2007) लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. लक्ष्मीकांत, एम0 (2010) लोक प्रशासन, टाटा में मैग्राहिल, नई दिल्ली।
3. स्पेक्ट्रम (2010) भारतीय राज्य व्यवस्था, स्पेक्ट्रम, नई दिल्ली।
4. वार्षिक रिपोर्ट नीति आयोग- 2018-19 और 2019-20।

5. वेबसाईट नीति आयोग, niti.gov.in
6. लेख, अरविन्द पानगड़िया, उपाध्यक्ष, नीति आयोग।

8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी, अम्रेश्वर एवं माहेश्वरी, श्रीराम, (2002) लोक प्रकाशन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. दत्त, रूद्र एवं सुन्दरम, के0 पी0 एम0 (2010), भारतीय अर्थव्यवस्था, एस0 चांद एण्ड क0 लि0 नई दिल्ली।
3. स्पेक्ट्रम (2010), भारतीय अर्थव्यवस्था, स्पेक्ट्रम, नई दिल्ली।

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. नीति आयोग में केन्द्र सरकार की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. भारत में नियोजन प्रक्रिया को केन्द्रीकृत होना चाहिए अथवा विकेन्द्रीकृत? तर्क प्रस्तुत कीजिए।
3. भारत में नियोजन प्रक्रिया को किस प्रकार अधिक सार्थक बनाया जा सकता है? सुझाव प्ररूतुत कीजिए।

इकाई- 9 राज्य योजना तन्त्र (मशीनरी)

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 नियोजन: अर्थ एवं परिभाषा
9.3 भारत में नियोजन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
9.4 बहुस्तरीय नियोजन
9.5 राज्य स्तरीय नियोजन तंत्र
9.5.1राज्य योजना मंडलों का उद्-भव एवं विकास
9.5.2 योजना आयोग की अनुशंसाएं
9.5.3 प्रशासनिक सुधार आयोग की अनुशंसाएं
9.5.4 योजना आयोग के दिशा निर्देश
9.5.5 सरकारिया आयोग की सिफारिशें
9.5.6 राज्य योजना मंडलों की संरचना
9.5.6.1 अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष
9.5.6.2 सदस्यगण
9.5.7 राज्य योजना मंडलों के कार्यालय
9.5.8 राज्य योजना विभाग
9.5.8.1 राज्य योजना विभाग की संरचना
9.5.8.2 आलोचना के बिंदु
9.5.9 राज्य स्तर पर योजना प्रक्रिया
9.5.10 वार्षिक योजनाएं
9.5.11 योजना का मूल्यांकन
9.5.12 योजना के संबंध में केंद्र और राज्यों के बीच संबंध
9.6 निष्कर्ष
9.7 सारांश
9.8 शब्दावली
9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
9.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.12 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

भारत में भौगोलिक आर्थिक और सामाजिक विविधता व्यापक तौर पर देखने को मिलती है। क्षेत्रीय विस्तार की अधिकता और बहुत बड़ी जनसंख्या के कारण केवल केंद्रीय स्तर पर नियोजन की प्रक्रिया को अपनाकर समस्त क्षेत्रों का समन्वित एवं संतुलित विकास किया जाना असंभव प्रतीत होता है। यही कारण है कि भारत की संघीय व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न प्रांतों या राज्यों का निर्माण एवं पुनर्गठन कर के विकास की एक इकाई के रूप में

स्वीकार किया गया है। देश में विद्यमान इतनी सारी प्रादेशिक और अंतर प्रादेशिक विषमता के व्यापक स्तर पर पाए जाने के कारण ही यहां प्रादेशिक नियोजन के अंतर्गत बहुस्तरीय नियोजन की प्रक्रिया का अपनाया जाना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। बहुस्तरीय नियोजन एक ऐसी प्रक्रिया, जिसमें लोगों की आवश्यकता, जनसंख्या की स्थिति, क्षेत्रीय एवं भौगोलिक दशाएँ तथा संसाधनों की उपलब्धता आदि अनेक ऐसे आधार होते हैं, जिन पर विकास की योजनाओं को विभिन्न स्तरों पर पदानुक्रमिक रूप से क्रियान्वित किया जाता है।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नियोजन के अर्थ एवं परिभाषा को समझ पाएंगे।
- भारत में नियोजन की पृष्ठभूमि को जान पाएंगे।
- भारत में योजना आयोग की समाप्ति के विभिन्न कारणों तथा योजना आयोग एवं नीति आयोग में मूलभूत अंतरों को भी जान पाएंगे।
- भारत में बहु स्तरीय नियोजन की व्यवस्था तथा राज्य स्तरीय योजना तंत्र के अंतर्गत राज्य योजना मंडलों का उद्भव एवं विकास, उनके संदर्भ में योजना आयोग तथा प्रशासनिक आयोग एवं सरकारी आयोग की सिफारिशें तथा योजना आयोग के दिशा निर्देशों के बारे में जान पाएंगे।
- राज्य योजना विभाग उनकी संरचना तथा उनकी आलोचना के बिंदुओं को भी जान पाएंगे।
- राज्य योजना मंडलों के कार्यालयों के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाएंगे।
- राज्य योजना विभाग की संरचना तथा उसकी आलोचना के बिंदुओं को भी जान पाएंगे।
- राज्य स्तर पर योजना प्रक्रिया, वार्षिक योजनाएं, योजनाओं का मूल्यांकन तथा योजना के संदर्भ में केंद्र और राज्यों के बीच संबंध के बारे में भी विस्तार से जान पाएंगे।

9.2 नियोजन: अर्थ एवं परिभाषा

वर्तमान युग नियोजन का युग है और आज विश्व के लगभग सभी देशों ने विकास और उन्नति के लिए आर्थिक नियोजन के मार्ग को अपनाया है। अर्द्ध-विकसित देशों और विकास उन्मुख अर्थव्यवस्था वाले देशों में जहां पर सीमित साधन होते हैं और निश्चित समय के भीतर ही बहुत सा काम करना होता है, नियोजन का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। भारत में गरीबी, बेरोजगारी, सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ, पिछड़ापन, जनसंख्या की समस्या, अशिक्षा आदि कई ऐसे कारण हैं जिनके कारण नियोजन की आवश्यकता और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। यह सब समस्याएं एक दूसरे से संबंधित है इसलिए इनके निवारण और देश के समुचित आर्थिक विकास के लिए नियोजन ही एकमात्र विकल्प है।

नियोजन का अर्थ होता है सही तरीके से सोच- समझ कर कार्य करना। विभिन्न विद्वानों के द्वारा नियोजन की दी गई परिभाषाओं के आधार पर नियोजन के अर्थ को और भली-भांति समझा जा सकता है।

सेक्लर हडसन के अनुसार, ‘‘नियोजन भावी कार्य के लिए आधार की रूपरेखा बनाने की प्रक्रिया है।’’

मिलेट के शब्दों में, ‘‘प्रशासकीय प्रयत्न के उद्देश्यों को निश्चित करने तथा उनको प्राप्त करने के लिए उपयुक्त साधनों की परिकल्पना करने वाली प्रक्रिया ही नियोजन है।’’

भारतीय योजना आयोग के अनुसार, ‘‘नियोजन साधनों के संगठन की एक विधि है, जिसके माध्यम से साधनों का अधिकतम लाभप्रद उपयोग निश्चित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है।’’

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यदि संक्षेप में नियोजन के अर्थ को समझना चाहें, तो कहा जा सकता है कि, किसी भी निर्धारित निश्चित उद्देश्य को प्राप्त करने के किसी सर्वोत्तम मार्ग के चुनाव तथा विकास की चेतन प्रक्रिया ही नियोजन कहलाती है। यह एक व्यापक शब्द है और इसके अंतर्गत अनेक क्रियाएं आती हैं, जैसे- उद्देश्य का निश्चय करना, उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य के संभावित मार्गों पर विचार करना और सर्वोत्तम कार्यवाही का चुनाव करना। इस प्रकार नियोजन एक विवेकपूर्ण, गतिशील तथा पूर्ण प्रक्रिया है। यह सोच-समझ कर, चेतन तथा जानबूझकर किया गया प्रयास है। नियोजन के अपने कुछ आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक उद्देश्य होते हैं।

9.3 भारत में नियोजन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत जैसे विशाल लोकतांत्रिक देश में आर्थिक विकास के लिये आर्थिक नियोजन के मार्ग को अपनाया जाना आवश्यक है। इस आर्थिक विकास का दायित्व अकेले केन्द्र या संघीय सरकार का ना हो कर सरकार के विभिन्न स्तरों का भी है ताकि, सभी दलों एवं सरकारों का नीति निर्माण एवं क्रियान्वयन में समुचित योगदान रहें। भारत में नियोजन का नाम सर्वप्रथम 1933 में तब सुनने में आया,जबकि एम. विश्वेश्वरैया ने देश की आय को दोगुना करने के उद्देश्य से एक दस-वर्षीय योजना बनाई थी। 5 वर्ष पश्चात 1938 में कांग्रेस पार्टी के अनुरोध पर एक राष्ट्रीय योजना समिति बनाई गई जिसके सभापति जवाहरलाल नेहरू बनाए गए। 1941 में भारत सरकार ने नियोजन के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति का स्थान 1946 में कार्यपालिका परिषद की पुनर्रचना समिति ने ले लिया। गवर्नर जनरल स्वयं उसका सभापति था। अगले वर्ष पृथक से एक नियोजन तथा विकास विभाग स्थापित किया गया। इसी वर्ष कुछ प्रमुख उद्योगपतियों ने देश के आर्थिक विकास के लिए "बम्बई योजना" तैयार की। इसी नियोजन विभाग के प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन के अंतर्गत केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में इन सरकारों द्वारा क्रियान्वित करने के लिए कुछ योजनाएं तैयार की गई। 1946 के अंत में अंतरिम सरकार द्वारा स्थापित नियोजन परामर्श दात्री मंडल ने योजना की समस्याओं का अध्ययन किया। इस मंडल ने एक ऐसे योजना आयोग की स्थापना का सुझाव दिया जो एक सुगठित अधिकारिक संगठन हो, सीधा मंत्रिमंडल के प्रति उत्तरदाई हो, और जो संपूर्ण देश के निरंतर विकास पर अपना ध्यान केंद्रित रखें। यह सिफारिश स्वीकार कर ली गई, और भारत सरकार के 15 मार्च, 1950 के प्रस्ताव द्वारा योजना आयोग की स्थापना की गई। योजना आयोग का मुख्य उद्देश्य देश में उपलब्ध संसाधनों का सही आकलन करते हुए विकास की आवश्यकता के अनुसार पंचवर्षीय योजना का निर्माण एवं प्राथमिकता अनुसार संसाधनों का सही आवंटन था। यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं ने भारत का सामाजिक एवं आर्थिक विकास के साथ ही साथ भारी उद्योग के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है फिर भी योजना आयोग को और व्यवहारिक, दक्ष तथा आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने हेतु 1 जनवरी, 2015 को एक मंत्रिमंडलीय प्रस्ताव द्वारा नीति आयोग से प्रतिस्थापित कर दिया गया है। यह विषय बहुत लंबे काल तक विवाद का विषय बना था कि केंद्रीकृत योजना के रूप में योजना आयोग अपने चरम पर पहुंच चुका था तथा अब देश को वर्तमान जरूरतों के अनुरूप एक नए सुधार की आवश्यकता है। इसी को आधार मानते हुए नीति आयोग के गठन के साथ योजना आयोग को समाप्त कर दिया गया। योजना आयोग की समाप्ति के लिए केवल यही एक तर्क नहीं था बल्कि इसके साथ-साथ कई और कारण भी विद्यमान थे। आप उन सब कारणों का विस्तार से पिछले अध्याय में अध्ययन कर चुके होंगे परंतु फिर भी संक्षिप्त में योजना आयोग की समाप्ति के कारणों को एक बार पुनः जान लेते हैं-

1. **वर्तमान आवश्यकता के अनुरूप नहीं होना-** वर्तमान संदर्भ में किसी भी संस्था में विशेषज्ञों का होना बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। योजना आयोग के संरचनात्मक परिदृश्य से देखें तो इसमें विशेषज्ञों को कोई महत्व नहीं दिया गया था। आधुनिक युग की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए नीति आयोग को

भारत सरकार के एक "थिंक-टैंक" के रूप में क्रियान्वित किया गया और इसमें विशेषज्ञों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

2. **राज्यों का प्रतिनिधित्व नहीं होना-** राज्य सरकारें जिस परिस्थितियों में होती थी या उनकी जो आवश्यकताएं या समस्याएं होती थी उन का पर्याप्त ज्ञान संबंधित राज्य सरकारों को ही होता था। परंतु योजना आयोग में राज्यों का प्रतिनिधित्व नगण्य सा ही होने के कारण राज्य सरकारों की योजनाओं के निर्माण में ना तो कोई भूमिका या सहयोग होता था और ना ही उन्हें कोई महत्व प्राप्त नहीं हो पाता था।
3. **ऊपर से नीचे की ओर वाला दृष्टिकोण-** योजना आयोग केंद्रीकृत योजना पर आधारित होता था, अर्थात इसके द्वारा सभी योजनाएं केंद्रीय रूप से ही बनाई जाती थी जिनका मात्र क्रियान्वयन राज्य सरकारों को करना होता था। यही स्थिति वित्त वितरण के समय भी होती थी। वित्त का वितरण करते समय राज्य की आवश्यकताओं का योजना आयोग के द्वारा कोई ध्यान नहीं रखा जाता था।

इस प्रकार योजना आयोग की समाप्ति में इन सब कारणों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। आधारभूत दृष्टि से यदि देखा जाए तो योजना आयोग एवं नीति आयोग दोनों सलाहकारी संस्थाएं हैं, जो अच्छे नियोजन की आवश्यकता के लिए सलाह देने का उत्तरदायित्व निभाती हैं। परंतु फिर भी कुछ ऐसे कारण या तथ्य हैं जिनके आधार पर योजना आयोग और नीति आयोग में कुछ अंतर भी विद्यमान है-

- सहकारी संघवाद का सिद्धांत- जैसा कि आपको बताया गया कि योजना आयोग एक पूर्णतया केंद्र की संस्था के तौर पर काम करती थी, जिसमें राज्यों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं होता था। परंतु नीति आयोग का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखा गया और इसको सहकारी संघवाद के सिद्धांत पर स्थापित किया गया।जिसका अभिप्राय है कि इस संस्था में केंद्र सरकार और राज्य सरकार दोनों का समान प्रतिनिधित्व होगा।राज्यों का प्रतिनिधित्व होने के कारण ही यह आयोग राष्ट्रीय विकास परिषद के रूप में कार्य करने में भी समर्थ है।
- विशेषज्ञों का महत्वपूर्ण स्थान- विशेषज्ञों को योजना आयोग में कम महत्व प्रदान किया गया था परंतु जब नीति आयोग की संरचना की गई तो इसमें इस बात का विशेष तौर पर ध्यान रखा गया कि विशेषज्ञों को पर्याप्त महत्व प्रदान किया जाए। इस संस्था में विशेषज्ञों की उपस्थिति ही इस संस्था को और ज्यादा व्यावहारिक बनाती है।
- बाजार प्रेरित अर्थव्यवस्था के अनुरूप- एक ओर जहां योजना आयोग राज्य प्रेरित अर्थव्यवस्था से संबंधित था, वही नीति आयोग का गठन बाजार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, बाजार प्रेरित अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही किया गया है।
- नीचे से ऊपर का दृष्टिकोण- जैसा कि आपने अब तक के वर्णन से जाना कि योजना आयोग, योजना के निर्माण में ऊपर से नीचे की ओर के दृष्टिकोण को अपनाता था। परंतु अब नीति आयोग में नीचे से ऊपर की ओर के दृष्टिकोण को अपनाया गया है जिसमें राज्यों के सहयोग को बहुत बढ़ावा दिया गया है।
- वित्त का बंटवारा- योजना आयोग राज्यों को वित्त का बंटवारा करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। जबकि अब नीति आयोग इस संदर्भ में भी मात्र एक सलाहकारी संस्था के रूप में काम करता है।
- क्षेत्रीय मुद्दों के लिए क्षेत्रीय परिषद की व्यवस्था- नीति आयोग में क्षेत्रीय मुद्दों या विवादों अर्थात दो या दो से अधिक राज्यों के बीच उत्पन्न होने वाले सभी मुद्दों को सुलझाने के लिए एक क्षेत्रीय परिषद जैसी संस्था का भी प्रावधान है। इस संदर्भ में सभी राज्यों के मुख्यमंत्री/ संघ राज्यों के मुख्यमंत्री/उपराज्यपाल को क्षेत्रीय परिषद का सदस्य बनाने की व्यवस्था की गई है। क्षेत्रीय परिषदों की सदस्यता का यह रूप ही संघवाद को प्रदर्शित करता है। योजना आयोग में इस तरह का कोई भी प्रावधान नहीं पाया जाता था।

अतः उपरोक्त विवरण के पश्चात यह कहा जा सकता है कि, नीति आयोग में योजना आयोग के सलाहकार तथा निरीक्षण के कार्यों को तो बनाए रखा गया है परंतु योजना बनाने तथा उन योजनाओं के क्रियान्वयन हेतु वित्त के आवंटन के कार्यों को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है। यही कारण है की नीति आयोग को एक नीति निर्धारक तथा सहकारी संस्थान का रूप प्राप्त होता है ना कि कार्यकारी संस्था का। नीति आयोग अधिक सहकारी, समावेशी और बाजार की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप एक संस्था के तौर पर देखी जा सकती है।

9.4 बहु स्तरीय नियोजन

भारत में बहुस्तरीय नियोजन के अंतर्गत कुल 5 पदानुक्रमिक नियोजन इकाइयों के माध्यम से विकास कार्यों को विकेंद्रीकृत तरीके से विभिन्न स्तरों पर लागू किया जा रहा है-

1. केंद्रीय स्तरीय नियोजन
2. राज्य स्तरीय नियोजन
3. जिला स्तरीय नियोजन
4. खंड स्तरीय नियोजन
5. पंचायत स्तरीय नियोजन

केंद्रीय नियोजन और राज्य स्तरीय नियोजन वृहद स्तरीय नियोजन के अंतर्गत आते हैं एवं जिला स्तरीय नियोजन खंड स्तरीय नियोजन और पंचायत स्तरीय नियोजन लघु स्तरीय नियोजन की प्रक्रिया है। केंद्रीय स्तर पर नियोजन का कार्य केंद्र सरकार के द्वारा किया जाता है। केंद्रीय स्तर पर नियोजन के कार्यों के लिए नीति आयोग एवं केंद्रीय मंत्रिमंडल जैसी संस्थाएं प्रमुख संस्था के रूप में कार्य करती हैं। केंद्रीय स्तर पर नियोजन का संवैधानिक प्रधान राष्ट्रपति को माना जाता है। लेकिन व्यावहारिक रूप से प्रधानमंत्री नियोजन के प्रधान के रूप में कार्य करते हैं। विभिन्न योजनाओं एवं वैधानिक प्रक्रिया को संसदीय प्रावधानों के अंतर्गत ही क्रियान्वित किया जाता है। केंद्र सरकार, केंद्र सूची एवं समवर्ती सूची के विषय पर विधान बनाने और सामाजिक आर्थिक विकास से संबंधित नीतियों का निर्धारण और क्रियान्वयन करती है। इस कार्य के लिए केंद्रीय सेवा और अखिल भारतीय सेवा के कर्मचारियों का केंद्र सरकार द्वारा सहयोग प्राप्त किया जाता है। राज्य सूची से संबंधित विषयों पर केंद्र सरकार के द्वारा राज्यों को परामर्श प्रदान किया जाता है। साथ ही केंद्रीय योजनाओं के क्रियान्वयन में राज्य सरकारों से उनकी सहभागिता की प्राप्त की जाती है। अर्थात केंद्र अपनी योजनाओं के क्रियान्वयन में राज्य स्तरीय नियोजन की प्रक्रिया को अपनाते हैं। हालांकि लघु स्तरीय स्थानीय निकायों के माध्यम से विकास की परियोजनाओं एवं शासन का विकेंद्रीकरण जैसी व्यवस्था पंचायती राज व्यवस्था के लागू होने के पश्चात ही अपनाई जा सकी। 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन के द्वारा जब पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा एवं वैधानिक अधिकार प्रदान किए गए तभी सच्चे अर्थ में बहु स्तरीय नियोजन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। इसके साथ ही जिला स्तरीय नियोजन, खंड स्तरीय नियोजन तथा सबसे निचले स्तर पर पंचायत स्तरीय नियोजन एवं विकास की प्रक्रिया पदानुक्रमिक रूप से अपनाई गई। इसके साथ ही सत्ता तथा शासन का विकेंद्रीकरण प्रारंभ हो सका और ग्रामीण स्तरीय नियोजन के माध्यम से ग्रामीण विकास को भी गति प्रदान की गई। विकेंद्रीकृत योजनाओं में योजना कार्य, क्रियान्वयन एवं निरीक्षण मात्र एक केंद्रीकृत योजना के रूप में ना होकर विभिन्न इकाइयों के माध्यम से किया जाता है, जिससे विभिन्न स्तरों पर जन सहभागिता में वृद्धि होती है। इस प्रकार पूर्णता लोकतांत्रिक तरीके से स्थानीय समुदायों का पूर्ण भागीदारी के आधार पर विकास की नीतियों का क्रियान्वयन किया जाता है।

अब तक के वर्णन से आप ये तो स्पष्ट रूप से समझ गये होंगे की भारत में जिस प्रकार की संघीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था को अपनाया गया है उस में योजना निर्माण की दृष्टि से राज्य सरकारों की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

राष्ट्रीय स्तर की योजनाओं में कृषि, ऊर्जा, सहकारिता जैसे महत्वपूर्ण विषय से सम्बन्धित विकास गतिविधियों में राज्य सरकारों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राज्य सरकारों को ये सब कार्य करने के लिये ना केवल वित्तीय संसाधन या स्रोत प्रदान किये जाते हैं बल्कि इन कार्यों के लिये ये केन्द्र सरकार से भी अपना अंश प्राप्त करती हैं। इस प्रकार राज्य सरकारें राष्ट्रीय योजना हेतु वित्त का समुचित प्रबन्ध करती हैं। अतः यदि ये कह दिया जाए कि, राष्ट्रीय योजना की सफलता राज्य योजनाओं की सफलता या यूँ कहें की प्रभावशीलता पर निर्भर करती है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रस्तुत इकाई में हम राज्य योजना तन्त्र से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

9.5 राज्य स्तरीय योजना तंत्र

राज्य के योजना तन्त्र को जानने से पहले आइए भारतीय प्रशासन में राज्य के अस्तित्व एवं महत्ता को थोड़ा समझें। आप को ज्ञात ही होगा कि, भारत में करीब दो सौ वर्षों तक ब्रिटिश शासन रहा और स्वतंत्रता के पश्चात् हमने विरासत में अंग्रेजी काल के प्रशासन की ही अनेकों विशेषताओं को अपनाया। उन सभी विशेषताओं में से एक महत्वपूर्ण विशेषता संघात्मक शासन व्यवस्था भी है। संघात्मक शासन व्यवस्था का आशय, शासन की एक ऐसी व्यवस्था से होता है, जिस में शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्र एवं राज्यों के बीच विभक्त होती हैं। उस काल (ब्रिटिश काल) में ये विभाजन तीन सूचियों के द्वारा व्यवस्थित होता था जो क्रमशः संघीय सूची, राज्य सूची एवं समवर्ती सूची होती थी। स्वतंत्रता के पश्चात् जब हमारे संविधान का निर्माण किया जा रहा था तो भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारत की विविधता और विशालता को देखते हुए भारत के लिये भी संघात्मक शासन व्यवस्था का चुनाव किया एवं संघ और राज्यों के बीच संबंधों को सुगम बनाए रखने के लिये उनके कानूनी क्षेत्राधिकार एवं कानून निर्माण की शक्तियों का निर्धारण किया। भारतीय संविधान में अंग्रेज़ी काल की तर्ज़ पर ही संघ और राज्यों के मध्य संतुलन बनाए रखने हेतु इस प्रकार की ही व्यवस्था की गई है।हमारे संविधान ने सरकार के समस्त विषयों को तीन सूचियों क्रमशः संघीय, राज्य एवं समवर्ती सूची में विभक्त कर रखा है। इनमें राज्य सरकारों द्वारा राजस्व संग्रहण के साधनों भी स्पष्ट वर्णन किया गया है। राज्य सरकारों को बिक्री कर तथा भूमि कर लगाने का अधिकार प्रदान किया गया है साथ ही ये भी बताया गया है कि, राज्य सरकारों को क़ानूनी तौर पर भी केंद्रीय सरकार द्वारा कुछ वित्तीय संसाधनों या स्रोतों को भी प्राप्त करने का भी अधिकार प्राप्त हैं।

भारतीय संविधान की 7वीं अनुसूची इस बात का निर्धारण करती है कि संघ और राज्य के मध्य भिन्न-भिन्न विषयों पर कानून निर्माण हेतु शक्तियों का बँटवारा किस प्रकार किया जाएगा।

संविधान की 7वीं अनुसूची में तीन प्रकार की सूचियाँ दी गई हैं- (1) संघ सूची (2) राज्य सूची और (3) समवर्ती सूची। संघ सूची में ऐसे विषयों का समावेशन किया गया है जिन पर कानून निर्माण की शक्ति सिर्फ केंद्र के पास है और राज्य सूची में उन विषयों का समावेशन किया गया है जिन पर कानून निर्माण की शक्ति राज्य के पास है, वहीं समवर्ती सूची में समावेशित विषयों पर राज्य व केंद्र स्तर की सरकारों को कानून बनाने का अधिकार है।हालांकि विशिष्ट शक्तियां केंद्र को प्रदान की गई है ताकि भारत की संघीय व्यवस्था में, क्षेत्रीय एवं प्रांतीय हितों के साथ ही राष्ट्रीय हितों को भी सुरक्षित रखा जा सके। इस दिशा में राज्य, राज्य सहभागिता के आधार पर विकास की प्रक्रिया अपनायी जाती है।

चूँकि किसी भी राष्ट्र को अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों की प्राप्ति एवं अपने नागरिकों के विकास हेतु कुछ योजनाओं और नीतियों की आवश्यकता होती है, इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए नीति-निर्माताओं ने भारत की संघीय व्यवस्था में संघ और राज्य के मध्य भारत की विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये इसे दो भागों- केंद्रीय क्षेत्रक योजना (Central Sector Schemes) और केंद्र प्रायोजित योजना (Centrally Sponsored Schemes) में विभाजित किया है।

केंद्रीय क्षेत्रक योजनाएं मुख्य रूप से संघ सूची या केंद्रीय सूची में वर्णित विषय पर बनाई जाती है, साथ ही इन योजनाओं की एक मुख्य विशेषता यह भी होती है कि इन योजनाओं में लगने वाला सौ प्रतिशत वित्त केंद्र सरकार द्वारा ही लगाया जाता है तथा उनका क्रियान्वयन भी केंद्रीय तंत्र के द्वारा ही किया जाता है। नमामि गंगे -राष्ट्रीय गंगा योजना, गरीब घरों में एलपीजी कनेक्शन, फसल बीमा योजना, छात्रवृत्ति योजना आदि योजनाएं केंद्रीय क्षेत्र योजनाओं के उदाहरण के तौर पर समझी जा सकती है। इसके अलावा केंद्रीय क्षेत्रक योजनाओं में कुछ ऐसे कार्यक्रम भी शामिल होते हैं जो विभिन्न केंद्रीय मंत्रालयों द्वारा सीधे विभिन्न राज्यों तथा केंद्र शासित प्रदेशों में लागू किए जाते हैं। वहीं दूसरी ओर केंद्र प्रायोजित योजनाओं की बात की जाए तो यह वह योजनाएं है जो मुख्यतः राज्य सूची के अंतर्गत आने वाले विषयों पर ही तैयार की जाती है। इनका अर्थ ऐसी योजनाओं से होता है, जिनमें योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए वित्त की व्यवस्था केंद्र तथा राज्य सरकारों दोनों के द्वारा मिलकर की जाती है। राज्य द्वारा दी जाने वाली राशि या वित्त का प्रतिशत राज्यों के साथ परिवर्तित होता रहता है। इस श्रेणी में मुख्यतः ऐतिहासिक तौर पर उन्हीं योजनाओं को शामिल किया जाता है जिसमें केंद्र सरकार राज्यों को योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है। यह प्रतिशत 50:50, 60:40, 70:30, 70:25, का भी हो सकता है। कुछ विशेष राज्यों जैसे पूर्वोत्तर और पहाड़ी राज्यों के लिए यह 90:10 का भी रह सकता है। अर्थात 90 प्रतिशत धन केंद्र सरकार द्वारा लगाया जाता है और राज्य सरकार द्वारा लगाए जाने वाले धनराशि का प्रतिशत 10 ही होता है। मनरेगा (MGNREGA), प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, प्रधानमंत्री आवास योजना, स्वच्छ भारत अभियान, राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन आदि इस प्रकार की योजनाओं के उदाहरण के तौर पर देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार अब यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो चुकी है कि समता के साथ आर्थिक विकास का उत्तरदायित्व अकेले संघीय सरकार का ही नहीं होता बल्कि इसमें राज्य सरकारों का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। राज्य की योजनाओं को आवश्यक महत्व दिए बिना राष्ट्रीय योजनाओं का तैयार किया जाना भी असंभव होता है। राज्य सूची के विकास से संबंधित कार्यक्रम को राष्ट्रीय स्तर पर आवश्यक महत्ता प्रदान की जाती है जैसे कृषि, सिंचाई, ऊर्जा सामाजिक सेवाएं आदि।

9.5.1 राज्य योजना मंडलों का उद्-भव एवं विकास

जैसा कि आपने अब तक जाना कि, योजना आयोग भारत में एक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली परामर्शदात्री अभिकरण होता था। योजना आयोग संवैधानिक सत्ता नहीं थी, अर्थात योजना आयोग का संविधान में उल्लेख नहीं था। इस संस्था की केंद्र में स्थापना के समय तक राज्यों में इस तरह की किसी संरचना के निर्माण को ज्यादा महत्व नहीं दिया गया था, परिणाम स्वरूप राज्य स्तर पर बहुत लंबे समय तक योजना आयोग जैसी या उसके समानांतर, किसी संस्था की स्थापना नहीं की गई। इसलिए स्वतंत्रता के बाद के प्रथम दशक में राज्य योजना विभाग ने ही इस दायित्व का निर्वाह किया।

9.5.2 योजना आयोग की अनुशंसाएं

1950 के दशक में ही राज्य स्तर पर भी योजना आयोग जैसी एक संस्था की आवश्यकता को महसूस किया गया था।योजना आयोग स्वयं भी प्रारंभ से ही राज्य योजना तंत्र को सशक्त बनाने का पक्षधर रहा और इसके पीछे उसकी मंशा थी कि, योजना की प्रक्रिया एकीकृत, वास्तविक व प्रभावशाली बन सके। अतः योजना आयोग ने राज्यों में योजना आयोग जैसी ही एक संस्था स्थापित करने पर जोर दिया। योजना आयोग ने अपने प्रारंभिक सुझाव में तो राज्य के योजना विभागों को सशक्त करने की अनुशंसा की थी, परंतु बाद में, राज्य योजना बोर्ड की स्थापना का सुझाव दिया। वर्ष 1962 में पहली बार केंद्रीय स्तर के इस योजना आयोग ने ही राज्य स्तर पर योजना से संबंधित व्यवस्था का निर्माण करने हेतु कुछ सुझाव दिए और कहा कि राज्यों के स्तर पर भी योजना मंडलों का

गठन किया जाना चाहिए। राज्य स्तर की योजना से संबंधित इकाइयों के संदर्भ में, योजना आयोग द्वारा दी गई सभी सिफारिशों को निम्नलिखित बिंदुओं के आधार पर सरलता से समझा जा सकता है-

1. योजना आयोग ने विशेष रूप से सुझाव दिया और कहा कि, राज्यों के स्तर पर भी योजना मंडलों का गठन किया जाना चाहिए।
2. योजना आयोग ने इस बात पर भी जोर दिया कि, राज्य स्तर पर न केवल इस प्रकार की संरचना का गठन किया जाए बल्कि उन्हें उस स्तर की पंचवर्षीय तथा दूरगामी दृष्टिकोण की योजनाएं बनाने का अधिकार भी प्रदान किया जाना चाहिए।
3. इन संस्थाओं को वित्तीय साधनों/स्रोतों के एकत्रीकरण का अधिकार प्रदान करने का सुझाव भी दिया।
4. एक सुझाव यह भी दिया कि, यह संस्थाएं सामाजिक लक्षणों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उचित नीतियां तथा कार्यक्रम भी बनाएंगी।

योजना आयोग द्वारा राज्य हेतु दिए जाने वाले इन सुझावों का एकमात्र उद्देश्य यही बताया गया था कि, योजना आयोग अपने साथ-साथ राज्य स्तर पर भी दीर्घकालीन योजनाओं के निर्माण और सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु एक और उत्तरदायी संस्था का निर्माण करना चाहता था।

9.5.3 प्रशासनिक सुधार आयोग की अनुशंसाएं

केंद्रीय योजना आयोग के इन्हीं सभी सुझावों के परिणाम स्वरूप अनेक राज्य सरकारों ने अपने राज्य में राज्य योजना मंडलों का गठन किया। विभिन्न राज्यों ने अपने यहां स्थापित इन संस्थाओं का अलग-अलग नाम रखा जैसे राज्य विकास मंडल एवं योजना के लिए राज्य सलाहकार समिति आदि। वर्ष 1967 में प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा भी योजना आयोग की भांति राज्यों में पंचवर्षीय योजना के निर्माण और मूल्यांकन के लिए राज्य योजना बोर्ड की स्थापना की अनुशंसा की गई। आयोग द्वारा यह भी कहा गया कि, राज्य योजना बोर्ड का अपना स्वयं का सचिवालय होना चाहिए जो उसके कार्यो को सुचारू रूप से संपन्न कर सके। उस समय विद्यमान विभिन्न राज्य योजना मंडलों की स्थिति को देखते हुए प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा यह पाया गया कि, ना तो इन राज्य योजना मंडलों के कार्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित ही किया गया है और न ही उनकी स्थिति और प्रगति भी संतोषजनक है। प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा यह कहा गया कि," इन राज्य योजना मंडलों को जो कार्य सौंपे गए हैं उन्हें भ्रामक तरीके से परिभाषित किया गया है।" आयोग का यह मानना था कि, जिन राज्य योजना मंडलों या इस प्रकार की जिन अन्य संस्थाओं की नियुक्ति राज्य स्तर पर की गई है, वे संस्थाएं ना तो राज्यों में योजना तंत्र को मजबूत कर पाई है और ना ही उनके कारण योजना की प्रक्रिया में कुछ सुधार ला पाई है। परिणामस्वरूप प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा राज्य स्तर की योजना इकाइयों(राज्य योजना मंडल) के कार्यों के संदर्भ में अपनी कुछ अनुशंसाएं प्रस्तुत की गई जो कुछ इस प्रकार हैं-

1. राज्य के स्रोतों का निर्धारण करना और प्रभावी तरीके से योजनाओं का निर्माण करना जिससे संतुलित तरीके से स्रोतों का उपयोग किया जा सके।
2. राष्ट्रीय योजना के ढांचे के अंतर्गत राज्य की प्राथमिकता के अनुकूल योजना का निर्माण करना।
3. जिला सत्ता को विकास योजनाओं के निर्माण में सहायता प्रदान करना और इन योजनाओं को राज्य की योजनाओं के बीच समन्वय स्थापित करना।
4. राज्य के आर्थिक और सामाजिक विकास में बाधा उत्पन्न करने वाले तत्वों का पता लगाना और सफल क्रियान्वयन की शर्तों को निश्चित करना।
5. योजना के कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की प्रगति की समीक्षा करना और नीतियों एवं कदमों में सुधार हेतु सुझाव प्रेषित करना।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि, प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा दिए जाने वाले सुझावों के पीछे की मंशा यही थी कि, राज्य योजना आयोग को संघीय योजना आयोग के अनुरूप ही प्रभावशाली बनाया जाए। इन संस्थाओं को भी केंद्रीय योजना आयोग की भांति राज्य स्तर पर योजना को बनाने, साधनों का आकलन करने, प्राथमिकताओं को निर्धारित करने, जिला योजना को बढ़ावा देने तथा उनके साथ तालमेल बैठाने आदि से संबंधित महत्वपूर्ण जिम्मेदारी प्रदान की जाए। इन सबके अलावा राज्य स्तर का यह योजना मंडल संघीय योजना आयोग की इकाइयों की भांति काम करेगा तथा अन्य योजना भूमिकाओं जैसे योजनाओं का मूल्यांकन आदि का भी निर्वाह करेगा।

वैसे प्रशासनिक सुधार आयोग(1967) की रिपोर्ट से काफी पहले विभिन्न राज्यों के प्रशासनिक सुधार समितियों ने राज्यों में योजना मंडल अथवा योजना आयोग की स्थापना की अनुशंसा की थी। राजस्थान के समान अन्य राज्यों ने भी राज्य स्तर पर योजना-तंत्र को सशक्त बनाने हेतु उचित योजना संस्थाओं की स्थापना की दिशा में पहल की।

9.5.4 योजना आयोग के दिशा निर्देश

प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा दी गई इन महत्वपूर्ण सिफारिशों को ना तो केंद्रीय सरकार और ना ही राज्य सरकारों ने गंभीरता से लिया। परंतु राज्य स्तर पर एक विशेषज्ञ युक्त सलाहकार समिति की आवश्यकता को अवश्य महसूस किया गया। अतः वर्ष 1972 में योजना आयोग ने राज्य स्तरीय योजना(मशीनरी) को सशक्त बनाने के लिए दिशानिर्देश जारी किए। अपने दिशा निर्देशों में योजना आयोग ने यह सुझाया कि, इस प्रकार के योजना मंडल शिखर पर कायम किए जाएं और उनमें तकनीकी विशेषज्ञों तथा अन्य विशेषज्ञों को सम्मिलित किया जाए तथा उनकी प्रभावी मदद के लिए कुछ ऐसे संचालन समूहों की व्यवस्था की जाए जो कि कृषि, सिंचाई तथा ऊर्जा, सामाजिक सेवाओं आदि विषयों से संबंधित जानकारी दें। आगे यह भी सुझाया कि, हर एक संचालन समूह का पूर्ण प्रभारी राज्य योजना मंडल के एक विषय विशेषज्ञ सदस्य को बनाया जाना चाहिए। यह व्यवस्था केंद्रीय योजना आयोग की व्यवस्था के अनुरूप ही है जिसमें पूर्णकालिक सदस्य अलग-अलग विषय वस्तुओं के संबंध में उत्तरदाई होते हैं। अंतर सिर्फ इतना होता है कि, इन्हें संचालन समूहों के माध्यम से काम करना होता है। यहां यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि वास्तविक व्यवहारिक योजना का कामकाज पहले की भांति राज्य विकास विभागों को ही करना है। योजना आयोग के दिशा-निर्देशों और प्रयासों के परिणाम स्वरूप भारत के अनेक राज्यों में राज्य योजना मंडल या इससे मिलती-जुलती कुछ और योजना की इकाइयों को स्थापित किया गया ताकि वे योजना निर्माण के कार्य में योजना आयोग को सहयोग कर सकें।

इन सब के उपरांत 80 के दशक के मध्य में सरकारिया आयोग ने पाया कि इन राज्य योजना मंडलों की भूमिका अनेक मामलों में संतोषप्रद नहीं है। अतः वर्ष 1988 में राज्य स्तर की योजना तंत्र अर्थात राज्य योजना मंडलों के कामकाज हेतु सरकारिया आयोग के द्वारा अपना प्रतिवेदन दिया जिसमें उन्होंने अनेक बातों की सिफारिश की।

9.5.5 सरकारिया आयोग की सिफारिशें

जून 1983 में केंद्र सरकार के द्वारा संघ राज्य संबंधों पर अपनी सिफारिशों प्रदान करने हेतु स्थापित किया गया था। इस आयोग के द्वारा सभी राज्यों के राज्य योजना मंडलों की व्यवहारिक स्थिति का अध्ययन करने के बाद यह परिणाम सामने आया कि केवल कुछ ही राज्यों ने अपने राज्यों में योजना मंडलों को प्रत्यक्ष तौर पर योजना निर्माण के कार्य में सहभागी बनाया है। अधिकांश राज्यों द्वारा इन राज्य योजना मंडलों को वार्षिक योजना के निर्माण में जोड़ा ही नहीं गया है। अतः इस न्यायमूर्ति सरकारिया आयोग द्वारा ऐसा महसूस किया गया कि, राज्य योजना मंडलों को वार्षिक योजना के कार्यों में सहभागी बनाया जाना अत्यधिक आवश्यक है।

परिणाम स्वरूप अपने इस अध्ययन के बाद न्यायमूर्ति रणजीत सिंह सरकारिया आयोग ने 1988 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने बताया कि यद्यपि केवल एक राज्य को छोड़कर बाकी सभी राज्यों ने अपने यहां राज्य योजना मंडलों की स्थापना कर ली है, परंतु फिर भी इन राज्य योजना मंडलों की स्थिति ऐसी नहीं है कि, वे वास्तविक योजना कार्य में अपना योगदान दें। राज्य सरकारों द्वारा इन राज्य योजना मंडलों को उचित दर्जा और सम्मान प्रदान नहीं किया गया है। इसलिए इस न्यायमूर्ति सरकारिया आयोग ने 1988 में अपने प्रतिवेदन में सुझाव देते हुए यह कहा कि, राज्यों में इन योजना मंडलों को वैसी ही भूमिका प्रदान की जानी चाहिए जैसी भूमिका केंद्र में योजना आयोग को प्रदान की गई है इन्हें वार्षिक योजना के कार्यों में सहभागी बनाया जाना अत्यधिक आवश्यक है। ठीक इसी प्रकार राज्य योजना विभागों की भूमिका के संदर्भ में भी उन्होंने कहा कि, वर्तमान में यह राज्य योजना विभाग मात्र विधायी तथा कुछ सीमा तक कार्यपालिका विषय से संबंधित दायित्व का निर्वाह कर रहा है। अतः इन योजना विभागों को भी वैसी ही भूमिका निभानी चाहिए जैसी संघ योजना मंत्रालय द्वारा निभाई जाती है।

9.5.6 राज्य योजना मंडलों की संरचना

अब तक के संपूर्ण विवरण के द्वारा आप को यह समझाने का प्रयास किया गया कि, किस प्रकार विगत वर्षों में योजना आयोग की स्वयं की तथा विभिन्न आयोगों की सिफारिशों के आधार पर भारत के विभिन्न राज्यों में राज्य योजना तंत्र की इकाइयों को स्थापित किया गया। राज्य स्तर की योजना संबंधित इन इकाइयों अर्थात राज्य योजना मंडलों का विकास सभी राज्यों में असमान रूप से हुआ है यही कारण है कि, विभिन्न राज्यों में इन राज्य योजना मंडलों की संरचना भी भिन्न भिन्न प्रकार की पाई जाती है। आज समस्त राज्यों में योजना बोर्ड स्थापित है, किंतु बोर्ड की स्थिति और योजना प्रक्रिया की प्रभावशीलता विभिन्न राज्यों में अलग-अलग है। अनेक राज्यों के योजना आयोग का इतिहास व्यवधानों से भरा हुआ है। जैसे आंध्र प्रदेश, में राज्य योजना बोर्ड की स्थापना 1974 में हुई थी। बोर्ड कुछ समय तक अस्तित्व में रहा और फिर निष्क्रिय हो गया। 1983 में राज्य योजना बोर्ड का नवीन नाम राज्य विकास बोर्ड के नाम से अस्तित्व में आया। बिहार योजना बोर्ड 1973 में स्थापित हुआ। गुजरात योजना बोर्ड का 1980 में पुनर्गठन हुआ परंतु मार्च, 1985 में उसने काम करना बंद कर दिया। तमिलनाडु में बोर्ड एक पूर्ण कालीन गैर अधिकारी की अध्यक्षता में कार्यरत है। कर्नाटक राज्य में बोर्ड एक सलाहकार के रूप में कार्य कर रहा है जिसका प्रभाव अलग-अलग सरकारों में विभिन्न प्रकार का रहा है। कर्नाटक सचिवालय में 'योजना परिषद' के नाम का एक समानांतर संगठन कार्यरत है। मध्य प्रदेश में योजना बोर्ड की स्थापना 1972 में हुई थी, जिसका अनेक बार पुनर्गठन हुआ है और बोर्ड ने योजना के क्षेत्र में संतोषप्रद कार्य किया है। महाराष्ट्र में, योजना बोर्ड के स्थान पर योजना उप समिति कार्यरत है। इसका प्रमुख मुख्यमंत्री होता है और लगभग 12 मंत्री इसके सदस्य होते हैं। उत्तर प्रदेश में योजना आयोग कार्यरत है जिसका स्वयं का पर्याप्त स्टाफ है। इसके अतिरिक्त पंजाब और हरियाणा में भी योजना बोर्ड है। गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक और पश्चिम बंगाल के योजना बोर्ड का प्रभाव है और प्रभावशाली हैं। सिक्किम शायद एकमात्र ऐसा राज्य है जहां यह बोर्ड अस्तित्व में नहीं है। अधिकांश राज्यों में मुख्यमंत्री बोर्ड का अध्यक्ष है। तमिलनाडु और मेघालय में सरकार द्वारा मनोनीत गैर सरकारी बोर्ड का अध्यक्ष होता है। गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, नागालैंड, मध्य प्रदेश में योजना मंत्री योजना बोर्ड का उपाध्यक्ष होता है। हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मेघालय में विधायक को उपाध्यक्ष मनोनीत किया जाता है। यह मंत्री के समकक्ष पद का होता है।

आइए अब राज्यों में कार्यरत योजना मंडलों की संरचना की संक्षिप्त रूपरेखा देखते हैं-

9.5.6.1 अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष

सामान्य परिस्थितियों में राज्य योजना मंडल का अध्यक्ष मुख्यमंत्री होता है और यदि किसी कारण से वहां पर आपातकाल अर्थात राष्ट्रपति शासन लागू हो जाए तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल को अध्यक्षता का पद प्राप्त हो जाता है।

राज्य योजना मंडलों के उपाध्यक्ष का पद आमतौर पर संघीय योजना आयोग की भांति ही कैबिनेट स्तर के मंत्री को सौंपा जाता है या उसके अलावा किसी अनुभवी राजनेता को इस पद पर स्थापित किया जाता है। सामान्य तौर पर इस पद पर स्थापित किए जाने वाले व्यक्तियों के बारे में ज्यादातर राज्यों में समानता ही देखने को मिलती है। सामान्य परिस्थितियों में वित्त मंत्री अथवा योजना मंत्री द्वारा ही इस पद का कार्यभार संभाला जाता है। कुछ राज्यों में इस पद पर गैर-सरकारी विशेषज्ञों को भी रखा गया है। राष्ट्रपति शासन के दौरान इस पद का कार्यभार या तो मुख्य सचिव को सौंपा जाता है या राज्यपाल के सलाहकार को इस पद पर आसीन किया जाता है।

9.5.6.2 सदस्यगण

जैसा कि आपको इससे पूर्व के विवरण में बताया गया है कि राज्यों में योजना मंडल का गठन एवं उनकी संरचना हर राज्य में भिन्न-भिन्न ही रही है। परंतु साधारणतया राज्यों के योजना मंडलों में दो श्रेणी के सदस्य पाए जाते हैं- सरकारी अधिकारी और गैर-सरकारी सदस्य।

अधिकांश राज्य योजना मंडलों में पहली श्रेणी के इन सरकारी अधिकारियों की श्रेणी में विभिन्न प्रशासनिक अधिकारी सरकारी अधिकारी के रूप में शामिल होते हैं। जैसे मुख्य सचिव, विकास आयुक्त, वित्त आयुक्त, योजना सचिव (यह आमतौर पर मंडल का सदस्य सचिव होता है), वित्त सचिव तथा अन्य विभागाध्यक्ष आदि।

गैर-सरकारी सदस्य भी दो प्रकार के होते हैं- पूर्णकालिक सदस्य और अंशकालिक सदस्य।

यह दोनों ही प्रकार के सदस्य (पूर्णकालिक एवं अंशकालिक) प्रकृति में विशेषज्ञ एवं गैर विशेषज्ञ दोनों ही होते हैं। गैर-सरकारी गैर-विशेषज्ञ अधिकारियों के अंतर्गत विभिन्न मंत्रीगणों, सांसदों, विधायकों, जिला परिषद सदस्य तथा विकास समितियों एवं गैर-सरकारी जानकारों यानी विशेषज्ञों को सदस्य रखा जाता है। गैर-सरकारी विशेषज्ञ अधिकारियों के अंतर्गत आमतौर पर अर्थशास्त्र, प्राविधिकी, विज्ञान, उद्योग, विधि तथा शिक्षा के क्षेत्रों में से अधिकारियों को लिया जाता है। यह सभी विशेषज्ञ अपने-अपने क्षेत्रों में अनुभवी, ख्याति प्राप्त एवं जाने-माने विद्वान होते हैं। आमतौर पर राज्य योजना मंडलों के यह गैर-सरकारी विशेषज्ञ सदस्य सामान्य तौर पर अंशकालिक रूप में ही काम करते हैं, अर्थात आवश्यकता पड़ने पर ही इनसे सलाह ली जाती है।

यद्यपि विभिन्न राज्यों में पूर्णकालिक तथा अंशकालिक सदस्यों की संख्या बदलती रहती है। परंतु अधिकांश राज्यों में पूर्णकालिक सदस्यों की तुलना में अंशकालिक सदस्यों की संख्या ही ज्यादा पाई जाती है।

उसी प्रकार सभी राज्यों में गैर-सरकारी, गैर-विशेषज्ञ सदस्यों अर्थात राजनेताओं की संख्या में अंतर तो देखने को मिलता है परंतु इनकी संख्या सभी राज्य योजना मंडलों में अधिक ही होती है। इसका कारण उनका सत्ता में वर्चस्व होना ही माना जाता है।

विशेषज्ञों की संख्या के बारे में भी सभी राज्यों में बहुत अंतर दिखाई देता है। व्यवहार में कई ऐसे राज्य योजना मंडल भी रहे हैं जिसमें किसी भी विशेषज्ञ को सदस्य के तौर पर नहीं रखा गया, वहीं दूसरी तरफ कुछ ऐसे अपवाद भी पाए जाते हैं जिनके तहत सभी विशेषज्ञ अर्थात अर्थशास्त्र विभाग के जानकार व्यक्तियों को ही रखा गया हो।

9.5.7 राज्य योजना मंडलों के कार्यालय

राज्य योजना मंडल में प्रमुख प्रशासनिक पद सदस्य सचिव का होता है। अधिकांश राज्यों में इस पद पर योजना विभाग का सचिव ही काम करता है। कुछ अपवाद स्वरूप मामलों में यह भूमिका गैर-सरकारी सदस्य भी निभाते

रहे हैं। सदस्य सचिव राज्य की योजना प्रक्रिया में अहम भूमिका निभाता है या वह एक प्रकार की धुरी होता है, जिसके चारों तरफ योजना चक्र घूमता रहता है तथा वह एक ऐसा सेतु होता है, जो कि राज्य योजना मंडल तथा सरकार के योजना विभाग की कड़ियों को जोड़ता है। तात्पर्य है कि वे उनके बीच तालमेल बैठता है।जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि, अधिकांश राज्यों में कोई स्वतंत्र सचिवालय नहीं पाए जाते हैं। जिन थोड़े से राज्यों में सचिवालय पाये जाते हैं उनमें योजना निर्माण तथा मूल्यांकन के कार्य विषय वार अन्य खंडों में विभाजित किए जाते हैं अथवा अन्य कार्य समूह होते हैं- जैसे संघीय योजना आयोग में किया जाता रहा है। उनकी संख्या तथा नामावली हर राज्य में भिन्न-भिन्न रही है।

इन रांची योजना मंडलों के मूल्यांकन हेतु चाहे सदस्य संख्या की दृष्टि से देखा जाए, या चाहे "स्टाफ" की तकनीकी योग्यता के हिसाब से परखा जाए, राज्य योजना मंडल अभाव से ग्रस्त होते हैं। नतीजतन वे राज्य में योजना बनाने, विकास, सूचना मॉनिटर करने तथा मूल्यांकन के महत्वपूर्ण कार्य करने में असमर्थ होते हैं। कुछ राज्यों में राज्य योजना मंडलों से जुड़े कार्यालय छोटे या अशक्त होते हैं, तथा अन्य राज्यों में योजना विभाग ही योजना बनाने के विषय में व्यापक भूमिका का निर्वाह करते हैं। अतः हमारा यह राज्य नियोजन तंत्र का अध्ययन तब तक पूरा नहीं होगा, जब तक कि हम राज्य योजना विभाग की भूमिका तथा संरचना के विषय में जानकारी हासिल नहीं करेंगे, अर्थात उनका भी हम विश्लेषण करेंगे।

9.5.8 राज्य योजना विभाग

भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था है। इसलिए योजना निर्माण और क्रियान्वयन का दायित्व केंद्र के साथ-साथ राज्य पर भी है। देश का योजना आयोग अब नीति आयोग, एक राष्ट्रीय योजना को तैयार करता है तो साथ ही संघ की घटक इकाइयों की सरकारें अपने-अपने प्रदेशों के लिए योजना बनाती हैं। इसके लिए देश के सभी प्रदेशों में अपने-अपने आयोजना विभाग हैं। राज्य योजना विभाग की सहायता के लिए कुछ अभिकरणों की स्थापना की गई है- (1) योजना मंडल, (2) राज्य स्तरीय समन्वय समितियां एवं (3) राज्य स्तरीय संलग्न बोर्ड।

राज्य अथवा प्रदेश के लिए वार्षिक एवं पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण के लिए राज्य का नियोजन विभाग उत्तरदायी होता है।

राज्य योजना मंडल, राज्य योजना विभाग से मिलते-जुलते कार्य करते हैं। राज्य स्तर पर योजना से संबंधित सभी कामकाज की एक प्रमुख संस्था योजना विभाग होती है। योजना विभाग का सबसे प्रमुख कार्य राज्य योजना प्रक्रिया से संबंधित होता है। योजना विभाग की सबसे अहम भूमिका अन्य विभागों के साथ तालमेल बैठाने की होती है। साथ ही मंत्रिमंडल के समक्ष राज्य योजना को प्रस्तुत करना भी इनका एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता। इसी तरह जहां तक राज्य सीमा के बाहर उनकी भूमिका का सवाल है उस विषय में योजना आयोग तथा केंद्रीय कार्य समूह के साथ भी राज्य योजना विभाग अच्छे संबंध विकसित करते हैं। इस संबंध में राज्य योजना विभाग समय-समय पर योजना आयोग के साथ विचार-विमर्श करते हैं तथा इनके साथ पंचवर्षीय योजना की तैयारी, मॉनिटरिंग तथा मूल्यांकन के कार्यों से भी जुड़े रहते हैं।

राज्य योजना मंडल और राज्य योजना विभाग दोनों की समानांतर उपस्थिति के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इन दोनों इकाईयों में से कौन सी इकाई प्राथमिक रूप से योजना के लिए उत्तरदाई है? साथ ही इन दोनों इकाइयों के मध्य कार्य का विभाजन तथा तालमेल की समस्या भी प्रमुख मानी जाती है। 1968 के प्रशासनिक सुधार आयोग ने यह पाया कि यह विभाग राज्य योजना से संबंधित अनेक प्रकार की भूमिकाओं को निभाता रहा है, चाहे योजना निर्माण की हो या उच्च प्रगति प्रतिवेदन की हो। इन सभी प्रबंध के कार्यों में 'स्टेट ब्यूरो ऑफ इकोनॉमिक्स एंड स्टैटिसटिक्स' उसकी सहायता करता है।

9.5.8.1 राज्य योजना विभाग की संरचना

राज्यों के योजना विभाग की संरचना अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग प्रकार की पायी जाती है। हर एक राज्य के सचिवालय में अन्य विभागों की भांति एक योजना विभाग भी होता है। इस योजना विभाग का अध्यक्ष सामान्यतः सचिव होता है कहीं कहीं इसे विकास आयुक्त या कोई और नाम भी दिया जाता है। प्रारंभिक काल में योजना विभाग विभिन्न राज्यों के वित्त विभागों के एक भाग के रूप में कार्य करते रहे। धीरे-धीरे इन योजना विभागों की अलग पहचान बनती चली गई और यह एक पृथक विभाग के रूप में स्थापित किए जाने लगे। विभिन्न राज्यों के योजना विभागों में सदस्यों की संख्या भी अलग-अलग पायी जाती है। योजना विभागों में योजना का कार्य भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों, राज्यों की प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों, तकनीकी विशेषज्ञ अधिकारियों तथा अन्य कर्मचारियों द्वारा संपादित किया जाता है। योजना विभाग का कार्य विभिन्न प्रभागों में विभाजित होता है तथा हर एक प्रभाग का प्रभारी एक उप सचिव स्तर का अधिकारी होता है। पर जहां तक विभागों की संख्या, निपटाए जाने वाले विषयों तथा कार्मिकों का सवाल है उनके विषय में राज्यों में भारी परिवर्तन पाया जाता है। प्राय सभी योजना विभागों में एक निर्णय इकाई भी होती है जो योजना निर्माण का कार्य करती है। इसी तरह अनेक राज्यों में विभाग में विभिन्न खंड भी पाए जाते हैं जो कृषि, योजना, वित्त, मूल्यांकन, मॉनिटरिंग मानव शक्ति आकलन तथा रोजगार की आदि से संबंधित समस्याओं को निपटाते हैं। कुछ राज्यों में तो क्षेत्रीय तथा जिला योजना से संबंधित प्रभाग भी पाए जाते हैं।

इस प्रकार राज्य योजना विभागों की संरचना को देखने के पश्चात निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि विभिन्न राज्यों में योजना विभागों में कार्य विभाजन के संदर्भ में कोई भी एकरूपता नहीं पायी जाती है।

9.5.8.2 आलोचना के बिंदु

राज्य योजना विभागों की संरचनात्मक दृष्टि के आधार पर कई प्रकार से आलोचना की जाती है-

1. ऐसा माना जाता है कि अधिकांश तौर पर सभी राज्य योजना विभागों में उच्च पदों पर स्थापित अधिकारी प्राय प्रशासनिक पृष्ठभूमि के होते हैं, जिन्हें योजना के संदर्भ में तकनीकी ज्ञान नहीं होता है जिसके कारण योजना निर्माण का कार्य बहुत प्रभावी तौर पर संपन्न नहीं हो पाता है।
2. राज्य का योजना विभाग सचिवालय का मात्र एक हिस्सा ही होता है, इसलिए यह स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता है।
3. विभाग लाख चाहे तो भी वह ऐसे स्वतंत्र एवं निष्पक्ष विशेषज्ञों को जो योजना निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अपने अनुभव और जानकारी के हिसाब से निभा सकते हैं, को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता है।
4. जहां तक योजना इकाई के कार्य की प्रकृति का सवाल है उससे एक भिन्न प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखी जाती है, क्योंकि राज्य योजना विभाग वर्षों से सचिवालय के एक अंग के रूप में ही काम करता रहा है इसलिए वह चाह कर भी सरकारी विभागों से अलग व्यवहार नहीं कर सकता या यूं कहें कि भूमिका नहीं निभा सकता है।

यही कारण है कि राज्य योजना मंडल को प्राथमिकता देने हेतु विचार पेश किए जाते रहे हैं।

इस संदर्भ में प्रशासनिक सुधार आयोग का भी यही मानना था कि राज्य योजना मंडलों की भूमिका को अधिक व्यापक बनाए जाने की आवश्यकता है। इसलिए यह तर्क दिया जाता है कि यदि कोई स्वतंत्र योजना इकाई का गठन किया जाए तो वह इन सभी कमियों से मुक्त होगा।

जबकि दूसरी तरफ अधिकांश लोग इस बात के लिए तैयार नहीं है कि, योजना निर्माण जैसे महत्वपूर्ण कार्य को किसी एक गैर सरकारी विशेषज्ञ संस्था को सौंप दिया जाए और योजना विभागों की भूमिका को घटा दिया जाए।

इस बात के समर्थन में भी अनेक तर्क दिए जाते हैं। जैसे- प्रथम, यह आशंका व्यक्त की जाती है कि अगर राज्य में किसी परियोजना के खर्चे, आकार-प्रकार तथा स्थान विशेष के निर्णय में यदि योजना मंडल प्रमुख भूमिका निभाएगा तो वह जल्दी ही राज्य मंत्रिमंडल के एक प्रतिद्वंदी के रूप में उभर कर सामने आएगा तथा दूसरे,यह भी तर्क दिया जाता है कि राज्य के स्तर पर प्रमुख कार्य योजना के कार्यान्वयन का होता है, इसलिए वहां अर्थात राज्य स्तर पर योजना बनाने के लिए किसी स्वतंत्र विशेषज्ञ इकाई को स्थापित करने की आवश्यकता ही क्या है। यह एक मानी हुई बात है कि राज्य योजना मंडल की भूमिका प्रायः मंत्रणा देने वाली यानी सलाहकार मात्र ही होती है, तथा वह मंत्रिमंडल को तर्क सम्मत निर्णय को लेने में सहायता करती है।

भारत में योजना की सबसे प्रमुख कमी यह है कि यहां पर योजना के संदर्भ में केंद्रीकरण पर ज्यादा जोर दिया जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि राज्य योजना मंडल लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के जरिए विकास पाने की दिशा में, छोटा परंतु एक महत्वपूर्ण कदम है।

सामान्य तौर पर योजना विभागों तथा राज्य योजना मंडलों के के मध्य बड़े विचित्र किस्म के संबंध पाए जाते हैं। जैसे राज्य का योजना सचिव ही राज्य योजना मंडल का पदेन सचिव भी होता है। परंतु व्यवहार में ऐसा पाया गया है कि इन दोनों में संचार अर्थात अंतःक्रिया बहुत कम मात्रा में होती है।

9.5.9 राज्य स्तर पर योजना प्रक्रिया

राज्य स्तर पर योजना के समस्त प्रक्रिया को निम्न बिंदुओं के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है-

1. प्रथम चरण सामान्य दिशा निर्देश का होता है। योजना के प्रारम्भ होने के लगभग दो वर्ष पूर्व से ही योजना आयोग विभिन्न दृष्टि से देश की अर्थव्यवस्था का अध्ययन और विश्लेषण करना प्रारम्भ कर देता है और साथ ही साथ विकास में बाधक कारणों को दूर करने के लिए भी एक विस्तृत सुझाव तैयार करता है। योजना आयोग के प्रतिवेदन पर केंद्रीय मंत्रिमंडल और राष्ट्रीय विकास परिषद विचार करती है और उसके पश्चात विकास की गति, मुख्य नीतियों, और विकास के उद्देश्यों के बारे में प्राथमिक निर्देश जारी करते हैं।
2. इस प्रक्रिया के दूसरे चरण में विभिन्न अध्ययनों और ज्ञापन के प्रारूप का निर्माण किया जाता है। योजना की दृष्टि से विभिन्न अध्ययनों के लिए कार्यकारी सलाह समूह संगठित किए जाते हैं जिनमें योजना आयोग और केंद्रीय मंत्रालय के तकनीकी सलाहकार तथा प्रशासन विशेषज्ञ शामिल होते हैं। इस प्रक्रिया में प्रत्येक दल को अर्थव्यवस्था के किसी विशेष क्षेत्र के अध्ययन का भार सौंप दिया जाता है। यह दल या तो आयोग के प्रस्तावों में पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं या अगर आवश्यकता महसूस होती है तो उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करते हैं और यह बताते हैं कि उनसे संबंधित क्षेत्र के दीर्घकालीन लक्ष्य क्या हो सकते हैं। यह योजना, लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नीतियों और कार्यक्रमों का एक विवरण भी तैयार करते हैं। केंद्र के समान राज्यों में भी कार्यकारी दल नियुक्त होते हैं। एक समन्वित योजना के निर्माण के लिए मंत्रालयों, राज्य सरकारें, अनुसंधान संगठनों एवं औद्योगिक उपकरणों द्वारा विभिन्न अध्ययन किए जाते हैं और केंद्रीय कार्यकारी दलों से इन सब की सूचना का लाभ उठाने की आशा की जाती है। आयुक्त उच्च विशेषज्ञों और कार्यकर्ताओं का पैनल नियुक्त करता है जो योजना के निर्माण में नीति और प्रणाली संबंधी अपनी सलाह देते हैं। इसके पश्चात योजना आयोग योजना संबंधी "ज्ञापन का प्रारूप" तैयार करता है जिसमें योजना के आकार में, अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की तुलना में योजना के प्रयत्नों में, कम पड़ने वाले संभावित क्षेत्रों आदि को प्रस्तुत किया जाता है। ज्ञापन का प्रारूप केंद्रीय मंत्रिमंडल के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और बाद में राष्ट्रीय विकास परिषद के समक्ष विचार करने के हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

3. योजना के निर्माण के तीसरे चरण में रूपरेखा के प्रारूप के निर्माण को शामिल किया जाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद के सुझावों के आधार पर योजना की रूपरेखा का प्रारूप तैयार किया जाता है। इस विस्तृत दस्तावेज में विभिन्न क्षेत्रों के लिए विभिन्न योजनाओं और परियोजनाओं का संपूर्ण ब्यौरा होता है तथा साथ ही साथ नीति संबंधी मुख्य, उद्देश्य और उन की प्राप्ति के तरीके आदि बताए जाते हैं। यह दस्तावेज विभिन्न मंत्रालयों और राज्य सरकारों के पास उनकी समीक्षा हेतु प्रेषित किया जाता है। केंद्रीय मंत्रिमंडल भी इस पर विचार करता है। राष्ट्रीय विकास परिषद की सहमति के बाद योजना की रूपरेखा को जनता और विभिन्न संस्थाओं, विश्वविद्यालय आदि के समक्ष भी विचार-विमर्श और आलोचना के लिए प्रकाशित किया जाता है और साथ ही साथ जनता के भी सुझाव और विचार इस पर आमंत्रित किए जाते हैं। राज्यों में जिला स्तर, राज्य स्तर पर तथा राष्ट्रीय स्तर पर संसद के दोनों सदनों द्वारा भी इस प्रारूप पर विचार किया जाता है। इस चरण में जनप्रतिनिधियों की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण होती है।
4. योजना के प्रारूप पर बहस के दौरान आयोग उस पर राज्य सरकारों से भी बातचीत करता है। तथा यह परामर्श विशेषज्ञों के बीच और राजनीतिज्ञों के बीच दोनों स्तरों पर चलता है। अंतिम निर्णय राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह के बाद ही लिए जाते हैं।
5. राज्य सरकारों, विभिन्न अध्ययन दलों और विभिन्न पैनलों, संस्थाओं आदि के विस्तृत रूप से प्राप्त सुझावों के आधार पर आयोग द्वारा योजना के संबंध में आप एक नवीन ज्ञापन तैयार किया जाता है, जिसमें योजनाओं की मुख्य विशेषताओं, नीति संबंधी निर्देशों आदि पर जोर दिया जाता है। इस ज्ञापन पर उन्हें केंद्रीय मंत्रिमंडल और राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा विचार किया जाता है।
6. केंद्रीय मंत्रिमंडल और राष्ट्रीय विकास परिषद दोनों के द्वारा लिए गए निर्णय के आधार पर योजना आयोग पंचवर्षीय योजना का एक अंतिम प्रतिवेदन तैयार करता है और यह अंतिम प्रतिवेदन बहुत ही विस्तृत होता है। इसमें योजना के सभी उद्देश्यों, नीतियों, कार्यक्रमों और परियोजना आदि का एक विस्तृत विवरण होता है। यह अंतिम प्रतिवेदन उन्हें मंत्रिमंडल और राष्ट्रीय विकास परिषद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। जिसकी सहमति के बाद इसे संसद के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है। संसद की स्वीकृति के पश्चात की पंचवर्षीय योजना को लागू किया जाता है।

योजना का अंतिम प्रारूप तैयार हो जाने के बाद उसके क्रियान्वयन का चरण उपस्थित होता है। क्रियान्वयन का पूरा उत्तरदायित्व केंद्र तथा राज्य सरकारों के प्रशासकीय विभाग के ऊपर आ जाता है। योजना का अंतिम प्रारूप तैयार हो जाने के बाद उसके क्रियान्वयन का चरण उपस्थित होता है। केंद्रीय मंत्रालय तथा राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में योजना का परिपालन करती हैं।

योजना के सफलतापूर्वक क्रियान्वयन और उससे अच्छे परिणाम प्राप्त करने में केंद्रीय और राज्य सरकारों के बीच समन्वय का होना अत्यधिक आवश्यक माना जाता है। योजना के क्रियान्वयन में उपस्थित होने वाली कुछ कठिनाइयों में प्रशासनिक कार्यकुशलता, देरी और दोषपूर्ण कार्य प्रणाली आदि माने जाते हैं। योजना आयोग, परामर्शदात्री निकाय होता था और यह निष्पादन का कार्य नहीं करता था। अब नीति आयोग केंद्र और राज्य सरकारों के लिए रणनीतिक और तकनीकी सलाह प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः अब यह सब काम नीति आयोग के द्वारा संपादित किए जाते हैं। अब योजना के लिए संघीय आयोग कार्यक्रमों के संपादन के लिए परामर्शदाता के तौर पर काम करता है और विभिन्न राज्यों का दौरा करते हैं, तथा प्रगति का अनुमान लगाते हैं और साथ ही साथ कार्यक्रमों को आगे चलाए रखने के लिए आवश्यक सिफारिशें भी करते हैं।

9.5.10 वार्षिक योजनाएं

पंचवर्षीय योजना की तुलना में वार्षिक योजना तैयार करने की प्रक्रिया अधिक सरल होती है। यह प्रक्रिया अगस्त या सितंबर में शुरू हो जाती है। केंद्रीय आयोग राज्यों के योजना विभागों को अनेक दिशा-निर्देश प्रसारित कर देता

है। इन दिशा-निर्देशों में योजनाएं प्रस्तुत करने का एक फॉर्मेट (प्रपत्र) होता है और उस के साथ-साथ उन्हें अपने पास उपलब्ध सभी संसाधनों की संभावनाएं तथा निकट भविष्य की प्राथमिकताएं भी बताने के लिए भी कहा जाता है।

इन सब दिशा-निर्देशों के बाद राज्य योजना विभाग, अपने राज्य वित्त विभाग से उपलब्ध साधनों/स्रोतों का का विवरण मांगता है, जिसके आधार पर राज्य योजना विभाग विभिन्न विकास विभागों के साथ एक अस्थाई योजनागत विवरण की रूपरेखा प्रस्तुत करता है तथा वह उन्हें "सेक्टोरल" योजनाएं बनाने का निर्देश देता है। इन "सेक्टोरल" योजनाओं को प्राप्त करने के बाद राज्य योजना विभाग के द्वारा इनका फिर से परीक्षण किया जाता है और उसके बाद विभिन्न संबद्ध विभागों से विचार-विमर्श कर राज्य योजना विभाग के द्वारा एक कामचलाऊ योजना की रूपरेखा तैयार की जाती है। इस प्रक्रिया के पूरी हो जाने के बाद राज्य मंत्रिमंडल द्वारा योजना प्रारूप पर विचार किया जाता है तथा स्वीकृत किया जाता है तथा उसी के आधार पर योजना के लिए केंद्रीय आयोग के साथ समझौते किए जाते हैं।

राज्य सरकार द्वारा प्रस्तुत योजना की रूपरेखा पर केंद्रीय कार्य समूह (जो कि विशिष्ट विषयों के लिए गठित किए जाते हैं) द्वारा विचार किया जाता है, जिसमें केंद्रीय मंत्रालयों की भी सहभागिता रहती है। जब यह विभिन्न कार्य समूह अपनी सिफारिशें पेश करते हैं तब इन्हें योजना के लिए संघीय आयोग के द्वारा संशोधित तथा संगठित करके राज्य योजना के एक प्रतिवेदन का रूप दे दिया जाता है। उसके बाद उसे अंतिम रूप देने के लिए एक बैठक आयोजित की जाती है। जिसमें योजना के लिए केंद्रीय आयोग के उपाध्यक्ष, सदस्यों तथा संबद्ध राज्य के मुख्यमंत्री हिस्सा लेते है। तत्पश्चात राज्य वित्त विभाग, राज्य योजना विभाग की सहायता से अंतिम वार्षिक योजना के आधार पर "बजट प्लान लिंक" तैयार करता है। फिर बजट को विधानसभा के विचारार्थ रखा जाता है तथा उसकी स्वीकृति मिलने के पश्चात वार्षिक योजना की कार्यात्मक प्रक्रिया नव वित्तीय वर्ष के साथ ही शुरू हो जाती है।

9.5.11 योजना का मूल्यांकन

योजना के लिए संघीय आयोग का एक कार्य यह भी होता है कि, वह योजना के प्रत्येक चरण की प्रगति का समय समय पर न केवल मूल्यांकन करें बल्कि उन नीतियों तथा उपायों के समायोजन के लिए सिफारिशें भी करें जो मूल्यांकन की दृष्टि से आवश्यक होती हैं। योजना के लिए संघीय आयोग द्वारा योजना का यह मूल्यांकन प्रमुख रूप से विशिष्ट रूप से चुनी गई परियोजनाओं के मासिक प्रतिवेदनों, योजना के कार्य संचालन के विषय में त्रैमासिक समीक्षाओ, केंद्रीय मंत्रालयों तथा राज्य सरकारों से प्राप्त वार्षिक प्रगति प्रतिवेदनों, विभिन्न परामर्शदाताओं द्वारा अपने अधीन आने वाले राज्य का दौरा कर विभिन्न महत्वपूर्ण विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के अध्ययन के निष्कर्ष और योजना की परियोजनाओं के लिए बनी समिति के द्वारा किया जाता है। इन सबके अलावा एक कार्यक्रम मूल्यांकन समिति भी होती है जो योजना के मूल्यांकन का कार्य करती है।

परामर्शदाताओं का यह काम होता है कि वह नियोजन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित प्रगति से संघीय आयोग को सूचित रखते हैं तथा साथ ही साथ यह केंद्रीय मंत्रालय और राज्य सरकारों को विभिन्न परियोजनाओं के परिपालन संबंधी विषयों में सहायता भी प्रदान करते हैं। मुख्य तौर पर यह परामर्शदाता केंद्रीय स्तर के योजना आयोग तथा राज्य योजना आयोग के मध्य समन्वय बनाए रखते हैं। यह परामर्शदाता योजना की अनुपालना के संबंध में विभिन्न विकास विभागों तथा राज्य के नियोजन और वित्त विभागों के साथ भी चर्चा करते हैं तथा विभिन्न खंडों तथा परियोजनाओं में योजनाओं की प्रगति की समीक्षा भी करते हैं। परामर्शदाता द्वारा कभी-कभी विशेष समस्याओं का परीक्षण करने और भारत सरकार को सिफारिशें भेजने के लिए विभिन्न मंत्रालयों के विशेषज्ञ समूह का नेतृत्व भी किया जाता है। इसके अलावा यह नियोजन की नीतियों के अनुसार परियोजनाओं पर

अनुमानित खर्च की जांच करते हैं और साथ ही साथ विभिन्न परियोजनाओं पर हुए कुल व्यय का अनुमान भी लगाते हैं तथा विकास के विभिन्न क्षेत्रों में नियोजन तथा परियोजनाओं के क्रियान्वयन में सुधार लाने के लिए राज्य सरकारों को भी परामर्श देते रहते हैं।

9.5.12 योजना के संबंध में केंद्र और राज्यों के बीच संबंध

वार्षिक तथा पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण में केंद्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें मिलकर काम करती हैं। परंतु इस स्तर पर राज्य सरकारों को बहुत सारी शिकायतें रहती हैं। राज्य सरकार की सबसे प्रमुख शिकायत यह होती है कि उन्हें अपनी योजना के निर्माण के लिए पूरी स्वायत्तता प्राप्त नहीं होती है। इस पूरी प्रक्रिया में योजना के लिए केंद्रीय आयोग का पूरा हस्तक्षेप बना रहता है। इस प्रकार के हस्तक्षेप और विवादों के संदर्भ में सरकारिया आयोग ने भी अपने प्रतिवेदन में कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला।

पहला मुद्दा राज्य योजनाओं तथा योजनाओं के बारे में योजना आयोग द्वारा की गई जांच-पड़ताल की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ बताया। आयोग का ऐसा मानना था कि केंद्र और राज्यों के बीच इस तरह के विवाद का पहला विवादित क्षेत्र राज्य योजना तथा योजनाओं के बारे में केंद्रीय आयोग द्वारा की गई जांच पड़ताल की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ होता है। योजना के लिए केंद्रीय आयोग राज्य योजना के संदर्भ में सभी पक्षों की बहुत सूक्ष्म पड़ताल करता है। अतःसरकारिया आयोग ने सिफारिश करते हुए कहा कि, योजना के लिए संघीय आयोग को राज्य योजना की "सेक्टोरल" स्कीम की गहराई से जांच पड़ताल नहीं करनी चाहिए बल्कि उसकी बजाय उसे बड़ी-बड़ी तथा ज्यादा खर्चे वाली योजनाओं पर अपनी दृष्टि केंद्रित करनी चाहिए।

विवाद का दूसरा मुद्दा, वित्तीय साधनों/स्रोतों का रहा है यानी जिस तंत्र से केंद्रीय सहायता दी जाती है। केंद्रीय सहायता को लेकर राज्यों की मुख्य शिकायत यह है कि-

1. केंद्र द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता अधिकांश तौर पर सहायता कार्यों के वितरण के रूप में होती है ना कि अनुदान के रूप में,
2. केंद्रीय सहायता में विवेकाधिकार का ज्यादा प्रयोग किया जाता है,
3. राज्यों की यह भी मान्यता है कि पिछड़े हुए राज्यों को विकास की यात्रा में शामिल करने हेतु उन्हें अधिक वित्तीय सहायता प्रदान किए जाने की आवश्यकता है। अतः सरकार को इन राज्यों को वित्तीय सहायता देने का अपना सूत्र बदलना होगा। इसके अलावा राज्यों को केंद्रीय योजना सहायता की मात्रा भी बहुत कम दिखाई देती है।
4. योजना के लिए केंद्रीय आयोग द्वारा वित्तीय सहायता वितरण की प्रणाली भी प्रश्नों के घेरे में रही है।

इसी के साथ राज्य सरकारों को यह शिकायत भी रही है कि यह समस्त योजनाएं बिना राज्य सरकार की सलाह लिए ही लागू कर दी जाती हैं। यहां तक की संबंधित केंद्रीय मंत्रालयों द्वारा भी इनकी कोई जांच पड़ताल नहीं की जाती है जो कि अत्यधिक आवश्यक है। अतः अनेकों बार यह योजनाएं असफल हो जाती हैं। इसके अलावा यह भी माना जाता है की यह योजनाएं राज्य सरकारों के बजट पर भी विपरीत प्रभाव डालती हैं, क्योंकि राज्य सरकारों को इन योजनाओं पर अपने सीमित संसाधनों में से ना चाहते हुए भी अपने हिस्से का धन देना पड़ता है। इन्हीं सब बातों के कारण 1967 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने तो यह सुझाव भी दिया था कि ऐसी केंद्रीय योजनाओं की एक सीमा रेखा खींच दी जानी चाहिए ताकि अनावश्यक रूप से राज्य सरकारों पर किसी भी तरह का भार ना पड़े। बाद में आगे चलकर इस विषय में राममूर्ति की अध्यक्षता में योजना आयोग द्वारा एक समिति का भी गठन किया गया जिसमें इस प्रकार की योजनाएं प्रसारित करने के कुछ आधार भी निर्धारित किए थे। आगे चलकर इस विषय में न्यायमूर्ति रणजीत सिंह सरकारिया ने भी राममूर्ति समिति की सिफारिशों के प्रति अपनी सहमति दर्शायी और उन्होंने भी इसी बात पर बल दिया कि केंद्रीय योजनाओं को सीमित किया जाना चाहिए।

9.6 निष्कर्ष

राज्यों को आर्थिक विकास में एक अहम भूमिका निभाने की आवश्यकता है। आज के इस तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी के युग में राज्य योजना विभागों को भी अपने स्तर पर तकनीकी योग्यता तथा यांत्रिकी को भी विकसित करना होगा। राज्य योजना मंडलों को अभी तक तो उचित सम्मान प्राप्त हुआ है और ना ही योजना प्रक्रिया में उनकी भूमिका निर्णायक रही है। यह राज्य योजना तंत्र प्रभावी रूप से काम नहीं कर पाए हैं। योजना के क्षेत्र में इन को व्यापक स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए। केंद्रीय संस्था को भी अपने वित्तीय साधनों को राज्य को हस्तांतरित किया जाना चाहिए। साथ ही राज्यों को भी अपने साधन जुटाने के लिए गंभीरता से सोचना पड़ेगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में योजना आयोग की स्थापना कब की गई थी?
2. भारत में बहु स्तरीय नियोजन की प्रक्रिया सही अर्थों में कब प्रारंभ हुई?
3. सामान्य परिस्थितियों में राज्य योजना मंडल का अध्यक्ष कौन होता है?
4. राज्य योजना विभाग की सहायता के लिए स्थापित किए गए किन्ही दो अभिकरण ओं के नाम बताइए।
5. राज्य स्तर पर योजना से संबंधित सभी कामकाज की प्रमुख संस्था कौन सी होती है?

9.7 सारांश

राज्य स्तर पर योजना से संबंधित दो तरह की संस्थाएं राज्य योजना मंडल एवं राज्य योजना विभाग पाई जाती हैं। केंद्र में योजना के लिए योजना आयोग के स्थान पर अब एक नई संस्था नीति आयोग का निर्माण किया गया है। राज्य स्तर पर योजना से संबंधित संरचनाओं में अभी कोई विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया है। इस इकाई में किए गए पूरे अध्ययन के बाद यदि राज्य स्तर पर नियोजन से संबंधित तंत्र के बारे में संक्षिप्त में कहना चाहे तो, यही कहा जा सकता है कि, राज्य योजना विभागों का गठन बिना किसी सोची समझी रूपरेखा के अनुसार किया गया है। इन राज्य योजना विभागों को यद्यपि कुछ राज्यों में स्वतंत्र रूप से संगठित किया गया है पर व्यवहार में उनका संचालन कनिष्ठ या निम्न अधिकारियों द्वारा किया जाता है। साथ ही इस योजना विभाग के अधिकारियों की विशिष्ट भर्ती तथा प्रशिक्षण की ओर भी कम से कम ध्यान दिया गया है। यही कारण है कि, राज्य का योजना विभाग राज्यों के सचिवालय के अन्य विभागों से भिन्न प्रकृति का नहीं होता है।

9.8 शब्दावली

बहुस्तरीय नियोजन- बहुस्तरीय नियोजन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें लोगों की आवश्यकता, जनसंख्या की स्थिति एवं जनांकिकी संरचना, क्षेत्रीय भौगोलिक-भौतिक दशायें एवं संसाधनों की उपलब्धता जैसे विविध आधार पर विकास की योजनाओं को विभिन्न स्तरों पर पदानुक्रमिक रूप से क्रियान्वित किया जाता है।

पदानुक्रमिक- पदों का अनुक्रम।

उपागम पत्र- आलेख, जिसमें भावी पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्यों की मोटे तौर पर रूपरेखा होती है।

केंद्र द्वारा आयोजित योजनाएं- ऐसी योजनाएं जिनका योजन केंद्रीय मंत्रालय करते हैं।

प्रारूप योजना- ऐसा प्रारूप जिसका निर्माण राज्य योजना इकाइयां अथवा योजना आयोग द्वारा किया जाता है।

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.15 मार्च,1950, **2.** पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्राप्त होने के पश्चात, **3.** मुख्यमंत्री, **4.** योजना मंडल और राज्य स्तरीय समन्वय समितियां, **5.** राज्य योजना विभाग

9.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. कटारिया, सुरेंद्र 2008, कार्मिक प्रशासन; आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स: जयपुर।
2. शर्मा, अनिल कुमार, 2006, लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार; ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. अवस्थी एवं अवस्थी, 2014. भारत में लोक प्रशासन; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
4. अवस्थी एवं अवस्थी, 2016, भारतीय प्रशासन; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
5. माहेश्वरी श्रीराम, 2010, भारतीय प्रशासन; ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद।

9.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. खंडेलवाल, आर. एम.1985, स्टेट लेवल प्लान एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया; आर. बी. एस. ए., पब्लिशर्स: जयपुर।
2. अवस्थी एवं अवस्थी, 2016, भारतीय प्रशासन; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. माहेश्वरी श्रीराम, 2010, भारतीय प्रशासन; ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद

9.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. राज्य योजना मंडलों के उद्-भव एवं विकास पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
2. राज्य स्तरीय योजना तंत्र की विवेचना कीजिए।
3. योजना आयोग की समाप्ति के कारणों की समीक्षा कीजिए।
4. भारत में नियोजन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा कीजिए।

इकाई- 10 जिला नियोजन

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 विकेंद्रीकृत नियोजन का अर्थ
10.2.1 विकेंद्रीकृत नियोजन की अवधारणा
10.3 भारत में जिला नियोजन का संक्षिप्त इतिहास
10.3.1 जिला स्तरीय नियोजन के लिए योजना आयोग का सुझाव, 1982
10.3.2 जिला नियोजन पर डॉ. सी. एच. हनुमंतराव समिति
10.3.3 जी.वी.के. राव समिति
10.3.4 जिलाधीश कार्यशाला, दिसंबर 1987- जून 1988
10.3.5 सरकारिया आयोग, 1988
10.3.6 64वां एवं 65वां संविधान संशोधन विधेयक, 1989
10.3.7 73वां एवं 74वां संविधान संशोधन अधिनियम
10.3.8 73वें संविधान संशोधन द्वारा नियोजन प्रक्रिया में बदलाव
10.3.9 नियोजन की वर्तमान व्यवस्था
10.4 जिला नियोजन का औचित्य
10.5 जिला नियोजन की विशेषताएं
10.6 जिला योजना समिति
10.6.1 जिला योजना समिति का उद्देश्य
10.6.2 जिला नियोजन समिति की संरचना
10.6.3 जिला योजना समिति का अध्यक्ष
10.6.4 जिला योजना समिति के कार्य
10.6.5 समिति की बैठक
10.6.6 समिति के स्थाई सदस्य
10.6.7 समिति के सदस्यों का निर्वाचन
10.7 जिला नियोजन की प्रक्रिया
10.8 विकेंद्रीकृत नियोजन की समस्याएं
10.9 निष्कर्ष
10.10 सारांश
10.11 शब्दावली
10.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
10.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.15 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

जैसा कि आपने पिछले अध्याय में पढ़ा कि भारत एक विशाल लोकतांत्रिक देश है, जहां बड़ी मात्रा में क्षेत्रीय असमानताएं विद्यमान है। ऐसी स्थिति में यदि केवल एकमात्र केंद्रीय नियोजन अभिकरण द्वारा यदि योजनाओं का निर्माण किया जाएगा तो वह देश के लिए अधिक लाभप्रद साबित नहीं हो पाएगा। यही कारण है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही देश में नियोजन प्रक्रिया के प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में अनेक प्रयास किए गए और नियोजन की व्यवस्था को भी विकेंद्रीकृत तौर पर अपनाते हुए बहुस्तरीय नियोजन प्रणाली को उपयुक्त माना गया है। अर्थात योजना निर्धारण एवं क्रियान्वयन हेतु केवल मात्र एक केंद्रीय नियोजन अभिकरण को ही ना अपना कर, ना केवल राज्य स्तर पर बल्कि उससे आगे के स्तरों पर भी नियोजन संबंधी तंत्र की व्यवस्था की गई है। ऐसा करने से नियोजन एवं विकेंद्रीकृत नियोजन दोनों के लाभ प्राप्त हो सकते है। नियोजन की इस प्रक्रिया के लिए यह भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि, विभिन्न स्तरों तक परियोजना संबंधी जानकारी स्पष्ट तथा उचित प्रकार से दी जाए तथा उनके बीच संपर्क सूत्र भी स्थापित किए जाएं।

देश के आर्थिक विकास में अपनायी गयी आर्थिक नियोजन प्रक्रिया के तहत विभिन्न नियोजन एवं कार्यक्रमों का लाभ देश के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचे इस हेतु जिला नियोजन व्यवस्था को अपनाया गया है। जिला स्तरीय नियोजन के अंतर्गत एक जिले को नियोजन की एक इकाई माना जाता है जिले को भी आगे विभिन्न खंडों में विभक्त किया जाता है और खंडों को ग्राम में और इन सभी स्तरों को भी नियोजन की इकाई के रूप में माना जाता है।

इस इकाई में हम जिला स्तर पर नियोजन तंत्र का विस्तृत अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विकेंद्रीकृत नियोजन के अर्थ एवं अवधारणा को समझ पाएंगे।
- भारत में ज़िला नियोजन का संक्षिप्त इतिहास समझ पाएंगे।
- जिला नियोजन का औचित्य एवं विशेषताएं जान पाएंगे।
- जिला योजना समिति उद्देश्य, संरचना, अध्यक्ष, कार्य, बैठक, सदस्य, निर्वाचन आदि को समझ पाएंगे।
- जिला नियोजन की प्रक्रिया को जान पाएंगे ।
- विकेंद्रीकृत नियोजन की समस्याएं जान पाएंगे।

10.2 विकेंद्रीकृत नियोजन का अर्थ

विकेंद्रीकृत नियोजन एक ऐसी प्रणाली है, जिसके द्वारा नियोजन प्रक्रिया में लोगों को शामिल करके उनकी भागीदारी ली जाती है, इस प्रक्रिया को विकेंद्रीकृत नियोजन कहते हैं। सीधी एवं सरल भाषा में इसका अर्थ होता है- लोगों के द्वारा अपने विकास के लिए बनाई गई योजना। सामान्य रूप से यही पाया जाता है कि, योजनाओं को बनाने का अधिकार कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथ में ही होता है। यह लोग कुछ विषयों के विशेषज्ञ तो होते हैं, किंतु इन्हें जमीनी अनुभवों और व्यापक दृष्टिकोण का अभाव होता है। इसी कारण इन लोगों के द्वारा बनाई गई योजनाओं को भारत जैसे विशाल देश में एक समान लागू नहीं किया जा सकता है। यही कारण रहा है कि विगत वर्षों में बनाई गई बहुत सी योजनाओं का वह परिणाम हासिल नहीं किया जा सका जैसा योजना बनाने वालों ने सोचा था अतः विकेंद्रीकृत नियोजन की सोच यह कहती है कि, योजना को बनाने के अधिकार को कुछ मुट्ठी भर

लोगों, केंद्रीय संस्थाओं और नौकरशाही के हाथ में ना रखा जाए बल्कि इसे आम लोगों, प्रतिनिधियों और संस्थाओं के सुपुर्द किया जाए, जिन के हित के लिए ये योजनाएं बनाई जाती हैं।

10.2.1 विकेंद्रीकृत नियोजन की अवधारणा

भारत एक विशाल देश है जिसमें अनेक प्रकार की क्षेत्रीय असमानताएं विद्यमान है। स्वतंत्रता के उपरांत भारत में नियोजन प्रक्रिया में भी लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को बल दिया गया अर्थात योजना निर्माण एवं क्रियान्वयन के विभिन्न चरणों में जनता की भागीदारी और संबद्धता को महत्वपूर्ण माना गया। लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया में राजनीतिक, प्रशासनिक एवं वित्तीय शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की अवधारणा भी अंतर्निहित है।

लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की इस व्यवस्था के अंतर्गत पंचायती राज संस्थाओं के त्रि-स्तरीय ढांचे को अपनाते हुए क्रमशः ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, खंड स्तर पर पंचायत समिति एवं जिला स्तर पर जिला परिषद का गठन किया गया है।

इस प्रकार पंचायती राज व नियोजन का उद्देश्य प्रारंभ से लेकर आज तक प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर जनता को सक्रिय रूप से भागीदार बनाना है।

लोकतांत्रिक नियोजन विकेंद्रीकृत नियोजन का एक प्रमुख रूप माना जाता है। इस प्रकार के नियोजन में योजनाओं को बनाने तथा उनका क्रियान्वयन करने में जनता की संपूर्ण भागीदारी रहती है। पंचायत राज प्रणाली में हम लोकतांत्रिक नियोजन का स्वरूप देख सकते हैं। भारत में योजनाओं की नीति, लक्ष्यों का निर्धारण योजना आयोग के द्वारा बड़े लंबे समय से किया जाता रहा है अब इस कार्य के लिए एक नए आयोग यानी की नीति आयोग का निर्माण कर दिया गया है जो कि बिल्कुल उसी प्रकार से काम करेगा जैसे योजना आयोग के द्वारा किया जाता था। योजना आयोग क्षेत्र विशेष की समस्याओं पर भी अपनी सलाह निरंतर देता रहा है। ऐसी स्थिति में राजनीति का रूप तो लोकतांत्रिक हो गया है, परंतु स्वरूप लोकतांत्रिक नहीं रहा है। इसी कारण भारत में सरकार और जनता के बीच विश्वास दिन प्रतिदिन कम होकर दोनों के मध्य अविश्वास की खाई बढ़ती जा रही है। वास्तविक तौर पर तो किसी भी आयोजन की सफलता इस बात पर अधिक निर्भर करती है कि आज जनता की भागीदारी उसमें किस सीमा तक विद्यमान है।

नियोजन की सफलता के लिए जिला स्तरीय नियोजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। देश के प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक नियोजन एवं कार्यक्रमों का लाभ उचित रूप से मिल सके और उनकी भागीदारिता उनके लिए बनायी जाने वाली योजनाओं में बनी रहे इस हेतु जिला नियोजन व्यवस्था को अपनाया गया है। इस जिला नियोजन व्यवस्था के अंतर्गत एक जिले को नियोजन की एक इकाई माना जाता है। जिला नियोजन के अंतर्गत जिले में चलाए जा रहे विकास कार्यक्रमों की योजना बनाई जाती है। सामान्यतया कृषि, लघु सिंचाई, भूमि सुधार, डेयरी विकास, पशुपालन, ग्रामीण जलापूर्ति, बांध निर्माण कार्य, उद्योग आदि के बारे में जिला स्तरीय नियोजन के अंतर्गत कार्यक्रम तैयार किए जाते हैं।

10.3 भारत में जिला नियोजन का संक्षिप्त इतिहास

जिले के संतुलित एवं आर्थिक विकास के लिए विकेंद्रीकृत नियोजन के रूप में जिला योजना की संकल्पना कोई नई बात नहीं है। नियोजित विकास के आरंभ से ही जिला योजना के महत्व को स्वीकार किया जाता रहा। इस की संकल्पना एवं कार्यान्वयन में व्यापक अंतर एवं विभिन्न राज्यों में प्रशासन के अलग-अलग विकेंद्रीकरण के स्तर होने के कारण इसे सुव्यवस्थित ढंग से नहीं चलाया जा सका।

योजना प्रक्रिया को राज्य और जिला स्तरों पर भी लागू किया जाने का सुझाव आने के बाद भारत में विकेंद्रीकृत नियोजन का उल्लेख सबसे पहली बार पहली पंचवर्षीय योजना(1951-1956) में तब किया गया था, जब यह

सुझाया गया था कि, योजना प्रक्रिया को राज्य और जिला स्तरों पर भी लागू किया जाएगा। वर्ष 1954 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम को प्रारंभ किया गया तो कुछ वर्षों बाद ही राज्यों को जिला एवं ग्राम स्तरीय योजना निर्माण के आदेश दे दिए गए थे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के मूल्यांकन में यह भय प्रकट किया गया कि लोग विकास कार्यों को 'शासन का दायित्व मानते हैं' और स्वयं मूक दर्शक की तरह तमाशा देखने वाले बने रहते हैं। इसके बाद, 1957 में बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों के साथ ही भारत में विकेंद्रीकृत नियोजन की स्थिति थोड़ी सी और स्पष्ट परिलक्षित होने लगी थी। इस समिति ने अपने सुझावों में यह निर्देश दिया था कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अंतर्गत स्थानीय योजनाएं बनाने में जनप्रतिनिधियों की मुख्य भूमिका एवं उत्तरदायित्व हैं। इसी समय जिला एवं विकास खंड बजट की अवधारणा भी विकसित की गई।

बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों के करीब करीब एक दशक बाद,पहले प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी वर्ष 1967 में जिला स्तर पर, सार्थक नियोजन की प्रक्रिया पर बल दिया। प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी यह महसूस किया कि जिला आयोजन की दिशा में अब तक जितने भी प्रयास किए गए हैं वह ज्यादा प्रभावी नहीं थे। इस अप्रभावशीलता के संदर्भ में आयोग का ऐसा मानना था कि जिला नियोजन के लक्ष्य एवं संसाधनों के संबंध में स्पष्ट विचारों का अभाव होना एक कारण रहा। अर्थात जिला स्तर पर नियोजन के लिए कोई विशेषज्ञता विद्यमान नहीं थी। अतः आयोग के द्वारा यह सिफारिश की गई कि, जिला स्तर पर योजना निर्माण के लिए एक उपयुक्त नियोजन तंत्र विकसित किए जाने की आवश्यकता है।

ऐसा कहा गया कि जिला नियोजन दल के अंतर्गत एक नियोजन अधिकारी होना आवश्यक है। यह नियोजन अधिकारी प्रशासनिक या तकनीकी किसी भी क्षेत्र से लिया जा सकता है, परंतु उसमें विकास के कार्यों को समन्वित करने की योग्यता का होना आवश्यक है। आयोग के द्वारा इस पद को एक पूर्णकालिक पद बनाए जाने की सिफारिश की गई। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि कृषि, वानिकी, लघु सिंचाई आदि क्षेत्रों से संबंधित कुछ तकनीकी अधिकारी भी जिला स्तर पर होने चाहिए, जो अपने स्तर पर योजना निर्माण और उसके क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी बनाए जाएं। आयोग ने अपने सुझावों के साथ एक यह टिप्पणी भी की थी कि सामान्यतः जिला परिषद, नगरीय क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। अतः वह पूरे जिले के संतुलित नियोजन के लिए एक सर्वश्रेष्ठ अभिकरण नहीं मानी जा सकती है।

इसी संदर्भ में प्रशासनिक सुधार आयोग ने एक जिला नियोजन समिति के गठन की अनुशंसा की। इस समिति की संरचना के संदर्भ में आयोग ने कहा कि इसमें जिला परिषद, नगरीय निकाय (जिला क्षेत्र में) एवं जिले में उपलब्ध व्यवसायिक विशेषज्ञों के प्रतिनिधियों के साथ उपयुक्त जिला अधिकारियों को संबद्ध किया जाए। अपनी इस बात को और स्पष्ट करते हुए आयोग ने कहा कि, जिला परिषद के विपरीत जिला नियोजन समिति का आकार छोटा रखा जाना चाहिए जिससे उसके सदस्य प्रभावी ढंग से विकास कार्यों में भागीदारी ले सकें। साथ ही जिला नियोजन अधिकारी को इस समिति का सचिव बनाया जाना चाहिए तथा समिति की बैठक 2 माह में कम से कम एक बार अवश्य होनी चाहिए।

प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों के बाद वर्ष 1969 में जब योजना आयोग ने अपनी निर्देशिकाऐं जारी की, तो उन्होंने प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों का पूर्णतः अनुसरण किया। योजना आयोग ने अपनी निर्देशिकाओं में आयोग की सिफारिशों के अनुसार ही विकेंद्रीकृत नियोजन की आवश्यकता पर बल दिया। योजना आयोग ने इसी संदर्भ में उपलब्ध संसाधनों, वर्तमान प्रशासनिक परिस्थिति एवं प्राथमिकताओं के निश्चय के मूल्यांकन में सरकार, स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं, जागरूक किसानों और उद्यमियों की सक्रिय भागीदारी प्राप्त करने का सुझाव दिया। आयोग ने अपने सुझावों में जिला योजना में सम्मिलित किए जाने के उद्देश्य से विभिन्न विभागों के अधिकारियों को अपने संबंधित विभागों के लिए योजना निर्माण का दायित्व सौंपा। जिला नियोजन

अभिकरण का प्रमुख कार्य इन विभिन्न विभागीय योजनाओं को एक समग्र जिला योजना के रूप में निर्मित कर समन्वित रखने का था।

योजना निर्माण की इस प्रक्रिया में नियोजन अभिकरण को ना केवल विभिन्न विभागों बल्कि निम्न एवं उच्च स्तर के अभिकरणों तथा अन्य जिला स्तरीय सार्वजनिक संस्थाओं जैसे बैंक आदि का परामर्श भी लेना था। इस प्रकार योजना निर्माण की प्रक्रिया में योजना आयोग की निर्देशिका के अंतर्गत जिला नियोजन के संदर्भ में एक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया।

परंतु इन सब के बावजूद भी जिला नियोजन की दिशा में किए गए सभी प्रयास अधिकांशतः विफल ही रहे। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि अधिकतर राज्यों ने स्थानीय नियोजन की अपनी प्रक्रियाओं को वार्षिक नियोजन की प्रक्रिया के साथ नहीं जोड़ा था। साथ ही एक कमी यह भी थी कि, शहरी नियोजन प्रक्रियाओं को जिला योजना के एक भाग के रूप में भी शामिल नहीं किया गया था।

इसके बाद 1970 में भी जिला नियोजन के प्रति 1970 में अभिरुचि दिखाई पड़ी। 'इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' द्वारा बहु स्तरीय नियोजन 1973, जर्नल ऑफ लाल बहादुर शास्त्री नेशनल अकैडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन द्वारा जिला नियोजन, पर 5 विशेषांकों का प्रकाशन इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। केंद्र शासन के कार्मिक विभाग द्वारा प्रकाशित ग्रंथों में भी समग्र क्षेत्रीय विकास पर प्रशिक्षण ग्रंथ निकाला गया। 1972 में महाराष्ट्र शासन ने पंचायत स्तर पर राज्य स्तरीय नियोजन मूल्यांकन समिति प्रतिवेदन 1971 के परिपालन में अपने यहां एक जिला नियोजन बोर्ड का गठन किया गया। साथ ही1974 में महाराष्ट्र में जिला नियोजन विभाग की स्थापना भी की गई। महाराष्ट्र राज्य के इस प्रयोग से प्रेरित होकर 1970 के उत्तरार्ध में कुछ अन्य राज्यों ने भी इसका अनुसरण किया। जिला नियोजन के संदर्भ में किए गए प्रयासों को संक्षेप में निम्न प्रकार से विवेचित किया जा सकता है-

1978 में भी जिला स्तर पर नियोजन तंत्र या तो मौजूद ही नहीं था और या अत्यधिक कमजोर था। जिला नियोजन तंत्र के संबंध में इसी वर्ष दांत वाला समिति ने इस स्थिति को देखते हुए यह कहा कि राज्य में उच्च स्तर पर कार्मिक संसाधनों में सुधार के कोई प्रयास नहीं किए गए हैं और ना ही कर्मचारी वर्ग में तकनीकी विशेषज्ञता के समावेश के लिए कोई गंभीर प्रयास किए गए हैं। जिला नियोजन तंत्र से संबंधित इकाइयों में जितने भी कर्मचारी नियुक्त किए गए हैं वह केवल दैनिक सचिवालय कार्यों को ही संपादित करते है। उन्होंने पाया की, कई राज्यों में जिला नियोजन कक्ष के अंतर्गत एक जिला नियोजन अधिकारी होता है जिसकी सहायता के लिए सांख्यिकी एवं अनुसंधान सहायक तथा लिपिकीय वर्ग कार्य करता है, और यह सब जिला योजना के क्रियान्वयन की मात्र देखरेख ही करते हैं।

इसलिए 'दांत वाला समिति' ने जिला नियोजन कक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिए एक न्यूनतम कर्मचारी वर्ग की अनुशंसा की जिसमें मुख्य नियोजन अधिकारी के अतिरिक्त अन्य तकनीकी अधिकारियों की नियुक्ति करने का भी प्रस्ताव दिया। यह अधिकारी निम्न प्रकार से थे-

- अर्थशास्त्री सांख्यिकी विशेषज्ञ
- मानचित्र विशेषज्ञ/भूगोल शास्त्री
- शस्य विज्ञान
- अभियंता
- औद्योगिक अधिकारी
- ऋण नियोजन अधिकारी

समिति ने उपरोक्त स्टाफ के अतिरिक्त कार्यक्रम या क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप विशेषज्ञों को सम्मिलित किए जाने का भी सुझाव दिया और उन्होंने यह भी कहा कि मुख्य नियोजन अधिकारीकिसी भी क्षेत्र से हो सकता है परंतु यह कोई एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो विभागीय अधिकारियों से संपर्क रखते हुए नियोजन दल के कार्य में समन्वय स्थापित कर सके। जिला स्तर पर नियोजन के इस संपूर्ण कार्य में जिलाधीश मुख्य सहयोगकर्ता होगा एवं नियोजन अधिकारी का स्तर जिलाधीश के बाद दूसरे स्थान पर होगा।

इसी काल में अशोक मेहता समिति, 1978 ने भी में सिफारिश की थी कि, जिले को विकेंद्रीकरण की धुरी माना जाए तथा जिला परिषद को समस्त विकास कार्यों का केंद्र बिंदु बनाया जाए। समिति ने कहा कि, जिला परिषद ही जिले के आर्थिक नियोजन व समस्त कार्यों में सामंजस्य स्थापित करेगी तथा नीचे के स्तर का मार्गदर्शन भी करेगी। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि, जिला परिषद के बाद मंडल पंचायत को विकास कार्यक्रमों का आधारभूत संगठन बनाया जाए।

10.3.1 जिला स्तरीय नियोजन के लिए योजना आयोग का सुझाव, 1982

कार्य दल (दांत वाला समिति) की सिफारिशों का अनुसरण करते हुए सक्षम जिला नियोजन तंत्र स्थापित किए गए। जून, 1982 में योजना आयोग ने सभी राज्यों को सुझाव दिया था कि वे विकेंद्रीकृत जिला स्तरीय नियोजन के ढांचे के चार महत्वपूर्ण पहलुओं पर कदम उठाएं, जो कुछ इस प्रकार से हैं-

1. प्रभावकारी कार्यात्मक विकेंद्रीकरण- इस संदर्भ में राज्य सरकारों को जिला स्तर पर क्रियान्वित किए जाने वाले कार्यों के संबंध में योजना बनाने हेतु आवश्यक कदम उठाने होंगे। इससे बहु स्तरीय नियोजन संरचना में जिला नियोजन की भूमिका को परिभाषित करने में सहायता मिलेगी।
2. प्रभाव कारी वित्तीय विकेंद्रीकरण- प्रभावकारी वित्तीय विकेंद्रीकरण जिला नियोजन को जिला विकास के लिए मिलने वाली निधियों या राशियोंकी जानकारी हेतु आवश्यक बनाया जाए।
3. जिला स्तर पर उपयुक्त योजना तंत्र की स्थापना- इसमें राज्यों के द्वारा जिला परिषद एवं जिला स्तर पर नियोजन मशीनरी को मजबूत बनाना, नियोजन मंडल का गठन करना शामिल बताया गया।
4. उपयुक्त बजटीकरण और पुनरविनियोजन- जिला नियोजन की प्रक्रिया को गति देने के लिए योजना आयोग ने एक मार्गदर्शी भूमिका अदा करने का प्रस्ताव रखा। इसके आधार पर सातवीं योजना की अवधि में देश के लगभग
5. 100 जिलों को जिला नियोजन के लिए वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए चुना गया था। जिला नियोजन में प्रशिक्षण पर भी जोर दिया गया था।

10.3.2 जिला नियोजन पर डॉ. सी. एच. हनुमंतराव समिति

जिला नियोजन की अवधारणा को वास्तविकता में परिवर्तित करने के उद्देश्य से 1982 में योजना आयोग के तत्कालीन सदस्य डॉ. सी. एच. हनुमंतराव की अध्यक्षता में एक कार्य समूह का गठन किया गया। इस कार्य दल की नियुक्ति का प्रमुख उद्देश्यजिला नियोजन के क्षेत्र, विषय वस्तु एवं प्रक्रिया को परिभाषित करने का था। साथ ही खंड स्तर से राज्य स्तर तक नियोजन की कड़ी को जोड़ना भी इस समिति की स्थापना का एक उद्देश्य था। कार्य दल ने यह पाया कि अधिकांश राज्यों में किसी ना किसी रूप में जिला नियोजन निकाय मौजूद थे। यद्यपि उन्हें विभिन्न नामों जैसे- जिला नियोजन मंडल/ समिति, परिषद एवं जिला विकास मंडल आदि के नाम से जाना जाता था। उस समय कुछ राज्यों(महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश एवं बिहार) में इस निकाय का अध्यक्ष एक राज्य मंत्री था। दो अन्य राज्यों में गैर-सरकारी अध्यक्ष थे तथा सिक्किम में संस्था का अध्यक्ष एक विधानसभा सदस्य था। किंतु अधिकांश राज्यों में जिलाधीश/उपायुक्त ही अध्यक्ष होते थे। कार्य दल ने यह भी पाया कि राज्य में जिला

नियोजन इकाइयों में शुद्ध रूप से 2 से 6 के बीच ही तकनीकी अधिकारी थे तथा उनका अलग-अलग क्षेत्रों से संबंधित होना भी आवश्यक नहीं था। सामान्यतः वे दूसरे विभागों से प्रतिनियुक्ति पर कार्यरत थे तथा उनमें कोई विशिष्ट नियोजन योग्यताएं भी नहीं थी। 1984 में इस समिति ने अपनी सिफारिश के साथ जिला नियोजन पर विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किए जो इस प्रकार हैं-

1. समिति का यह सुझाव था कि,स्थानीय स्तर पर शक्तियों और वित्तीय संसाधनों का विकेंद्रीकरण करके जिला स्तर पर एक प्रभावी एवं स्थाई योजना तंत्र स्थापित किया जाना चाहिए, जिसमें लगभग 50 सदस्य हो।
2. जिला परिषद, पंचायत समितियां, नगर निगम या नगर पालिका, जिले के विधायकों, सांसद, श्रमिकों, उद्योगपतियों तथा बैंकों के प्रतिनिधियों को भी इस निकाय में सम्मिलित करने की अनुशंसा की गई।
3. यह भी सुझाव दिया गया कि, इस विशालकाय जिला आयोजन निकाय की एक छोटी कार्यकारी या क्रियान्वयन समिति भी बने जिसका अध्यक्ष जिला कलेक्टर हो, मुख्य आयोजना अधिकारी सदस्य सचिव हो एवं विकास कार्यो से जुड़े विभागों के अधिकारी इसके सदस्य मनोनीत हो।
4. जिला आयोजन निकाय की तकनीकी सहायता हेतु एक पृथक जिला आयोजना प्रकोष्ठ की स्थापना का सुझाव भी दिया गया।

बहुत से राज्यों में, कुछ सीमा तक, राव समिति के प्रतिवेदन के आधार पर जिला स्तरीय नियोजन प्रारंभ करने के उद्देश्य से जिला सेक्टर को धन देने का प्रयास किया गया। परंतु, इस प्रकार का जिला नियोजन केवल कुछ राज्यों में ही अंशतः सफल हुआ। फल स्वरुप जिला नियोजन पर जोर दिया जाने लगा।

10.3.3 जी.वी.के. राव समिति

1985 में जिला पंचायत द्वारा सभी विकास कार्य कार्यक्रमों के प्रबंध तथा ग्रामीण विकास हेतु प्रशासनिक प्रबंध के लिए जी. वी. के. राव समिति का गठन हुआ तथा समिति ने नियोजन से संबंधित निम्न सुझाव दिए-

1. समिति द्वारा सुझाया गया कि,जिला तथा इससे भी निम्न स्तर की पंचायती राज की संस्थाओं को ग्रामीण विकास के लिए योजना बनाने, उन्हें लागू करने तथा उनका मूल्यांकन करने के लिए अधिक से अधिक शक्तियां प्रदान की जानी चाहिए।
2. जिला स्तर की सभी विकासशील योजनाओं को लागू करने के लिए एक जिला विकास आयुक्त की नियुक्ति भी की जानी चाहिए।

10.3.4 जिलाधीश कार्यशाला, दिसंबर 1987- जून 1988

दिसंबर 1987 और जून 1988 के बीच पंचायती राज एवं जिला नियोजन पर आयोजित पांच अखिल भारतीय जिलाधीश कार्यशालाओ तथा जिलाधीशो के सुगठित समूह द्वारा 1988 में प्रस्तुत प्रतिवेदन प्रस्तुत किए गए। इन प्रतिवेदनों में दो वैकल्पिक प्रतिमान समनयिकृत एवं अंतरिम प्रस्तुत किए गए। बहुत से राज्यों ने 'अंतरिम प्रतिमान' का समर्थन किया। इस अंतरिम प्रतिमान में जिला परिषद से पृथक जिला नियोजन इकाई की सिफारिश की गई।

10.3.5 सरकारिया आयोग, 1988

वर्ष1988 में ही केंद्र राज्यों के संबंधों पर सरकारिया आयोग गठित किया गया। सरकारिया आयोग ने भी जी. वी. के. राव समिति की तरह जिला स्तर पर नियोजन एवं प्रशासन को सशक्त बनाने के सुझाव दिए, पर स्थानीय निकाय कमजोर होने के कारण सभी प्रयास असफल रहे।

10.3.6 64वाँ एवं 65वाँ संविधान संशोधन विधेयक, 1989

स्थानीय निकायों को सुदृढ़ बनाने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गांधी ने जुलाई, 1989 में लोकसभा में दो 64वाँ संविधान संशोधन बिल तथा 65वाँ संविधान संशोधन बिल पेश किए। 64वें संविधान संशोधन का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र में तथा 65वें संशोधन का उद्देश्य नगरीय क्षेत्र में स्थानीय शासन को अधिक प्रभावशाली एवं कुशल बनाना था। लोक सभा द्वारा इन बिलों को पारित किया गया परंतु राज्यसभा में कांग्रेस दल को बहुमत प्राप्त ना होने के कारण राज्यसभा ने इन्हें पारित नहीं किया तथा अक्टूबर 1989 में इसे अस्वीकार कर दिया गया। यद्यपि यह बिल राजनीतिक परिस्थितियों के कारण पारित नहीं किए जा सके, परंतु स्थानीय शासन के विकास में इनका विशेष महत्व है।

10.3.7 73वाँ एवं 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम

आठवीं योजना प्रारूप में विकेंद्रीकरण एवं योजना प्रक्रिया में लोगों की सहभागिता पर जोर दिया गया। जिला, मध्यवर्ती और ग्राम सर पर पंचायतों की स्थापना के लिए संविधान में 73वाँ और 74वाँ संशोधन किया गया और पंचायती राज संस्थाओं व नगरीय निकायों को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इस संशोधन के माध्यम से जिला नियोजन समिति की स्थापना का उपबंध किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक राज्य में जिला स्तर पर एक जिला योजना समिति का गठन किया जाएगा जो जिले में पंचायतों और नगर पालिकाओं द्वारा बनाई गई योजनाओं को समेकित करेगी और पूरे जिले के लिए एक विकास योजना तैयार करेंगी। केंद्रीय दृष्टिकोण के स्थान पर जिला नियोजन की परिकल्पना करते हुए इन संशोधनों ने संविधान के भाग 9 और 9ए के पूर्ण कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी पूरी तरह से केंद्र सरकार को सौंपी है।

इस व्यवस्था की कार्य रूप में परिणित करने के लिए समय-समय पर विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा पंचायत अधिनियम बनाए गए एवं अपने-अपने राज्यों में पंचायत व्यवस्था को अपना लिया गया है।

10.3.8 73वें संविधान संशोधन द्वारा नियोजन प्रक्रिया में बदलाव

73वें संविधान संशोधन द्वारा स्थानीय स्तर पर नई पंचायती राज व्यवस्था कायम हुई, जो स्थानीय स्वशासन को मजबूत करने में अहम भूमिका निभा रहा है। इस संशोधन के द्वारा विकास कार्यक्रम बनाने की पुरानी रीति को बदलने के प्रयास किए गए है। ग्राम पंचायतों को सामाजिक न्याय व आर्थिक विकास की योजनाएं बनाने के अधिकार प्राप्त हुए हैं। अतः अब इन संशोधनों के बाद गांव के लोग पंचायत प्रतिनिधियों के साथ बैठकर अपनी आवश्यकता व प्राथमिकता के हिसाब से योजनाएं बनाएंगे व उन्हें स्वयं लागू करेंगे। सूक्ष्म नियोजन के आधार पर एवं ग्राम सभा द्वारा बनाई गई योजना ग्राम पंचायत द्वारा क्षेत्र पंचायत को भेजी जाएंगी। एक क्षेत्र पंचायत के अंतर्गत आने वाली सभी पंचायतों की योजनाओं को मिलाकर एक योजना का निर्माण होगा जिसे जिला पंचायत में भेजा जाएगा। जिला स्तर पर प्राप्त सभी क्षेत्र पंचायतों की योजनाओं को मिलाकर जिला पंचायत संपूर्ण जिले की योजनाएं बनाएगा और जिला पंचायत द्वारा इस संयुक्त योजना को जिला योजना समिति के पास भेजना होगा। इस प्रकार इस पूरी प्रक्रिया का संचालन केंद्र से ना होकर गांव के स्तर से होगा। निर्णय लेने में महिलाओं, पिछड़े वर्ग व दलितों को भी पूरा अवसर मिलेगा। गांव के लोगों के सहयोग से व उनकी आवश्यकताओं पर आधारित योजनाओं को लागू करने में आसानी होगी व उसकी सफलता के अवसर भी बढ़ेंगे।

इन महत्वपूर्ण संवैधानिक संशोधनों के बाद वर्ष 2005 में 11वीं योजना की तैयारी के समय पंचायती राज मंत्रालय ने श्री वी. रामचंद्रन की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ दल का गठन किया था जिसका उद्देश्य जमीनी स्तर पर नागरिकों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सभी पंचायत स्तरों पर जिला और उप जिला योजनाएं तैयार करने के संबंध में अध्ययन कर अपनी सिफारिशें प्रदान करना था। पंचायती राज मंत्रालय और योजना आयोग ने विशेषज्ञ

दल की रिपोर्ट को स्वीकार किया गया था। योजना आयोग ने 25.08.2006 के अपने एक सर्कुलर के माध्यम से ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में जिला योजनाओं के बारे में विस्तृत दिशानिर्देश जारी किए थे।

10.3.9 नियोजन की वर्तमान व्यवस्था

इस प्रकार जिला नियोजन के संदर्भ में इतने सारे प्रयोगों के परिणाम स्वरुप वर्तमान में राज्य योजना आयोग प्रदेश की जिला समितियों के काम को सुचारू रूप से चलाने के लिए समय-समय पर निर्देश जारी करता है। राज्य योजना आयोग इन जिला नियोजन समितियों को नियोजन संबंधित सभी प्रकार के सहयोग प्रदान करता है।

जिला स्तर पर जिला नियोजन की शीर्ष इकाई जिला योजना समिति है जो ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्र की योजनाओं को समेकित कर संपूर्ण जिले के लिए जिला योजना तैयार करती है। ग्रामीण क्षेत्र की योजना तैयार करने की मुख्य जिम्मेदारी जिला पंचायत की होती है। इसके अलावा ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत विभिन्न इकाईयां(विभाग, निगम आदि) जो सीधी जिला पंचायत के अंतर्गत नहीं आती हैं, वे भी अपनी योजना जिला योजना समिति की संबंधित उप समिति को प्रस्तुत करती हैं। विकेंद्रीकृत नियोजन में ग्रामीण क्षेत्र में ग्राम सभा से तथा नगरीय निकायों में वार्ड स्तर से योजना निर्माण करते हुए जिला योजना तैयार की जाती है। योजना आयोग, भारत सरकार ने इस संदर्भ में विस्तृत मैनुअल तैयार किया, जिसके अनुसार नियोजन की प्रक्रियाओं को निचले स्तर से ऊपर ले जाने के लिए विभिन्न स्तरों पर व्यवस्था दी गई।

जिला नियोजन समिति की संरचना राज्य की विधानसभा द्वारा पारित कानूनों के अनुसार होगी। कानूनों में इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि जिला नियोजन समिति के स्थान किस प्रकार भरे जाएंगे, परंतु 4/5 सदस्य पंचायतों एवं महानगर पालिकाओं के चुने हुए सदस्यों में से होंगे। कानून में जिला नियोजन समिति के कार्यों व उसके अध्यक्ष चुनने का उल्लेख आवश्यक है। जिला नियोजन समिति पंचायतों एवं नगर पालिकाओं के सामान्य हित, भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक साधनों एवं पर्यावरण को ध्यान रखते हुए योजना विकास प्रारूप तैयार करेगी। विकास प्रारूप तैयार होने एवं नियोजन समिति की स्वीकृति के बाद जिला नियोजन समिति के अध्यक्ष द्वारा राज्य शासन को राज्य योजना में सम्मिलित करने हेतु भेजा जाता है।

यहां यह भली-भांति समझ लेना चाहिए कि योजना प्रक्रिया के विकेंद्रीकरण के द्वारा ही उत्तम व प्रभावशाली नियोजन संभव है और इसके लिए जिले का क्षेत्र सबसेउचित और उपयुक्त है। इस प्रकार अब लगभग सभी राज्यों में राज्य योजना आयोगों का मुख्य कार्य राज्य योजनाओं का निर्माण, क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन करना है।

राज्यों ने अपने राज्य योजना दस्तावेजों को तैयार करने में कुछ सीमा तक सुविज्ञता हासिल भी कर ली है। इसके अलावा राज्यों में जिला नियोजन के लिए जरूरी संस्थागत सुधारों की दिशा में भी काम आगे बढ़ा है। अनुच्छेद-243 ZD के अनुरूप अधिकतर राज्यों ने जिला योजना समितियों के गठन के लिए कानून पारित किए हैं। दूसरी ओर, सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के उद्देश्य से चलाई गई केंद्र प्रायोजित योजनाओं और अतिरिक्त केंद्रीय सहायता के माध्यम से केंद्र की ओर से राज्यों को पर्याप्त संसाधन प्रदान किए जा रहे हैं, जिनमें जमीनी स्तर पर इंफ्रास्ट्रक्चर का विकास और सेवा प्रदायगी भी शामिल है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विकेंद्रीकरण के विभिन्न प्रयासों और समितियों की रिपोर्ट के कालक्रम को नीचे दी गई तालिका के अनुसार और आसानी से समझा जा सकता है-

वर्ष	समितियां/आयोग	विचार और अवधारणाएं
पहली योजना 1951-1956	समुदाय विकास प्रखंड	नियोजन कार्य का राष्ट्रीय, राज्य, जिला और स्थानीय समुदाय के स्तरों पर विभाजन

दूसरी योजना 1956- 1961	जिला विकास परिषदें	जनतांत्रिक विकेंद्रीकरण के माध्यम से ग्राम योजनाएं तैयार करना और नियोजन में जनभागीदारी
1957	बलवंत राय मेहता समिति	ग्राम, खंड, जिला पंचायत संस्थानों की स्थापना
1967	प्रशासनिक सुधार आयोग	क्षेत्र की उद्देश्य पूर्ण योजना के लिए संसाधन प्रदान करना। स्थानीय नेताओं को शामिल करना।
1969	योजना आयोग	मार्ग निर्देश सूचित किए, वार्षिक योजनाओं, मध्यावधि योजनाओं और संदर्श योजना के ढांचे के अंतर्गत जिला योजना की अवधारणा और उसे बनाने की पद्धति को निर्दिष्ट किया।
1978	प्रो. एम. एल. दांत वाला	ग्राम और जिला स्तर की योजनाओं के बीच संपर्क बनाने के लिए खंड स्तर पर नियोजन।
1983-84	केंद्र प्रायोजित योजनाएं/ भारतीय रिजर्व बैंक	जिला योजना/जिला ऋण योजना को मजबूत बनाना।
1984	हनुमंतराव समिति	कार्य, अधिकारों और वित्त का विकेंद्रीकरण, जिला योजना निकायों और जिला योजना प्रकोष्ठो का गठन।

10.4 जिला नियोजन का औचित्य

जैसा कि आपने अभी जाना कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया तथा साथ ही साथ प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की दिशा में भी महत्वपूर्ण प्रयास किए गए, जिसके फलस्वरूप केंद्र और राज्य सरकारों के बीच ना केवल राजनैतिक एवं प्रशासनिक बल्कि वित्तीय शक्तियों का विकेंद्रीकरण करने की व्यवस्था भी की गई। जिला स्तर पर योजना की प्रक्रिया को महत्व प्रदान किये जाने हेतु संविधान में 73वाँ एवं 74वाँ संवैधानिक संशोधन किया गया। जिला स्तर पर समेकित जिला योजना को अपनाया गया।

समेकित जिला योजना एक ऐसा दस्तावेज होता है जो जिले के आगामी वर्ष के विकास का आधार पत्र होता है। इसमें जिले की संसाधनात्मक उपलब्धता, जिले की शक्तियां या क्षमताएं, कमियां तथा आवश्यकताओं आदि की विस्तृत जानकारी होती है। यह दस्तावेज एक वर्ष का, पाँच वर्ष का या लंबी अवधि का भी हो सकता है। इस दस्तावेज के निर्माण का प्रमुख आधार संविधान द्वारा स्थापित पंचायती राज संस्थाओं और शहरी निकायों के सदस्यों के द्वारा क्रमशः ग्राम सभा और वार्ड सभा की बैठक के दौरान आपसी विचार विमर्श के आधार पर अपने संसाधनों की सीमा में तय किए गए विकास के कार्यों का लेखा-जोखा होता है। जिला योजना के दस्तावेज में आने वाले समय में विकास की दिशा को तय करने के साथ ही विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न स्रोतों से संभावित रूप से मिलने वाले और खर्च किए जाने वाले संसाधनों को निर्धारित करने का कार्य किया जाता है।

साथ ही इसमें यह भी वर्णित होता है कि एक निर्धारित अवधि में उपलब्ध वित्तीय और भौतिक संसाधनों से प्राथमिकता के आधार पर जिले में क्या-क्या विकास कार्य कराए जाएंगे, तथा किस प्रकार की सेवाएं उपलब्ध कराई जाएंगी। भारतीय संविधान में केंद्र तथा राज्यों के बीच विधायी एवं वित्तीय शक्तियों के वितरण के प्रावधान

तो किए गए हैं परंतु संविधान में जिला स्तर के लिए किसी भी प्रकार की कोई व्यवस्था का प्रावधान नहीं किया गया है।

राज्य से नीचे जिला एवं खंड स्तर तक आर्थिक व सामाजिक नियोजन की सार्थक प्रक्रिया को विशेषकर 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन से पूर्व विकेंद्रीकृत नहीं किया जा सका था।

क्षेत्रों में बिजली व्यवस्था को अपनी वार्षिक योजना में शामिल करने के लिए उन्हें प्राथमिकता दें। अब तक जिला नियोजन की दिशा में किए जाने वाले सारे प्रयासों के बारे में जान लेने के बाद जिला नियोजन की सार्थकता को निम्न बिंदुओं से दर्शाया जा सकता है-

1. **स्थानीय क्षेत्र की समस्याओं के निवारण हेतु-** भारत जैसे विशाल देश की भौगोलिक स्थिति में असमानता है और हर स्थानीय क्षेत्र की समस्या की प्रकृति भी भिन्न होती है। केंद्र सरकार द्वारा क्षेत्र विशेष की समस्याओं को पहचान कर उनके अनुरूप योजना को बना पाना कठिन होता है। यही कारण है कि अनेकों बार केंद्र सरकार की योजनाएं इन समस्याओं के समाधान में असफल रहती हैं। यदि योजना का विकेंद्रीकरण किया जाता है तो जिला स्तर पर नियोजन के लिए भौगोलिक स्थिति, संगठन, सामाजिक व राजनीतिक सहायता आसानी से प्राप्त की जा सकती है। अतः स्थानीय समस्याओं का वास्तविक निवारण करना है तो जिला स्तर पर नियोजन को अपनाना होगा। जिसके फलस्वरूप योजना बनाने तथा लागू करने में भी सुगमता एवं सरलता होगी तथा योजना समस्या के अनुरूप बनाई जा सकेगी।
2. **स्थानीय क्षेत्र के विकास हेतु-** जैसा कि आपने पिछले बिंदु के द्वारा जाना कि भारत जैसे विशाल देश में, जो इतनी विविधता के लिए हैं, केंद्र द्वारा बनाई गई योजनाएं संपूर्ण क्षेत्र का विकास नहीं कर सकती, क्योंकि केंद्र द्वारा जो भी योजना बनाई जाती है उसको लागू करने में बहुत प्रयास करने पड़ते हैं। केंद्र द्वारा बनाई गई योजना स्थानीय क्षेत्र के विकास हेतु अनेकों बार अपर्याप्त सी भी होती है। जिला नियोजन की व्यवस्था को अपनाने से ना केवल उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों का विकास संभव है बल्कि उस समुचित स्थानीय क्षेत्र तथा पूरे देश का विकास भी संभव हो जाता है।
3. **समन्वित विकास कार्यों हेतु-** राज्य सरकार से नीचे के स्तर पर विकास से संबंधित कार्य विभिन्न विभागों के द्वारा संपादित किए जाते हैं। जिला और उप जिला स्तरों पर कुछ सार्वजनिक अभिकरण इन सब कार्यों का संपादन करते हैं,जिसके कारण विकास के सभी कार्य विभिन्न विभागों तथा अभिकरणों के मध्य बिखर जाते हैं। जिला एवं उप जिला स्तर पर विभिन्न सार्वजनिक अभिकरण और व्यक्तिगत प्रयासों को एक क्षेत्रीय योजना प्रारूप दिए जाने की आवश्यकता है। इस कारण यह अत्यधिक आवश्यक हो जाता है कि जिला स्तर पर भी एक नियोजन अभिकरण को स्थापित किया जाए जिससे योजना में समन्वय एवं एकरूपता स्थापित करके समन्वित विकास की ओर बढ़ा जा सके सके।
4. **स्थानीय नियोजन हेतु-** राज्य स्तर पर विकास से संबंधित योजना का निर्माण कर लिया जाता है परंतु निचले स्तर पर एक समन्वित,एकरूपता लिए हुए स्थानीय नियोजन हेतु भी जिला नियोजन की आवश्यकता होती है। योजना निर्माण का कार्य जब स्थानीय लोगों द्वारा संपन्न किया जाता है तो समस्याओं को बहुत अधिक व्यावहारिक ढंग से समझा जा सकता है। उसके लिए रणनीति व्यवहारिक तौर पर स्थानीय समर्थन से बनाई जा सकती है। केंद्र सरकार द्वारा तैयार की गई योजना में यह गुण विद्यमान नहीं होता है।
5. **स्थानीय संसाधनों के प्रभावी उपयोग हेतु-** भारत एक विविधता प्रधान देश है, जिसमें केंद्र राज्य और जिला सभी स्तरों की ना केवल आवश्यकताएं भिन्न होती हैं बल्कि उनकी समस्याएं भी भिन्न होती हैं। नियोजन की प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण किए जाने के पीछे एक उद्देश्य यह भी होता है कि स्थानीय स्तर की

आवश्यकता और समस्याओं को समझ कर स्थानीय स्तर पर ही उपलब्ध संसाधनों का भी प्रभावी ढंग से उपयोग किया जा सके।

6. **प्रजातंत्र को मजबूत बनाने हेतु-** जिला एवं आधार स्तरीय नियोजन देश में लोकतंत्र को मजबूत बनाने की प्रक्रिया में भी बहुत महत्वपूर्ण एवं आवश्यक तत्व माना जाता है।
7. **महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में-** जिला स्तरीय नियोजन राष्ट्रीय नियोजन, राज्य नियोजन तथा क्षेत्रीय नियोजन के लिए प्रमुख एवं महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करता है। दूसरी तरफ यह परिवार, ग्राम तथा खंड स्तरीय योजनाओं को जोड़ने का कार्य भी करता है।
8. **सूचनाएं एवं आंकड़े एकत्रित करने हेतु-** विकेंद्रीकृत नियोजन में सूचनाएं एवं आंकड़े कम खर्च पर एकत्रित कर नियोजन को एक छोटे प्रबंध योग्य आकार में बदल दिया जाता है साथ ही इसके अंतर्गत क्षेत्रीय आवश्यकता एवं साधनों का भी ध्यान रखा जाता है।
9. **राज्य योजनाओं की कमी पूरा करने की आवश्यकता-** राज्य योजनाओं के द्वारा स्थानीय क्षेत्र की समस्याओं के समाधान और आवश्यकता की पूर्ति के संदर्भ में जो भी कमियां रह जाती हैं उन कमियों को जिला स्तर पर नियोजन के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है।

इस प्रकार जिला नियोजन की औचित्यता ना केवल जिले, राज्य एवं देश के विकास के लिए बल्कि इसके अलावा भी इसके औचित्य के कई और भी कारण है जिनका वर्णन उपरोक्त बिंदुओं के द्वारा दर्शाया गया है।

10.5 जिला नियोजन की विशेषताएं

भारत में जिला नियोजन की विशेषताओं को निम्न बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

1. जिला नियोजन विकेंद्रित नियोजन का ही स्वरूप है।
2. जिला नियोजन की आवश्यकता उस समय होती है जब देश में बहु स्तरीय आर्थिक नियोजन प्रणाली को अपनाया जाता है।
3. जिला नियोजन संपूर्ण राज्य की योजनाओं का ही अंग होता है।
4. जिला स्तरीय नियोजन के लिए एक जिले को नियोजन की एक इकाई के रूप में माना जाता है तथा जिले के आर्थिक विकास के लिए योजना बनाई जाती है।
5. जिला नियोजन में नगरीय एवं ग्रामीण संस्थाओं द्वारा निर्मित योजनाएं सम्मिलित होती हैं।
6. जिला नियोजन के लिए वित्तीय संसाधनों की प्राप्ति राज्य सरकार से होती है। तथा केंद्र पोषित योजनाओं एवं कार्यक्रमों के लिए धनराशि भी राज्य सरकार के माध्यम से प्राप्त होती है।
7. जिला नियोजन के लिए नीति निर्धारण तथा मार्गदर्शन का कार्य राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। राज्य सरकार के योजना विभाग के निर्देशानुसार जिला नियोजन किया जाता है।
8. जिला नियोजन में ग्रामीण विकास, कृषि, पशुपालन, डेयरी विकास, महिला व बाल विकास, शिक्षा प्रचार प्रसार, एवं साक्षरता, ग्रामीण स्वास्थ्य कार्यक्रम आदि के लिए विस्तृत कार्यक्रम तैयार किए जाते हैं।

10.6 जिला योजना समिति

जैसा कि आपने अब तक के अध्ययन में जाना की, जिला नियोजन हेतु जिला नियोजन समितियों को स्थापित किए जाने को आवश्यक माना गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 243ZD में इन जिला आयोजन समितियों के बारे में प्रावधान किया गया है। इस अनुच्छेद में जिला योजना के लिए समितियों के बारे में कुछ प्रावधान किए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं-

1. प्रत्येक राज्य में जिला स्तर पर, जिले में पंचायतों और नगर पालिकाओं द्वारा तैयार की गई योजनाओं का समेकन करने और संपूर्ण जिले के लिए एक विकास योजना प्रारूप तैयार करने के लिए, एक जिला योजना समिति का गठन किया जाएगा।

   राज्य का विधान मंडल, विधि द्वारा, निम्नलिखित की बाबत उपबंध कर सकेगा, अर्थात,

   (क) जिला योजना समितियों की संरचना;

   (ख) वह रीति जिससे ऐसी समितियों में स्थान भरे जाएंगे। परंतु ऐसी समिति की कुल सदस्य संख्या के कम से कम 4/5 सदस्य जिला स्तर पर पंचायत के और जिले में नगर पालिकाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा, अपने में से, जिले में ग्रामीण क्षेत्रों की और नगरीय क्षेत्रों की जनसंख्या के अनुपात के अनुसार निर्वाचित किए जाएंगे;

   (ग) जिला योजना से संबंधित ऐसे कृत्य जो ऐसी समितियों को संनुदिष्ट (निर्दिष्ट किया गया) किए जाए;

   (घ) वह तरीका, जिससे ऐसी समितियों के अध्यक्ष चुने जाएंगे।
2. प्रत्येक जिला योजना समिति, विकास योजना प्रारूप तैयार करने में-

   (क) निम्नलिखित का ध्यान रखेगी, अर्थात, पंचायतों और नगर पालिकाओं के सामान्य हित के विषय, जिनके अंतर्गत स्थानीय योजना, जल तथा अन्य भौतिक और प्राकृतिक संसाधनों में हिस्सा बटाना, अवसंरचना का एकीकृत विकास और पर्यावरण संरक्षण है; उपलब्ध द्वितीय तथा अन्य संसाधनों की मात्रा और प्रकार;

   (ख) ऐसी संस्थाओं और संगठनों से परामर्श करेगी जिन्हें राज्यपाल, आदेश द्वारा, निर्दिष्ट करें।
3. प्रत्येक जिला योजना समिति का अध्यक्ष, वह विकास योजना, जिसकी ऐसी समिति द्वारा सिफारिश की जाती है, राज्य सरकार को भेजेगा।

   पंचायतों तथा नगर पालिकाओं द्वारा तैयार की जाने वाली योजनाओं को समेकित करने और पूरे जिले की विकास योजना की रूप-रेखा तैयार करने के लिए सरकार देश के सभी जिलों में एक जिला योजना समिति का निर्माण करती है। देश के सभी प्रदेशों में तथा सभी राज्यों के सभी जिलों में इसका गठन किया गया। इससे देश के सभी क्षेत्रों में विकास संबंधी कार्यों में तेजी देखने को मिली है।

   इस समिति के द्वारा ही जिले के संपूर्ण विकास की योजना तैयार की जाती है। जैसे जिले की स्कूल शिक्षा, लोक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण, महिला एवं बाल विकास, पंचायत एवं ग्रामीण विकास, ऊर्जा, अनुसूचित जाति व जनजाति व अन्य संबंधित सभी विभागों के अंतर्गत होने वाले कार्यों के लिए कार्य योजना बनाने में इस समिति के सदस्यों के विचारों को शामिल किया जाता है।

10.6.1 जिला योजना समिति का उद्देश्य

जिला योजना समिति के कार्यों को देखते हुए इसके मुख्य उद्देश्य भी कुछ इस प्रकार से बताए जा सकते हैं-

1. प्रत्येक वर्ष बजट के पहले बजट में शामिल करने हेतु कार्य योजना तैयार कर प्रस्ताव भेजना।
2. सभी विभागों के अंतर्गत महीनेवार अलग-अलग कार्यों की योजना बनाना।
3. योजना को प्रत्येक वर्ष सितम्बर, अक्टूबर तक तैयार करके बजट में शामिल करवाना।
4. क्षेत्रों के अनुसार कार्य में कितनी लागत लगानी है उस की योजना बनाना।
5. नई योजना तैयार करना भी समिति का मुख्य उद्देश्य है।

10.6.2 जिला नियोजन समिति की संरचना

जिला नियोजन समिति के 4/5 सदस्य जिला पंचायत एवं नगर निकाय के निर्वाचित सदस्यों में से ग्रामीण एवं शहरी जनसंख्या के अनुपात के आधार पर निर्वाचित होते हैं। समिति के 1/5 सदस्यों को राज्य सरकार द्वारा नामित

किया जाता है जिसमें से मंत्रिमंडल द्वारा नामित एक मंत्री इस समिति का अध्यक्ष होता है। उदाहरण के लिए उत्तराखंड में जिले के प्रभारी मंत्री को जिला नियोजन समिति का अध्यक्ष बनाया गया है तथा जिलाधिकारी व जिला पंचायत अध्यक्ष को इसमें पदेन सदस्य रखा गया है। इनके साथ ही इसमें अन्य सदस्य भी होते हैं जिन्हें राज्य सरकार नामित करती है। समिति के सदस्यों के निर्वाचन का कार्य राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा किया जाता है। यदि समिति का कोई निर्वाचित सदस्य नगरपालिका या जिला पंचायत का सदस्य नहीं रह जाता है तो वह समिति का सदस्य नहीं रहेगा। जिले का मुख्य विकास अधिकारी समिति का पदेन सचिव होगा। यह समिति के अभिलेखों का अनुरक्षण करने, समिति की बैठकों का कार्यवृत तैयार करने तथा प्रासंगिक विषयों की सूचना देने के लिए उत्तरदाई होगा। सचिव समिति को अपने कृतियों के निर्वाहन हेतु आवश्यक सहायता भी उपलब्ध कराएगा। जिले का अर्थ एवं सांख्यिकी अधिकारी समिति द्वारा निर्देशित नियमानुसार समिति की सहायता करने के लिए पदेन संयुक्त सचिव होगा। समिति अपने कर्तव्यों के निर्वहन के लिए उप समितियों का गठन भी कर सकती है।

मोटे तौर पर देश के विभिन्न राज्यों की जिला योजना समितियों का अध्ययन करने पर इसकी संरचना की निम्नलिखित चार प्रणालियां उभरकर सामने आती हैं-

1. मंत्री अध्यक्ष मॉडल- इसमें मंत्री जिला योजना समिति का अध्यक्ष: जैसे- महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार।
2. उपायुक्त/ जिलाधीश अध्यक्ष मॉडल- यह मॉडल असम, जम्मू कश्मीर, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, कर्नाटक एवं नागालैंड में देखने को मिलता है।
3. गैर-सरकारी अध्यक्ष मॉडल- यह मॉडल मेघालय में अपनाया गया है।
4. विधायक अध्यक्ष मॉडल- यह मॉडल मध्य प्रदेश में लागू है।

10.6.3 जिला योजना समिति का अध्यक्ष

जिला परिषद का अध्यक्ष ही जिला योजना समिति का अध्यक्ष होता है। जिला परिषद के अध्यक्ष और जिला मुख्यालय वाले नगर निकाय- नगर परिषद, नगर पंचायत या नगर निगम के महापौर/ मुख्य पार्षद/ अध्यक्ष जिला योजना समिति के पदेन सदस्य होते हैं। अगर देखा जाए तो इसका मुख्य अध्यक्ष, जिला परिषद अध्यक्ष ही होता है, जिस की सहमति से ही कार्यों को आगे बढ़ाया जाता है।

10.6.4 जिला योजना समिति के कार्य

जिला योजना समिति के सदस्यों को जिले में बहुत से कार्य सोंपे गए हैं, इन सदस्यों द्वारा किए जाने वाले कार्य कुछ इस प्रकार से हैं-

1. जिले की जिला परिषद, पंचायत समिति ग्राम पंचायतों, नगर पंचायतों, नगर परिषदों और नगर निगम द्वारा तैयार की गई योजनाओं पर कार्य करना।
2. पूरे जिले के लिए विकास योजनाओं को तैयार करना।
3. ग्राम, खंड, शहर और जिला स्तर पर सुविधाओं को सूचीबद्ध करना।
4. ग्राम, शहर और जिले का मानचित्र तैयार करना।
5. उपलब्ध प्राकृतिक और मानव संसाधन के उपयोग को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से जिले के विकास के लिए नीतियों का गठन करना।
6. विभिन्न कार्यक्रमों और प्राथमिकताओं के संबंध में अनुशंसा करना।
7. जिले के लिए रोजगार योजना तैयार करना है इसके प्रमुख कार्य के अंतर्गत ही आता है।
8. मूलभूत सुविधाओं की आवश्यकता व संभावनाओं के बारे में चर्चा करके प्रस्ताव भेजना।

10.6.5 समिति की बैठक

समिति की बैठक 3 माह में कम से कम एक बार जिला मुख्यालय में आयोजित की जाएगी। बैठक की तिथि अध्यक्ष द्वारा तय की जाएगी। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में समिति का उपाध्यक्ष समिति की अध्यक्षता करेगा। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में समिति नगरपालिका प्रमुख/अध्यक्ष बैठक की अध्यक्षता करेगा। समिति के और दोनों उपाध्यक्षों की अनुपस्थिति में समिति का ही ऐसा सदस्य जो बैठक में उपस्थित समिति के सदस्यों द्वारा चुना जाए, समिति की बैठक की अध्यक्षता करेगा। समिति में अगर किसी कारणवश किसी पद की रिक्ति विद्यमान होती है तो भी समिति की कार्यवाही विधिपूर्वक चलती रहेगी। समिति अपनी बैठकों में उपस्थित होने के लिए विशेषज्ञों को भी नियमानुसार आमंत्रित कर सकेगी।

10.6.6 समिति के स्थाई सदस्य

जिले के सभी सांसद एवं विधायक समिति के स्थाई आमंत्रित सदस्य होते हैं। राज्य की विधान परिषद के सदस्य जो ऐसे स्नातक या शिक्षक या स्थानीय निकाय के निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिले में समाविष्ट हैं समिति की बैठकों के स्थानीय आमंत्रित होंगे। राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित या राज्यपाल द्वारा नाम निर्दिष्ट राज्य की विधान परिषद के सदस्य अपने विकल्प के जिले की समिति की बैठकों के लिए स्थाई आमंत्रित होंगे। राज्यसभा के सदस्य भी जो राज्य का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, जिले की समिति की बैठकों के लिए स्थाई आमंत्रित होंगे। कोई भी स्थाई आमंत्रित समिति की किसी भी बैठक में उपस्थित होने के लिए अपनी ओर से अपने प्रतिनिधि का नाम निर्दिष्ट नहीं करेगा।

10.6.7 समिति के सदस्यों का निर्वाचन

राज्य निर्वाचन आयोग को नियमानुसार समिति के सदस्यों के निर्वाचन के लिए निर्वाचक नामावली तैयार कराने का और उस निर्वाचन के संचालन का अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण का अधिकार होगा।

10.7 जिला नियोजन की प्रक्रिया

प्रतिवर्ष ग्राम पंचायतों द्वारा अपनी विकास योजनाएं तैयार की जाएंगी। क्षेत्र पंचायत द्वारा ग्राम पंचायतों की विकास योजनाओं को समेकित करते हुए क्षेत्र की विकास योजना तैयार की जाएगी। जिला पंचायत द्वारा क्षेत्र पंचायतों की विकास योजनाओं को समय किस करते हुए तैयार की गई विकास योजना को जिला योजना समिति को भेजा जाएगा। जनपद में स्थित नगरीय निकायों द्वारा विकास योजनाओं को तैयार कर सीधे जिला नियोजन समिति को भेजा जाएगा। जिला नियोजन समिति को पंचायतों एवं नगरीय निकायों से प्राप्त विकास योजनाओं पर समान रूप से विचार करने का अधिकार होगा। जिला योजना समिति का कार्य क्षेत्र, जिला पंचायत एवं जिला निकायों द्वारा तैयार की गई विकास योजनाओं पर, उनके पारस्परिक हित, विशेष रुप से क्षेत्रीय नियोजन, पानी एवं अन्य भौतिक एवं प्राकृतिक संसाधनों में हिस्सेदारी, अवस्थापना एवं पर्यावरणीय एकीकृत विकास पर विचार करते हुए, जनपदों के लिए एक विकास योजना का प्रारूप तैयार कर राज्य सरकार को प्रेषित किया जाना है। राज्य योजना आयोग जिला योजना की तैयारी के लिए नियमानुसार अनुदेश और मार्गदर्शक सिद्धांत जारी कर सकेगा। राज्य सरकार, राज्य योजना आयोग की संस्तुति पर समिति द्वारा तैयार की गई जिला योजना को परिवर्तन सहित या बिना किसी परिवर्तन के अंतिम रूप देगी।

समिति के कार्य, उसकी शक्ति या अधिकार क्षेत्र के संबंध में अथवा अन्य भी किसी मामले के संबंध में कोई विवाद या प्रश्न उत्पन्न होता है तो ऐसे विवाद या प्रश्न को राज्य योजना आयोग को निर्देशित किया जाएगा जिसमें आयोग का निर्णय ही अंतिम होगा।

10.8 विकेंद्रीकृत नियोजन की समस्याएं

विकेन्द्रीकृत नियोजन की निम्नांकित समस्याएं हैं-

1. ग्राम पंचायत का ग्राम सभा की बैठकों में नियोजन के बारे में जनता के विचार जानने का प्रावधान है, पर ग्राम सभा की बैठके समुचित ढंग से आयोजित नहीं की जाती हैं। कई मामलों में सिर्फ प्रस्ताव की प्रति पर हस्ताक्षर करा लिए जाते हैं। पिछड़े एवं कमजोर वर्ग के लोगों को अपनी समस्याएं और जरूरतें बताने को बहुत कम अवसर मिलता है। इन बैठकों में सत्ताधारी दल के लोग अत्यधिक हावी रहते हैं और विपक्ष को अनसुना कर दिया जाता है।
2. यह भी पाया गया है कि, योजना के चयन में कमजोर वर्गों को प्राथमिकता देने के बजाय विभिन्न सांसदों में धनराशि का बंटवारा कर दिया जाता है।
3. कई मामलों में यह भी देखा गया है, कि नियोजन की गुणवत्ता बहुत कमजोर होती है। सिर्फ एक या दो सेक्टरों को ही महत्व दिया जाता है। ग्राम पंचायतें ढांचागत क्षेत्र को सर्वाधिक महत्व देती हैं और इसमें भी वे सड़कों की मरम्मत पर ज्यादा जोर देती है। इस प्रवृत्ति से स्वास्थ्य, शिक्षा, महिला एवं बाल विकास या सामाजिक कल्याण जैसे सेक्टर उपेक्षित रह जाते हैं।
4. जिला स्तर पर योजना निर्माण, क्रियान्वयन, नियंत्रण तथा मूल्यांकन के लिए प्रशिक्षित तथा तकनीकी रूप से दक्ष कार्मिकों का सदैव अभाव रहा है। वास्तव में नियोजन कार्य सरल प्रकृति का नहीं है। योग्य तथा प्रतिबद्ध व्यक्तियों की कमी से जिला आयोजना सदैव ग्रस्त रही है। कई राज्यों में तो जिला आयोजना समितियां मात्र विभागों के जिलास्तरीय भौतिक तथा वित्तीय लक्ष्यों का रिकॉर्ड भर ही रखती है। यह लक्ष्य भी विभिन्न विभागों के राज्य स्तरीय कार्यालय निश्चित करते हैं।
5. आर्थिक नियोजन की प्रकृति मूलतः केंद्रीकरण की ओर झुकी हुई मानी जाती है। भारत में भी केंद्रीय योजना आयोग ही सर्वे सर्वा की भूमिका निभाता रहा है। प्रश्न यह उठता है कि जब राज्य स्तरीय आयोजना तंत्र के पास ही पर्याप्त स्वतंत्रता तथा सुविधाएं नहीं है तो जिला स्तरीय आयोजना की कितनी प्रासंगिकता बचती है?
6. योजना निर्माण तथा क्रियान्वयन का कार्य संसाधनों की मांग करता है। भारत में पंचायती राज संस्थाएं वित्तीय संसाधनों की दृष्टि से सक्षम नहीं है। यदि योजना का निर्माण निचले स्तर पर हो तथा वित्तीय स्वीकृति उच्च स्तर से मिले तो तारतम्य में कमी आती है। स्पष्ट है दाता का स्वभाव शर्तें थोपने का होता है। जब तक जिला, खंड तथा ग्राम स्तरीय संस्थाएं स्वयं के वित्तीय स्रोत विकसित नहीं करेंगे तब तक योजना निर्माण तथा क्रियान्वयन का कार्य भी पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा।
7. संसद, विधानसभा, पंचायती राज तथा नगरीय स्थानीय स्वशासन नामक कई स्तरों पर जन प्रतिनिधियों का निर्वाचन होता है। यह स्वभाविक है कि एक ही जिले में अलग-अलग राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाए। राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के कारण अक्सर बहुत सारे विकास कार्य ठप पड़ जाते हैं।
8. विकास प्रशासन की मूलभूत सफलता जन सहभागिता से जुड़ी है। विडंबना यह है कि भारतीय जन मानस लोक प्रशासन के कार्यक्रमों से स्वयं को आत्मीय रूप से जोड़ नहीं पाया है। किसी भी समस्या के समाधान के लिए राजधानी की ओर भागने की प्रवृत्ति विकसित हो चुकी है। जन सहभागिता को लोकतंत्र तथा विकास का आधार माना जाता है लेकिन यह भारत में संभव नहीं हो पा रहा है।
9. नौकरशाही की समस्त व्याधियों से ग्रस्त भारतीय प्रशासनिक तंत्र अभी तक लोकतांत्रिक, विकास उन्मुख, प्रतिबद्ध तथा संवेदनशील तंत्र का स्वरूप धारण नहीं कर पाया है। विकास की डगर इन्हीं मूलभूत तत्वों की मांग करती है।

जिला नियोजन अभी भी वास्तविक नहीं बन सकी है। एक समस्या जिला स्तर पर अनुपयुक्त वित्तीय शक्तियों की है। यदि जिलों को उपयुक्त साधन उपलब्ध करा दिए जाएं तो वे अनुकूलतम आवंटन का निर्णय कर सकते हैं। जिलों को स्वतंत्र रूप से संसाधनों का आवंटन अल्प मात्रा में ही उपलब्ध है, क्योंकि अधिकांश नियोजित योजनाएं या तो केंद्र द्वारा प्रायोजित होती हैं या वे राज्य सरकार द्वारा कार्यान्वयन के लिए भेजी जाते हैं। जिलों को नाम मात्र का राजस्व प्राप्त करने की शक्तियां प्राप्त हैं और उन्हें संसाधन उधार लेने की कोई शक्ति नहीं है।इसलिए, वित्तीय साधनों के अभाव में नियोजन का अर्थ ही नष्ट हो जाता है। एक दूसरी समस्या यह है कि अधिकांश राज्यों में जनता की आवश्यकताओं को समन्वित करने के लिए निर्वाचित जिला स्तरीय निकायों का अभाव है। विकेंद्रीकरण एवं पंचायती राज की प्रक्रिया ने आंशिक सफलता ही प्राप्त की है। लोकप्रिय पहल के अभाव में नियोजन घटकर केवल एक विभागीय योजनाओं के निरूपण, स्वीकृति तथा कार्यान्वयन तक ही सिमट गई है। जिला नियोजन के लिए लोकप्रिय, जागरुक एवं शक्तिशाली जिला परिषदों की आवश्यकता है। भारत में जिला योजना बहुत प्रणालीबद्ध नहीं है। अधिकांश राज्यों में तकनीकी योजना तंत्र निर्माण किया जाना जरूरी है। आज भी जिलों में विशुद्धतः तकनीकी कार्मिक उपलब्ध है, में मात्र 2 से 6 अधिकारी होते हैं और यह आवश्यक नहीं है कि वह बहु-विषयों से संबंधित हो। जिला योजना में अभी तक स्वीकृत रूप में विकेंद्रीकृत प्रक्रिया नहीं अपनाई गई है।

10.9 निष्कर्ष

संक्षेप में भारत में जिला योजना अभी अपने शैशव काल में है और इसे ठोस आधार प्रदान करने की जरूरत होगी। राजनीतिक संकल्प और प्रतिबद्धता तथा योजना के लिए उपयुक्त तंत्र की स्थापना की आवश्यकता है। प्रत्येक जिले में जिला योजना निकाय की स्थापना की जानी चाहिए तथा योजना कार्यों का स्पष्ट सीमांकन भी किया जाना चाहिए। संपूर्ण योजना राशि में से उचित राशि का आवंटन और वित्तीय संसाधनों का हस्तांतरण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रशासनिक शक्तियों का प्रत्यायोजन है। योजना प्रक्रिया के सभी चरणों में जनता की सहभागिता निश्चित करना और कार्मिकों का प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

अब क्योंकि जिला आयोजना समितियों को संवैधानिक स्तर प्राप्त है, अतः आशा की जा रही है कि अपेक्षित सुधार होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में विकेंद्रीकृत नियोजन का उल्लेख सबसे पहली बार कब किया गया था?
2. आठवीं योजना प्रारूप में विकेंद्रीकरण एवं योजना प्रक्रिया में किस बात पर बल दिया गया था?
3. जिला नियोजन समिति के कितने सदस्यों को राज्य सरकार द्वारा नामित किया जाता है?
4. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में जिला आयोजन समितियों के बारे में प्रावधान किया गया है?
5. जिला आयोजन समिति के स्थाई आमंत्रित सदस्य कौन होते हैं?

10.10 सारांश

स्वतंत्रता के उपरांत भारत में नियोजन प्रक्रिया में भी लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को बल दिया गया अर्थात योजना निर्माण एवं क्रियान्वयन के विभिन्न चरणों में जनता की भागीदारी और संबद्धता को महत्वपूर्ण माना गया। लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया में राजनीतिक, प्रशासनिक एवं वित्तीय शक्तियों के विकेन्द्रीकरण की अवधारणा भी अंतर्निहित है। योजना प्रक्रिया को राज्य और जिला स्तरों पर भी लागू किया जाने का सुझाव आने के बाद भारत में विकेंद्रीकृत नियोजन का उल्लेख सबसे पहली बार पहली पंचवर्षीय योजना (1951-1956) में तब किया गया था,जब यह सुझाया गया था कि, योजना प्रक्रिया को राज्य और जिला स्तरों पर भी लागू किया

जाएगा। जिला नियोजन के संदर्भ में इतने सारे प्रयोगों के परिणाम स्वरुप वर्तमान में राज्य योजना आयोग प्रदेश की जिला समितियों के काम को सुचारू रूप से चलाने के लिए समय-समय पर निर्देश जारी करता हैं। राज्य योजना आयोग इन जिला नियोजन समितियों को नियोजन संबंधित सभी प्रकार के सहयोग प्रदान करता है।

जिला स्तर पर जिला नियोजन की शीर्ष इकाई जिला योजना समिति है जो ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्र की योजनाओं को समेकित कर संपूर्ण जिले के लिए जिला योजना तैयार करती है। ग्रामीण क्षेत्र की योजना तैयार करने की मुख्य जिम्मेदारी जिला पंचायत की होती है। जिला नियोजन हेतु जिला नियोजन समितियों को स्थापित किए जाने को आवश्यक माना गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-243ZD में इन जिला आयोजन समितियों के बारे में प्रावधान किया गया है।

10.11 शब्दावली

एकरूपता- किन्हीं दो वस्तुओं के सामान्य गुणों की तुलना। जिला आयोजन कक्ष- जिला योजनाओं के निर्माण, क्रियान्वयन तथा मूल्याँकन हेतु उत्तरदायी इकाई। शस्य विज्ञानी- वह व्यक्ति जो फसल उत्पादन एवं मिट्टी प्रबन्ध की कृषि शाखा सम्बन्धी विशेषज्ञ हो। लम्बवत पदसोपन- सत्ता की संरचना जिसकी तुलना एक सीढ़ी के पायदानों की साथ की जा सकती है। जन सहभागिता- योजना निर्माण एवं क्रियान्वयन में लोगों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना।

10.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. पहली पंचवर्षीय योजना(1951-1956) में, **2.** जन सहभागिता पर, **3.** 1/5 सदस्यों को, **4.** अनुच्छेद-243ZD में, **5.** जिले के सभी सांसद एवं विधायक

10.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. कटारिया, सुरेंद्र 2008, कार्मिक प्रशासन; आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स: जयपुर।
2. शर्मा, अनिल कुमार, 2006, लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार; ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. अवस्थी एवं अवस्थी, 2014, भारत में लोक प्रशासन; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
4. अवस्थी एवं अवस्थी, 2016, भारतीय प्रशासन; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
5. माहेश्वरी, श्रीराम, 2010, भारतीय प्रशासन; ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद।

10.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राठौर, शर्मा, राठौड़, 2018, ग्रामीण- स्थानीय प्रशासन एवं ग्रामीण विकास; पंचशील प्रकाशन, जयपुर।
2. कटारिया, सुरेंद्र, 2009, भारतीय लोक प्रशासन;नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, नई दिल्ली।

10.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. विकेंद्रीकृत नियोजन का अर्थ एवं अवधारणा की विस्तार से विवेचना कीजिए।
2. भारत में जिला नियोजन के इतिहास की विस्तार से चर्चा कीजिए।
3. जिला नियोजन समिति पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
4. भारत में विकेंद्रीकृत नियोजन से संबंधित समस्याओं की विवेचना कीजिए।

इकाई- 11 आधार स्तरीय नियोजन

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 इकाई का उद्देश्य
11.2 विकेंद्रीकृत नियोजन की अवधारणा
    11.2.1 विकेंद्रीकृत नियोजन के गुण
11.3 विकेंद्रीकृत नियोजन की भूमिका
11.4 पंचायती राज व्यवस्था एवं आधार स्तरीय नियोजन
11.5 पंचायती राज संस्थान द्वारा आधार स्तरीय योजना की प्रक्रिया
11.6 निष्कर्ष
11.7 सारांश
11.8 शब्दावली
11.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
11.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.12 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

भारत जैसे संघीय शासन प्रणाली वाले देश में जहां प्रदीप से और अंततः प्रादेशिक विषमता व्यापक स्तर पर पाई जाती है वहां प्रादेशिक नियोजन के अंतर्गत बहु स्तरीय नियोजन की प्रक्रिया का अपनाया जाना अत्यंत आवश्यक है। भारत में भौगोलिक, आर्थिक तथा सामाजिक विषमताओं के चलते केवल केंद्रीय स्तर पर नियोजन की प्रक्रिया को अपनाकर समस्त क्षेत्रों का समन्वित एवं संतुलित विकास नहीं किया जा सकता है। आधार स्तरीय नियोजन को नीचे से नियोजन की पद्धति के रूप में भी जाना जाता है। बीते कई वर्षों से इस बात का अनुभव किया गया है कि योजना निर्माण की प्रक्रिया का प्रारंभ सबसे छोटे स्तर अथवा इकाई से होना चाहिए और साथ ही छोटे- छोटे कार्यों की योजनाओं को जोड़कर बड़े स्तर की योजना बनाई जानी चाहिए। इस प्रकार की नियोजन व्यवस्था को विकेंद्रीकृत नियोजन की व्यवस्था के रूप में जाना जाता है। विकेंद्रीकृत नियोजन की इसी व्यवस्था के संदर्भ में भारत में प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया को अपनाया गया और इसके साथ ही अनेक ऐसे उपाय भी अपनाए गए जिनके द्वारा लक्षित जनसंख्या योजना प्रक्रिया में भाग ले सकें। आधार स्तरीय योजना में लोग स्वयं अपनी आवश्यकता और समस्याओं का प्राथमिकीकरण करते हैं एवं ग्राम तथा खंड के लिए विकास से संबंधित योजनाएं बनाते हैं। लोगों की सहभागिता का संस्था करण करने के लिए, प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण 1992 में 73 और 74 वे संवैधानिक संशोधन के रूप में प्रभाव में आया। इस अधिनियम में पंचायती राज को संवैधानिक प्रतिष्ठा प्रदान की जिसके कारण पूर्व की व्यवस्था की बहुत सी कमियों को समाप्त किया जा सका।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विकेंद्रीकृत नियोजन की अवधारणा गुण एवं भूमिका को समझ पाएंगे।
- पंचायती राज व्यवस्था एवं आधार स्तरीय नियोजन को विस्तार से जान पाएंगे।

- पंचायती राज संस्थान तथा आधार पर की योजना की प्रक्रिया को समझने में सहायता मिलेगी।

11.2 विकेंद्रीकृत नियोजन की अवधारणा

जैसा कि आपने पिछली इकाइयों में पढ़कर समझा होगा कि नियोजन की प्रक्रिया केवल केंद्र या राज्य स्तर पर ही संपन्न नहीं होती है अपितु उससे नीचे जिला स्तर पर भी संपन्न होती है। इसके आगे की अवधारणा अर्थात और कौन से स्तरों पर नियोजन का कार्य संपन्न किया जाता है, इसको समझने के लिए हम संक्षेप में विकेंद्रीकृत नियोजन की अवधारणा को समझते हैं। इसे समझने के बाद भी आधार स्तरीय नियोजन की अवधारणा को समझना आसान होगा।

स्वतंत्रता के बाद समय और परिस्थिति के अनुसार भारत में केंद्रीकृत नियोजन की शुरुआत हुई। केंद्रीय कृत नियोजन की अवधारणा की सफलता और असफलता से हम सभी भलीभांति परिचित हैं। परंतु आज के इस बदलते परिवेश में विकेंद्रीकृत नियोजन की व्यवस्था को अपनाया जाना अत्यधिक आवश्यक महसूस होता है क्योंकि विकेंद्रीकरण में सत्ता का हस्तांतरण स्वाभाविक रूप से होता है। स्वतंत्रता पश्चात के इतने लंबे वर्षों के अनुभव के बाद इस सत्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत में विकेंद्रीकृत नियोजन की आवश्यकता है। लोक कल्याणकारी समाज की स्थापना के कारण बढ़ते हुए कार्यों के बोझ के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए केंद्र और राज्य सरकारों के समक्ष स्थानीय स्तर पर सत्ता और उत्तरदायित्व का विकेंद्रीकरण(नियोजन के क्षेत्र में) करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है। आज विकास के कार्यक्रमों से प्राप्त होने वाले लाभों में असमानता होने के कारण असंतोष की बढ़ती मांग के वातावरण में पंचायती राज संस्थाएं जो विकास कार्य में लगी हुई हैं, नियोजन प्रक्रिया को मजबूती प्रदान कर सकती हैं। नियोजन में जनता को सहभागी बनाकर ही निष्पादन के कार्य में कुशलता और निष्ठा प्राप्त की जा सकती है।

इतने लंबे काल के अनुभव और बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप विकेंद्रीकृत नियोजन के महत्व को स्वीकार करते हुए उसका क्रियान्वयन करना भी अब प्रारंभ कर दिया गया है। विकेंद्रीकृत नियोजन का दार्शनिक आधार है ग्राम/ब्लॉक तथा जिला स्तर पर नियोजन बनाना और उसे लागू करना। भारत के संदर्भ में इसका अभिप्राय केंद्र सरकार और कुछ सीमा तक राज्य सरकारों को नियोजन के संबंध में अपने कुछ दायित्व को कम करते हुए स्थानीय संस्थाओं(पंचायती राज संस्थाओं) को सौंपना है। ऐसा करने से नियोजन की प्रक्रिया स्थानीय स्तर तक पहुंचेगी तथा स्थानीय जनता की सहभागिता नियोजन के क्षेत्र में भी प्राप्त की जा सकती है। इससे यह स्मरणीय है की स्थानीय संस्थाएं नियोजन बनाने का कार्य केंद्र सरकार द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय नियोजन के उद्देश्य ढाँचों के अंतर्गत ही कर सकती हैं। विकेंद्रीकृत नियोजन में निर्णय लेने की शक्ति केंद्रीय सरकार में निहित होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विकेंद्रीकृत नियोजन में, नियोजन के कार्यों और सत्ता का हस्तांतरण है।

11.2.1 विकेंद्रीकृत नियोजन के गुण

आज के युग में विकेंद्रीकृत नियोजन की अवधारणा संपूर्ण विश्व में लोकप्रिय हो रही है। भारत में भी विशेष रूप से पंचायती राज व्यवस्था लागू होने के बाद इस दिशा में उचित कदम उठाए गए हैं। विकेंद्रीकृत नियोजन में निम्नलिखित गुण पाए जाते हैं-

1. **कार्यकुशलता-** विकेंद्रीकृत नियोजन में स्थाई संसाधनों के उपयोग के कार्यों में कार्यकुशलता बढ़ती है। इस व्यवस्था में लालफीताशाही के दोष कम हो जाते हैं और कार्य में किसी प्रकार का विलंब भी नहीं होता है।
2. **जन सहभागिता-** विकेंद्रीकृत नियोजन की प्रक्रिया में स्थानीय जन सहभागिता में वृद्धि होती है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत स्थानीय जनता अपने क्षेत्र के विकास संबंधी कार्यों में ना केवल रुचि लेती है, बल्कि

उन्हें पूर्ण करने में सहयोग भी प्रदान करती है। इस प्रकार की व्यवस्था के कारण आम जनता में इस प्रकार की भावना जागृत होती है कि यह कार्य भी उनका है और इस कार्य में हित भी उन्हीं का है। अतः स्थानीय जनता से अधिक से अधिक भागीदारी प्राप्त होती है। नियोजन की व्यवस्था में किसी भी योजना की सफलता के लिए यही सबसे अधिक महत्वपूर्ण पक्ष होता है। अतः निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है की विकेंद्रीकृत नियोजन की व्यवस्था को अपनाने का सबसे बड़ा लाभ सरकारी योजनाओं में जन सहभागिता की प्राप्ति है।

3. **लोचशीलता-** विकेंद्रीकृत नियोजन की व्यवस्था को अपनाए जाने का एक और लाभ यह भी होता है कि नियोजन कार्यों के संबंध में निर्णय लेने की काफी सीमा तक स्वतंत्रता रहती है। स्थानीय संस्थाएं और अधिकारी जिन लोगों के लिए कार्य करते हैं वे लोग स्वयं उनके निकट होते हैं। यही कारण है कि वह अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल नियोजन के लक्ष्य को प्राप्त करने में नवीन तरीकों को अपनाकर परिवर्तन भी कर सकते हैं। इस प्रकार स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार नियोजन में परिवर्तन करना अपेक्षाकृत सरल होता है।
4. **कार्य भार में कमी-** विकेंद्रीकृत नियोजन के अंतर्गत कार्य का हस्तांतरण स्थानीय क्षेत्र की संस्थाओं तक हो जाने के कारण केंद्र और राज्य सरकार दोनों ही के कार्यों एवं उत्तरदायित्व में कमी आती है और उनका कार्य भार कम हो जाता है ।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है की विकेंद्रीकृत नियोजन की अवधारणा भारत जैसे बड़े लोकतांत्रिक और विकासशील देश में अत्यधिक आवश्यक भी है और फलदायक भी है।

11.3 विकेंद्रीकृत नियोजन की भूमिका

जैसा कि आपने पिछले अध्ययनों में पढ़ा की भारतीय शासन व्यवस्था में विकेंद्रीकृत के बहुस्तरीय योजना (विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में) क्रमशः जिला स्तर, खंड स्तर तथा ग्राम स्तर पर उपस्थित होती है। देश में दिला आयोजन तंत्र विकेंद्रीकृत आयोजना का सर्वाधिक प्रचलित स्वरूप है। संविधान के 73वें संशोधन के द्वारा अनुच्छेद- 243 ZD के अंतर्गत गठित जिला आयोजना समिति (DPC) सार्थक भूमिका निभाने लगी है। जिला चूँकि एक सर्वसुलभ एवं ऐतिहासिक रूप से एवं व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त प्रशासनिक इकाई है। अतः जिले की भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक संदर्भों के अनुरूप भारतीय योजना निर्मित एवं क्रियान्वित की जा सकती है। विकेंद्रीकृत नियोजन के गुणों को तो हमने समझा परंतु फिर भी विकेंद्रीकृत नियोजन की आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय में भी महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, जिसे निम्नांकित बिंदुओं के आधार पर विस्तार से समझा जा सकता है-

1. संविधान की 'ग्यारहवीं एवं बारहवीं अनुसूची' में वर्णित कार्य या विषय मुख्यतः आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय से ही संबंधित है। पंचायती राज संस्थाओं हेतु वर्णित 29 कार्यों तथा नगरीय स्वशासन संस्थाओं हेतु दिए गए कार्यों में निर्धनता उन्मूलन, सामाजिक सेवाओं तथा सामुदायिक विकास कार्यों की ही प्रमुखता है। अतः स्पष्ट है कि यदि स्थानीय स्तर पर व्यवहारिक योजना निर्मित एवं क्रियान्वित होगी तो सफलता की संभावना भी अधिक ही रहेगी।
2. विभिन्न प्रकार के संसाधनों का सर्वेक्षण तथा उनका अधिकतम सदुपयोग सुनिश्चित करना 'नियोजन तंत्र' का एक महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक उद्देश्य होता है। इसी क्रम में स्थानीय स्तर पर अभी कल्पित योजनाएं तथा संघार संसाधन गतिशीलन विकास मार्ग को प्रशस्त कर सकते हैं।

3. विकास कार्यक्रमों में सामुदायिक या जनसहभागिता को बढ़ाने हेतु यह माना जाता है कि योजनाओं का विकेंद्रीकृत स्वरूप अपनाया जाए। अर्थात यदि स्वयं समुदाय द्वारा योजना निर्मित होगी तो उसका क्रियान्वयन भी बेहतर एवं प्रभावी ही होगा। ग्राम सभा का निर्णय राष्ट्रीय स्तर के योजना से संबंधित आयोग से अधिक प्रभावी माना जाता है।
4. 'सामाजिक अंकेक्षण' भी उन्हीं योजनाओं का अधिक सार्थक ढंग से हो सकता है जिनका निर्माण, क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन स्थानीय स्तर पर हो। ऐसा इसलिए, क्योंकि सामाजिक अंकेक्षण के विश्लेषण एवं प्रक्रिया में कोई भी अधिकारी उत्तर दिशा-निर्देशों की दुहाई देकर बच नहीं सकता है।
5. चूँकि भारतीय समाज के प्रमुख सामाजिक समस्याएं, जैसे- बाल विवाह, मृत्यु-भोज, अस्पृश्यता, पर्दा प्रथा तथा शोषण इत्यादि का सीधा संबंध सामाजिक तथा जातीय संरचना से ही है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि उनका समाधान भी स्थानीय स्तर पर चुनी गई सरकार के माध्यम से ही करवाया जाए।
6. सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास के लिए निर्मित होने वाली राष्ट्रीय नीतियों, कानूनों तथा कार्यक्रमों का स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप अन्य योजनाओं से समेकन करने से अधिक फलदाई परिणाम प्राप्त होने की संभावना रहती है।
7. आर्थिक नियोजन की प्रकृति 'केंद्रीकृत' है जबकि स्थानीय स्वशासन का स्वरूप विकेंद्रीकरण को प्रदर्शित करता है। अतः आर्थिक नियोजन के सुफल पाने हेतु यह आवश्यक है कि नियोजन को भी विकेंद्रीकृत कर दिया जाए ताकि नियोजन एवं स्थानीय स्वशासन के मध्य कोई विरोधाभास दिखाई ना दे।

लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की पर्याय पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से ही देश में गरीबी उन्मूलन एवं बेरोजगारी निवारण के क्रम में बहुत परिवर्तन आया है।

11.4 आधार स्तरीय नियोजन का अर्थ

जैसा कि आपने अब तक के विवरण से जाना, स्वतंत्रता के पश्चात आए परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप योजना की प्रक्रिया में भी बदलाव आया है। अब प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण के विभिन्न उपाय अपनाएं गए हैं, ताकि जनसंख्या का बड़ा भाग योजना की प्रक्रिया में भाग ले सकें। आधार स्तरीय योजना वह योजना होती है, जिसमें लोग स्वयं अपनी आवश्यकताओं और समस्याओं का प्राथमिकीकरण करते हैं और गांव तथा खंड के विकास के लिए योजनाएं बनाते हैं। लोगों की सहभागिता का अनुसरण करने के लिए प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण 1992 में 73वें और 74वें संविधान संशोधन के रूप में प्रभाव में आया। 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में पंचायती राज व्यवस्था को एक संवैधानिक दर्जा प्रदान किया, जिसके कारण पूर्व में उपस्थित व्यवस्था की बहुत सारी कमियों को समाप्त किया और इस नई व्यवस्था के कारण समाज के सभी वर्गों को उचित लाभ भी प्राप्त हुआ है। स्वतंत्र भारत में ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए समय-समय पर अनेकों प्रयास किए गए। इसी के तहत जब आजाद भारत में पहली पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया गया तो उसमें एक विशेष कार्यक्रम- सामुदायिक विकास कार्यक्रम(CDP) की शुरुआत की है। इस कार्यक्रम के तहत कृषि विकास को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया था। जनता की सहभागिता खंड स्तर संस्थाओं, ग्राम पंचायतों, ग्राम सभा आदि निम्न स्तर की संस्थाओं के माध्यम से जनता की सहभागिता प्राप्त करने का प्रयास किया गया। परंतु फिर भी सामुदायिक विकास कार्यक्रम अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में आज सफल रहा इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि यह संस्थाएं जनता में सरकारी प्रयासों के प्रति जनता का अपनत्व या सहभागिता नहीं प्राप्त कर सका। आधार स्तर पर उपस्थित यह संस्थाएं बिना किसी वैधानिक समर्थन के वृहद रूप से स्वयंसेवी थी। ग्रामीण विकास से संबंधित परियोजनाओं पर अत्यधिक मात्रा में धन खर्च करने के पश्चात भी अपेक्षित उद्देश्यों को प्राप्त करने में यह संस्थाएं असफल ही रही। योजना प्रक्रिया में स्वयं के विकास के लिए ग्रामीण लोगों का सम्मिलित होना अत्यधिक आवश्यक था। धरातल

पर स्थित जनसमूह के लिए कार्यक्रमों और नीतियों में उपस्थित कमियों को सुधारने के उद्देश्य से योजना निर्माण के प्रतिमान में भी बदलाव लाने की आवश्यकता थी और वह लाया भी गया। यही आधार पर यह योजना के अंतर्गत विषय वस्तु भी है।

आधार पर यह नियोजन को खंड और ग्राम के निम्न स्तरीय योजना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह एक ऐसा नियोजन है जहां लोग समाज के विभिन्न वर्गों से एकत्रित होते हैं और हस्तक्षेप के क्षेत्रों को वरीयता के आधार पर सूचीबद्ध भी करते हैं,उपलब्ध संसाधनों का आकलन करते हैं और उत्तरदायित्व को आपस में बैठकर अपने समुदाय के विकास के लिए योजनाओं को बनाते हैं, क्रियान्वित करते हैं और उनका निरीक्षण भी करते हैं। आधार स्तर की विशेषता होती है कि, वहां पर भी अन्य स्तरों की भांति सूचनाओं और संसाधनों के प्रवाह की एक श्रंखला होती है। सूचनाओं और संसाधनों का यह प्रवाह केंद्र से राज्य, राज्य से जिला, जिला से खंड और खंड से ग्राम की तरफ होता है। चूँकि आधार स्तरीय नियोजन एक विकेंद्रीकृत योजना है। अतः इसमें आधार पर पर लोग ना केवल अपने समुदाय के लिए योजना बनाने के लिए अधिकृत होते हैं, बल्कि उन्हें संसाधनों को प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल करने और पूरी प्रक्रिया का निरीक्षण करने का भी अधिकार प्राप्त होता है। केंद्र से राज्यों में, राज्यों से जिलों और जिलों से गांव के अंदर के क्षेत्रों में शक्तियों का विकेंद्रीकरण योजना की केंद्रीकृत व्यवस्था को पुनर्गठित करने का सबसे बेहतर उपाय है। नियोजन की केंद्रीकृत व्यवस्था से आम जनता उन सरकारी योजनाओं के प्रति भी आश्रित एवं उदासीन बन जाती है जो उन्हीं के कल्याण एवं विकास के लिए बनाई जाती हैं। वही विकेंद्रीकरण लोगों को समर्थन, लोगों की सहभागिता को बढ़ाने एवं उनके कार्य कुशलता में वृद्धि जैसे उपयोगी परिणाम देता है। प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की व्यवस्था के अंतर्गत जिसमें ग्रामीण स्तर पर उपस्थित इकाइयां पंचायती राज के नाम से जानी जाती है, ग्रामीण लोग ग्राम पंचायत के सदस्यों का चुनाव करते हैं और यह निर्वाचित सदस्य उस ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिए विभिन्न कार्यक्रमों और योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदाई होते हैं। ग्राम पंचायत के अतिरिक्त ग्राम सभा जैसा संगठन भी प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की व्यवस्था में बहुत महत्वपूर्ण होता है। ग्राम सभा के द्वारा ही उस ग्राम के विभिन्न सदस्य ग्रामीण विकास से संबंधित कार्यक्रमों को निर्मित करने, उन पर नजर रखने तथा उनका निरीक्षण और मूल्यांकन करने की प्रक्रिया में भी भाग लेते हैं और इस प्रकार प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की एक महत्वपूर्ण विशेषता यही बन जाती है कि इसके तहत योजना निर्माण और क्रियान्वयन की पूरी प्रक्रिया में समाज के सभी वर्गों का समर्थन और सहयोग शामिल होता है। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की विफलता का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि इसमें समाज के कमजोर वर्ग के लोग निर्णय निर्माण प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं हुए थे। सामुदायिक विकास कार्यक्रम उन लोगों में वह रुचि जागृत नहीं कर सका था। आधार स्तरीय योजना का तंत्र विकसित होने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी बन गया था कि इसके द्वारा इन सभी अपेक्षित और कमजोर वर्ग के लोगों को भी योजना का एक अंग बनने का कानूनी अधिकार प्रदान किया गया।

11.5 पंचायती राज व्यवस्था एवं आधार स्तरीय नियोजन

आज इस बात को सार्वभौमिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि स्थानीय समस्याओं का समाधान स्थानीय स्तर पर ही किए जाने की आवश्यकता है। केंद्र या राज्य की नहीं अपितु एक संपूर्ण जिले के लिए भी एक ही नीति कारगर हो यह आवश्यक नहीं है। विभिन्न परीक्षाओं का अवलोकन करके इस बात को और भली-भांति समझा जाता है। जैसा कि आपने उपरोक्त वर्णन में जाना होगा कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम(1952) ग्रामीण समुदाय के सामाजिक और आर्थिक जीवन को बदलने के उद्देश्य से प्रारंभ किया गया था। परंतु यह कार्यक्रम लोगों लोकप्रिय नहीं हो सका और ना ही प्रभाव से जन सहभागिता को प्राप्त कर पाया। जब सामुदायिक विकास कार्यक्रम की आलोचना होने लगी और भारतीय संसद में भी इस पर चर्चा हुई कि, यह अपने तो सरकार ने इस

व्यवस्था में सुधार करने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाना तय किया तथा योजना आयोग की आयोजन-परियोजना समिति ने जनवरी 1957 में सामुदायिक परियोजनाओं तथा प्रसार सेवा के अध्ययन हेतु बलवंत राय गोपाल राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की। इस समिति को बलवंत राय मेहता समिति के नाम से जाना जाता है। इस मेहता समिति ने भारत के विभिन्न राज्यों के चुने हुए विकास खंडों का निरीक्षण किया तथा विकास खंडों में कार्यरत व्यक्ति जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित थे उनसे विचार-विमर्श तथा वार्ता भी की। तत्पश्चात बलवंत राय मेहता समिति ने पंचायती राज के त्रिस्तरीय ढांचे का सुझाव दिया। समिति द्वारा सुझाए गए त्रिस्तरीय ढांचे के अंतर्गत ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, खंड स्तर पर पंचायत समिति तथा जिला स्तर पर जिला परिषद जैसी संस्थाओं की स्थापना करना था। इस समिति का यह मानना था कि ग्रामीण क्षेत्रों के पूर्ण विकास के लिए पंचायती राज प्रणाली को लागू किया जाना चाहिए। और इस प्रणाली के अंतर्गत इन क्षेत्र में रहने वाले लोगों द्वारा प्रजातांत्रिक प्रणाली अनुसार निर्वाचित संस्थाएं स्थापित की जाए जो क्षेत्र की जनता के प्रति उत्तरदाई हो। इस प्रकार समिति ने अपनी इस त्रिस्तरीय व्यवस्था के अंतर्गत राज्य से नीचे के स्तरों पर शक्ति तथा उत्तरदायित्व का विकेंद्रीकरण कर दिए जाने की सिफारिश की थी। और राज्य से नीचे के स्तरों पर उत्तरदायित्व तथा शक्ति का विकेंद्रीकरण किए जाने का सुझाव दिया। पंचायती राज की यही अवधारणा प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण कहलाने लगी। इस व्यवस्था के अंतर्गत पंचायती राज संस्थाओं को अपने क्षेत्र के लिए विकास की योजनाओं को बनाने और उन्हें लागू करने की शक्ति प्राप्त हो गई। अनेक राज्यों में इस कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार किया परंतु इन सभी राज्यों में भी पंचायती राज व्यवस्था एक समान नहीं थी। यहां पदाधिकारियों और राज्य स्तर के राजनीतिज्ञों के बीच इस व्यवस्था के प्रति उदासीनता थी। पंचायत के सदस्यों की शक्तियां भी सीमित थी। इन संस्थाओं को अकारण ही भंग कर दिया जाता था और चुनाव भी बहुत अनियमित थे। इसी सब के परिणाम स्वरुप 1965 के पश्चात पंचायती राज व्यवस्था लुप्त प्राय होने लगी। 1977 से 1988 के बीच कई समितियां और उप समितियां पंचायती राज संस्थाओं की जांच पड़ताल करने, इनकी कमजोरियों का पता लगाने और इन्हें प्रभावशाली बनाने के लिए सलाह देने हेतु निर्मित की गई। अशोक मेहता समिति(1977), जी.वी.के. राव समिति(1985), एल. एम. सिंघवी समिति(1986), आदि कई ऐसी समितियां बनी जिन्होंने पंचायती राज व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया और कुछ सुझाव भी दिए। इन सभी समितियों के द्वारा सुझाए गए पंचायती राज व्यवस्था के प्रस्तावित रूप और गठन में बहुत अंतर था। परंतु इन सभी समितियों ने पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक मान्यता प्रदान करने की सिफारिश तथा पांच वर्षों की निश्चित अवधि और अनुसूचित जाति/जन जनजाति और महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था के बारे में अवश्य रूप से सुझाव दिया था।

इस प्रकार इतनी सारी समितियों की सिफारिशों के बाद 24 अप्रैल 1993 को 73वें संवैधानिक संशोधन अधिनियमके द्वारा पंचायती राज संस्थाओं की शक्तियों उत्तरदायित्व और वित्त को संवैधानिक मंजूरी प्रदान की गई। इसमें कोई संख्या नहीं है कि पंचायती राज की संस्था संवैधानिक संशोधन से पूर्व भी अस्तित्व में थी परंतु महत्वपूर्ण यह था कि तब उनके पास निर्णय लेने की वास्तविक शक्ति अधिकार नहीं था और ना ही अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए कोई वित्तीय अथवा वैधानिक अधिकार नहीं थे। इस अधिनियम ने पंचायत के निर्वाचित सदस्यों को अधिक वृहद भूमिका निभाने हेतु अधिकारों एवं उत्तरदायित्व की व्यवस्था की है। अब पंचायत संस्थाओं के पास कार्यकारी, नियामक, प्रशासकीय और विकास संबंधी कार्यो की शक्तियां विद्यमान है। इस संशोधन अधिनियम के द्वारा एक ऐसी अनिवार्य व्यवस्था जिसने नए पंचायती राज प्रशासन के ढांचे को आधार दिया है वह है- ग्राम सभा की स्थापना, जिसमें गांव के सभी मतदाता शामिल होते हैं। ग्राम सभा में उस ग्राम पंचायत क्षेत्र के,सभी वयस्क सदस्य जो मतदाता होते हैं, स्वत: ही सदस्य बन जाते हैं। उस क्षेत्र का प्रत्येक वयस्क नागरिक ग्राम सभा के माध्यम से नीचे के स्तर की योजना में भाग ले सकता है। ग्राम सभा को योजना में भाग लेने का, क्रियाकलापों का निरीक्षण करने के साथ-साथ अपने क्षेत्र में कार्यान्वित कार्यक्रमों के

वित्तीय स्थिति के निरीक्षण का भी अधिकार प्राप्त होता है। ग्राम पंचायत अपने सारे कार्यकलापों के लिए ग्रामसभा के प्रति उत्तरदाई होती है। निम्न स्तरीय पंचायत की कार्यवाही यों के ऊपर ग्रामसभा एक सजग प्रहरी की तरह नजर रखती है।

11.6 पंचायती राज संस्थान द्वारा आधार स्तरीय योजना की प्रक्रिया

अब तक आपने आधार स्तर की योजनाओं की ढांचागत व्यवस्था के तौर पर पंचायती राज संस्थाओं के बारे में जाना और समझा। अब इसके बाद आइए इस तरह की योजना की प्रक्रिया को भी समझते हैं। पंचायती राज व्यवस्था की आधारभूत इकाई ग्राम पंचायत के सदस्य अपनी बैठक के नियमित रूप से आयोजित करते हैं। इन बैठकों की आवृत्ति के बारे में संबंधित राज्यों के पंचायती राज अधिनियमों में स्पष्ट रूप से वर्णन किया जाता है। प्रत्येक राज्य में यह अलग-अलग होती है, परंतु औसतन महीने में एक बार ग्राम पंचायत की बैठक अवश्य होती है। ग्राम पंचायतों की बैठक में जो कि या तो पंचायत भवन में या उस पंचायत सर्किल के किसी भी गांव के किसी मुख्य स्थान पर आयोजित होती है। बैठक की गणपूर्ति के रूप में दो तिहाई सदस्यों की उपस्थिति की आवश्यकता होती है। ग्राम पंचायत के निर्वाचित सदस्य, विभिन्न समितियों के द्वारा विकास के कार्यों की योजना बनाने एवं उसे क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व आपस में उसी प्रकार से बांट लेते हैं, जिस प्रकार से संबंधित पंचायती राज अधिनियम में उल्लेखित होता है। ठीक इसी प्रकार से खंड स्तर के साथ-साथ जिला स्तर पर भी बैठक आयोजित की जाती हैं, विभिन्न विषयों पर निर्णय लिए जाते हैं। यहां ध्यान रखने योग्य बात यह है कि बैठकों में लिए जाने वाले निर्णय तभी मान्य होते हैं जब उस बैठक की गणपूर्ति पूरी हुई होती है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो बैठक पुनः बुलाई जाती है और बहुमत के आधार पर निर्णय लिया जाता है। पंचायती राज संस्थाओं की त्रिस्तरीय संस्थाओं के अतिरिक्त ग्राम सभा की भूमिका भी इस संबंध में बहुत महत्वपूर्ण होती है। ग्राम सभा गांव के विकास की परियोजना/कार्यक्रम बनाने में सहायता करती है कार्यक्रम बनाने में सहायता करती है और ऐसी परियोजनाओं के क्रियान्वयन का पर्यवेक्षण भी करती है। ग्राम सभा को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह ग्राम पंचायत के क्रियाकलापों का निरीक्षण कर सकती है। यह गांव के विकास से संबंधित कार्यक्रमों की प्रगति का मूल्यांकन भी करती है। ग्राम पंचायत को ग्राम सभा के सामने वर्तमान और प्रस्तावित परियोजनाओं की प्रगति का विवरण रखना आवश्यक होता है। निर्वाचक ओं की यह सभा ग्राम सभा वर्तमान और प्रस्तावित वर्ष के लिए किए गए व्यय का आंकलन करती है। वार्षिक हिसाब किताब और पूर्ववर्ती वर्ष के प्रशासकीय विवरण की जांच-पड़ताल भी करती है। यदि किसी भी परिस्थिति में ग्राम सभा का कोई निर्णय लागू नहीं हो पाया होता है तो ऐसी स्थिति में सभापति अथवा सरपंच ग्राम सभा के समक्ष इसका कारण का विवरण देने के लिए बाध्य होता है। ग्राम पंचायत, खंड पंचायत और जिला पंचायत ग्राम सभा के सुझावों को पर्याप्त महत्व देती है। ऐसा करना उनके लिए आवश्यक भी है क्योंकि इसका वर्णन 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में बताया गया है। ग्रामसभा को इसके अतिरिक्त यह भी अधिकार है कि वह किसी भी विषय अथवा कार्यक्रम की विस्तार से चर्चा करने के लिए और अपने निर्णय और योजनाओं के प्रभावशाली कार्यान्वयन एवं अपने अधिकारों एवं उत्तरदायित्व की सहायता के लिए, सामान्य अथवा विशिष्ट उप समितियों की नियुक्ति, निर्वाचन या उनका संगठन भी कर सकती है।

11.7 निष्कर्ष

आधार स्तरीय नियोजन को प्रोत्साहित करने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम एवं पंचायतीराज संस्थाओं के उद्देश्यों की विवेचना करने के पश्चात यह बात स्पष्ट है कि यद्यपि आधार स्तरीय नियोजन के लिए यह महत्वपूर्ण संस्थाएं स्थापित की गई हैं, परंतु फिर भी विकेंद्रीकृत नियोजन व्यवहार में परिणित नहीं हो सका है बल्कि धीरे-धीरे इसका पतन हीं हो रहा है। इसके कारणों का विश्लेषण भी किया जाना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न-

1. विकेंद्रीकृत नियोजन का प्रमुख उद्देश्य क्या था?
2. विकेंद्रीकृत नियोजन के कोई दो गुण बताइए।
3. सामुदायिक विकास कार्यक्रम की शुरुआत कब की गई थी?
4. बलवंत राय मेहता समिति की स्थापना कब हुई?
5. पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक मंजूरी कब प्राप्त हुई?

11.8 सारांश

73वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण चरण है। प्रजातांत्रिक विकेंद्रीकरण के माध्यम से नीचे से ऊपर की योजना की आवश्यकता को समझा गया है। आधार पर योजना में लोगों की सहभागिता को संस्थागत करने के लिए, ही 1992 में 73वें व 74वें संवैधानिक संशोधन किए गए थे। ग्राम सभा नई पंचायती राज व्यवस्था का अत्यधिक आवश्यक एवं क्रियाशील घटक है। ग्रामसभा के माध्यम से आम व्यक्ति भी अपने समुदाय की योजना प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग ले सकता है। साथ ही ग्राम सभा उत्तरदायित्व एवं पारदर्शिता को सुमित भी करती है। ग्राम पंचायत की संस्थाओं को सामाजिक आर्थिक विकास क्षेत्र की विशेष समस्याओं और आवश्यकताओं को समझने और समझने में ग्राम सभा की सलाह देनी आवश्यक है। ग्रामसभा की सलाह से ही पंचायत अपने क्षेत्र कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं की योजना बनाने एवं लागू करने का काम करती है।

11.9 शब्दावली

समेकन- मिलकर एक हो जाना। सामाजिक अंकेक्षण- जहाँ संभावित तथा विधिक लाभार्थी किसी कार्यक्रम के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करते हैं तथा इस प्रयोजनार्थ आधिकारिक रिकॉर्ड से जमीनी वास्तविकता की तुलना की जाती है।

11.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. जन सहभागिता, **2.** कार्य कुशलता और जन सहभागिता, **3.**1952, **4.**1957, **5.** 24 अप्रैल,1993

11.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. कटारिया, सुरेंद्र 2008, कार्मिक प्रशासन; आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स: जयपुर।
2. शर्मा, अनिल कुमार, 2006, लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार; ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. अवस्थी एवं अवस्थी, 2014, भारत में लोक प्रशासन; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
4. अवस्थी एवं अवस्थी, 2016, भारतीय प्रशासन; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

11.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शर्मा, के. के. 2007, भारत में पंचायती राज्य; कॉलेज बुक डिपो, नई दिल्ली।
2. अवस्थी, माहेश्वरी, 2002, भारत में पंचायती राज, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा।
3. कटारिया, सुरेंद्र, 2005, भारतीय लोक प्रशासन, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, जयपुर।

11.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. आधार स्तरीय नियोजन की विस्तार से विवेचना कीजिए।

2. विकेंद्रीकृत नियोजन के गुणों को विस्तार से समझाइए।
3. आधार पर यह योजना एवं पंचायतीराज संस्थाओं पर एक विस्तृत लेख लिखिए।

ईकाई- 12 सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र और विकास

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र (उद्यम)- अर्थ
 12.2.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास
 12.2.2 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्य
 12.2.3 सार्वजनिक क्षेत्र (उद्यम) का विस्तार और अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव
12.3 सारांश
12.4 शब्दावली
12.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची
12.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.8 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

संसार के प्रायः सभी देशों में सरकारी उद्यम की व्यवस्था की गई है। कई देशों में अर्थशास्त्रियों, प्रशासकों और विश्लेशकों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र और सार्वजनिक अद्यम शब्द का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर किया जाता है। लोक प्रशासन का एक सार्थक गुण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सरकार का आर्थिक क्षेत्र में बढ़ता हुआ हस्तक्षेप है। अब राज्य का लक्ष्य सभी नागरिकों का कल्याण करना है, यही उसके लोक कल्याणकारी स्वरूप को दर्शाता है। अब राज्य मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगा है। उसका अधिकार उत्पादन के साधनों और विविध उद्योगों पर भी बढ़ता जा रहा है। उद्यमों पर भी सरकार का नियंत्रण स्थापित होता जा रहा है जिसे सरकारी उद्यम (State enterprise) के नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए हथियारों और गोला-बारूद का निर्माण और देश की रक्षा के लिए उससे सम्बंधित गतिविधियाँ राज्य के कार्यकलाप का एक अनिवार्य अंग रही है। इसका उदाहरण हमे प्राचीन काल में महान विद्वान कौटिल्य द्वारा रचित ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में भी मिलता है। 'अर्थशास्त्र' में उल्लेख है कि विभागीय अध्यक्ष सिक्का-गढ़ाई और अन्य आर्थिक गतिविधियों को देखते थे।

औद्योगिक क्रांति के आगमन और इसके विस्तार के कारण विश्व के कुछ देशों ने पूंजीपतियों या निजी उद्योगों के माध्यम से अपना औद्योगिक विकास किया है जबकि पूर्ववर्ती सोवियत संघ तथा चीन जैसे समाजवादी देशों ने सरकारी उपक्रमों के माध्यम से अर्थव्यवस्था को संचालित करना श्रेयस्कर समझा है। वहीं स्वतंत्रता के पश्चात भारत में विशुद्ध रूप से किसी एक प्रणाली को अपनाने के बजाय मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग चुना। भारत जैसे विकासशील देश में, सार्वजनिक क्षेत्र एक विकल्प के रूप में नहीं बल्कि व्यापक तौर पर एक आवश्यकता है।

इस इकाई के अंतर्गत हम सार्वजनिक क्षेत्र तथा सार्वजनिक उद्यम के अर्थ को समझायेंगें साथ ही साथ भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर चर्चा करेंगे। इस इकाई में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्यों के विषय में भी चर्चा की जायेगी और सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार और अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव की विशेष महत्व के साथ चर्चा की जायेगी।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र (उद्यम) के अर्थ की व्याख्या कर सकेंगे।
- भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास पर चर्चा कर सकेंगे।
- सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्यों को समझ सकेंगे; और
- सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार और अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

12.2 सार्वजनिक/सहकारी क्षेत्र (उद्यम)- अर्थ

'सार्वजनिक क्षेत्र' शब्द का प्रयोग अलग-अलग पृष्ठभूमि के लोगों द्वारा विभिन्न संदर्भों में इस्तेमाल किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के महत्व पर अत्यधिक साहित्य उपलब्ध होने के बावजूद भी, सार्वजनिक क्षेत्र, सार्वजनिक उद्यम, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम, राजकीय उपक्रम, राष्ट्रीयकृत उद्योग आदि का अर्थ अब भी अस्पष्ट और विविध बना हुआ है। हम इसे सरल शब्दों में समझने का प्रयास करते है।

व्यापक अर्थों में सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) में सरकार की समस्त अर्थिक गतिविधियाँ शामिल होती है। इसका उपयोग सार्वजनिक उद्यम (Public enterprise) लोक निगम (Public Corporations), सरकार द्वारा नियंत्रित उद्यम (Government Controlled Enterprise) राज्य के स्वामित्व वाले उद्यम (State owned enterprise) सार्वजनिक उपक्रम (Public undertaking) या सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम (Public Sector undertaking) या महज/केवल राज्य उद्यम या उपक्रम (State Enterprise or undertaking) के लिए किया जाता है, लेकिन वास्तव में ये एक ही शब्द के पर्यायवाची है।

कई देशों में अर्थशास्त्रियों, प्रशासकों और विश्लेषकों द्वारा 'सार्वजनिक क्षेत्र'(Public Sector) और 'सार्वजनिक/लोक उद्यम' (Public Enterprise) शब्द का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर किया जाता है।

सार्वजनिक उद्यम (Public Enterprise) दो शब्दों के मेल से बना है- सार्वजनिक/लोक और उद्यम (Public and Enterprise)

स्वतंत्रा के पश्चात् भारत ने विशुद्ध रूप से मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग चुना जैसा कि हम पहले चर्चा कर चुके है, जिसमें सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्र विद्यमान होते है। इसी क्रम में जहाँ कुछ क्षेत्रों, यथा-कृषि, लघु उधोग, वस्त्र तथा आम उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में निजी उघमियों का बोलबाला है तो रेवले, डाक-तार, अणु ऊर्जा तथा रक्षा सामग्री उत्पादन इत्यादि में सरकारी उपक्रमों का वर्चस्व बनाए रखा गया है। इसके अलावा बैकिंग, बीमा, वित्तीय और अन्य लोक सेवाएं जैसे- शिक्षा, लोक स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, यातायात और संचार आदि भी सार्वजनिक क्षेत्र में आ जाते है। सरकारी उद्यमों का प्रबंध करने के लिए कई प्रकार के प्रशासकीय संगठन देखने को मिलते है; जैसे- विभागीय प्रबंध, संयुक्त पूँजी कम्पनी, मिश्रित संयुक्त पूँजी कम्पनी, संचालन ठेका एवं लोक निगम। दूसरी ओर, सार्वजनिक उद्यमों में मुख्य ध्यान की बात यह है कि सार्वजनिक उद्यम में, उसके द्वारा दिए गए सामान और सेवाओं की कीमत ली जाती है। इस कीमत में पूरी लागत वसूल होती है या नहीं, लेकिन लक्ष्य यह रहता है कि समूचे उद्यम को कम से कम "घाटा" और लाभ बराबर" वाली स्थिति में होना चाहिए। इसलिए, सामाजिक सेवाएँ, सरकार के प्रशासनिक काम सार्वजनिक उद्यम में नहीं लिए जाते, जबकि रेल सेवा, डाक सेवा और संचार जैसी सार्वजनिक उपियोगिता की सेवाओं को सम्बन्धित विभागों द्वारा प्रबंधित होने के बावजूद सार्वजनिक उद्यम कहा जाता है, क्योंकि लक्ष्य एक अवधि में बराबर वाला "घाटा और लाभ" होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ प्रकाशन के अनुसार, "सार्वजनिक उद्यम का अभिप्राय है राज्य द्वारा संचालित उद्यम विशेष रूप से औद्योगिक, कृषि या वाणिज्यिक, जिस पर राज्य का स्वामित्व पूर्ण या आंशिक होता है।" इस परिभाषा में दो तत्वों पर बल दिया गया है- उद्धम की आर्थिक प्रकृति और राज्य द्वारा स्वामित्व।

खेरा के अनुसार, ''लोक उद्यम से आशय औद्योगिक, व्यापारिक एवं आर्थिक क्रियाओं से है जो केन्द्रीय या राज्य सरकारों द्वारा सामूहिक रूप से सम्पादित की जाती है तथा प्रत्येक मामले में स्वयं या निजी उद्यम के सहयोग से पूर्ण प्रबन्ध के अधीन होती है।''

संक्षेप में, सार्वजनिक क्षेत्र में वृहद/व्यापक अर्थों में सरकार की सारी आर्थिक गतिविधियाँ आ जाती हैं, जबकि सार्वजनिक उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र की वे विशिष्ट प्रकार की संस्थाएँ या प्रतिष्ठान होते हैं, जिसका सम्बन्ध ऐसे औद्योगिक, वाणिज्यिक एवं व्यापारिक उद्योगों या सेवाओं से है जिनका स्वामित्व, प्रबन्ध एवं नियंत्रण केन्द्र, राज्य अथवा स्थानीय सरकार या किसी सार्वजनिक संस्था में निहित है।

12.2.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास

आदिकाल से ही भारत औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध देश रहा है। अतः रेशम, वस्त्र, लोहा, आभूषण, हथियार, मसाले, बर्तन तथा राजकीय मुद्रा इत्यादि महत्वपूर्ण उद्योग किसी न किसी रूप में राजा के नियत्रंण में रहे है। जिसका सटीक उदाहरण कौटिल्य द्वारा रचित पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में मिलता है। ब्रिटिशकालिन भारत में उद्योग के राज्य द्वारा संचालन और स्वामित्व का उल्लेख सबसे पहले 1888 के भारतीय वित्त आयोग की प्रतिवेदन में मिलता है। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की थी की बार-बार पड़ने वाले अकालों के उपचार या निदान के रूप में उद्योगों को विकसित किया जाए। आयोग ने नए उद्योग स्थापित करने के लिए सरकारी मद्द की आवश्यकता पर भी जोर दिया था। अपने दिए गए सुझाव में आयोग ने यह भी स्पष्ट किया था कि सरकार को चीनी, सूती वस्त्र, ऊन, कागज, बर्तन, रेशम एवं शीशा आदि का निर्माण भी करना चाहिए। इसी क्रम में 1904 में प्रकाशित भारतीय उद्योग आयोग की रिपोर्ट में भी सरकार की औद्योगिक विकास नीति के प्रावधानों को सीमित रखा। 1905 में, सरकार द्वारा एक वाणिज्य एवं उद्योग विभाग की स्थापना की गई और यह आशा की गई थी कि इसके तहत सार्वजनिक क्षेत्र को चालू किया जाएगा। इस दिशा में कुछ कदम भी उठाए गए लेकिन यूरोपीय समुदायों द्वारा इसका विरोध किया गया ताकि राज्य का हस्तक्षेप अद्योगों पर ना रहे।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत की औद्योगिक क्षमताओं को विकसित करने के मकसद से 1916 में औद्योगिक वित्त निगम की नियुक्ति की गई इस निगम ने सिफारिश की थी कि सरकार की औद्योगिक विकास में सक्रिय भूमिका सुनिश्चित हो। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात इस प्रवृत्ति में और अधिक तेजी आई। उद्योगों एवं सेवाओं के स्वामित्व, कार्य-संचालन या नियमन के रूप में सक्रिय सरकारी हस्तक्षेप आज एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है।

सन् 1931 के कराची अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वाराज्य के लक्ष्य के आर्थिक एवं सामाजिक तत्वों को विश्लेषित करते हुए यह निश्चित किया कि मुख्य उद्योगों तथा सेवाओं, खनिज स्रोतों, रेलवे, जहाजरानी तथा सार्वजनिक महत्व के अन्य साधनों पर राज्य द्वारा नियंत्रण किया जाएगा। इसके पश्चात 1934 में सर एम0 विश्वेश्वरैया ने 'भारत के लिए आर्थिक नियोजन' नामक अपनी पुस्तक में इसका प्रारूप प्रस्तुत किया। इसी क्रम में भारत सरकार अधिनियम 1935 के अधीन उद्योग का विकास प्रान्तों का मामला हो गया और केन्द्र के पास केवल निर्देश और तकनीकी शिक्षा देने का अधिकार रह गया। प्रान्तीय सरकारों के पास न तो पर्याप्त अनुभव, न ही सांगठनिक कोष, पहल करने की क्षमता और ना ही रचनात्मकता थी, अतः प्रान्तों में उद्योग विभागों के बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया गया।

इसके पश्चात शीघ्र ही 1937 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस ने राष्ट्रीय नियोजन समिति की स्थापना की। इस समिति ने राष्ट्रीय नियोजन के सिद्धान्तों एवं ष्भारतीय राष्ट्रीय योजना के लिए प्रशासकीय मशीनरी पर प्रतिवेदन देने हेतु दो उपसमितियों की स्थापना की। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के कारण समिति तथा इसकी दो उपसमितियों की रिपोर्ट सन् 1948 में प्रस्तुत हो सकी। इन सभी प्रतिवेदनों में प्रमुख उद्योगों के

राष्ट्रीयकरण की अनुशंसा की गई थी। हांलाकि ब्रिटिश शासन के दौरान विभागीय संगठनों के रूप में सिक्योरिटी प्रिटिंग प्रेस, गन फैक्ट्री तथा मझगाँव डॉक इत्यादि कई लोक उपक्रम स्थापित किए गए थे, परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत ने 1947 में ब्रिटिश सरकार से सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) छोटी मात्रा में उत्तराधिकार में प्राप्त किया था।

स्वतंत्रता के समय भारत में केवल एक राष्ट्रीय स्तर का 'लोक निगम'(Public Corporation) था। यह सन् 1935 में स्थापित भारतीय रिजर्व बैंक था। स्वतंत्रा के पश्चात भारत के सामने विभिन्न प्रकार की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ थी, इन समस्याओं के निवारण हेतु सार्वजनिक क्षेत्र को प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया था इसलिए आर्थिक गतिविधियों में राज्यों का हस्तक्षेप आवश्यक था, जिससे देश की आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करने और एक स्वस्थ कृषि और औद्योगिक आधार बनाने में मदद् मिली।

देश के प्रथम प्रधानमंत्री के नेतृत्व में 6 अप्रेल, 1948 में घोषित प्रथम औद्योगिक नीति में कहा गया है कि भारत मिश्रित अर्थव्यवस्था का मार्ग अपनाएगा। इस नीति के अनुसार अस्त्र-शस्त्र निर्माण, आणविक ऊर्जा उत्पादन एवं नियंत्रण तथा रेलवे यातायात प्रबन्ध पर सरकार का एकाधिकार स्थापित किया गया जबकि कोयला, खनिज तेल, लोहा एवं इस्पात, वायुयान निर्माण, जहाज निर्माण, टेलीफोन, तार एवं बेतार के यंत्रों के निर्माण (रेडियो के अतिरिक्त) का अधिकार 10 वर्ष के लिए निजी कम्पनियों के हाथों में रहने देने का निर्णय हुआ। इन क्षेत्रों में नए उद्यमों की स्थापना राज्य का पूर्ण दायित्व माना गया। शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खुले रखे गए, लेकिन उन्हें इस प्रावधान के साथ छोड़ा गया कि राज्य भी उत्तरोत्तर इस क्षेत्र में भागीदारी करेगा और जहाँ निजी उधम के तहत उद्योगों की प्रगति संतोषजनक नहीं होगी वहाँ वह हस्तक्षेप करने से नहीं हिचकेगा। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 39 के अनुसार, यह राज्य का कर्तव्य है कि वह अपनी नीति इस प्रकार निदेशित करे कि देश के भौतिक साधनों का स्वामित्व व नियंत्रण एवं वितरण इस प्रकार हो कि वह लोक-कल्याण में सहायक हो और यह कि ''आर्थिक व्यवस्था के संचालन के परिणाम स्वरूप संपदा और उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण ऐसा न हो जिससे लोक हित का अहित हो।'' इसलिए यह स्पष्ट है कि स्वतंत्र भारत में देश के औद्योगिक विकास की रीढ़ सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों ने तैयार की इस तरह देश में सार्वजनिक क्षेत्र की विस्तृत भूमिका स्वाधीनता के बाद काफी मजबूत हो गयी थी।

सन् 1956 में नवीन औद्योगिक नीति प्रस्ताव की घोषणा की गई जिसके आधार पर कई लोक उद्यमों को स्थापित किया गया; उदाहरणार्थ- जीवन बीमा निगम, शिपिंग कार्पोशन ऑफ इण्डिया लि0, हैवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन लिमिटेड, इण्डियन आयल लिमिटेड, भिलाई, दुर्गापुर तथा राउरकेला के इस्पात कारखाने इत्यादि।

सन् 1966 से 1969 के मध्य भी कई लोक उद्योगों को स्थापित किया गया; जैसे- टूल्स कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया, नेशनल टेक्सटाइल्स कार्पोरेशन, इण्डियन पेट्रो केमिकल्स कार्पोरेशन इत्यादि। इसी क्रम मे सन् 1969 में बैंको का राष्ट्रीयकरण कर क्रान्तिकारी कदम उठाया गया। सन् 1971 में तीसरी बार औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। सन् 1966 में 'हजारी समिति' ने पूर्व की नीतियों का मूल्यांकन प्रस्तुत कर दिया था। इसी प्रकार सन् 1967 में औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली पर 'सुविमल दत्त समिति भी रिपोर्ट दे चुकी थी। नई औद्योगिक नीति में महत्वपूर्ण उद्योगों को छोड़ शेष में विदेशी कम्पनियों को पूंजी निवेश की अनुमति प्रदान की गई। पटसन, गन्ना तथा अन्य जनपयोगी कृषि उत्पादन में सहकारी क्षेत्र को प्राथमिकता प्रदान की गई।

सन् 1977 में प्रथम बार गैर कांग्रेसी सरकार केन्द्र में सत्तारूढ़ हुई। केन्द्र में जनता दल के सत्ता में आने से औद्योगिक नीति में महत्वपूर्ण संशोधन किए गए। 1977 की औद्योगिक नीति में भी विभिन्न क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए और भी बड़ी भूमिका पर विचार किया गया। जहाँ एक ओर पेट्रोलियम, कोयला, इस्पात आदि क्षेत्रों का विकास किया गया वहीं दूसरी ओर कई नवीन लोक उद्योगों की स्थापना की गई; उदाहरणार्थ- स्टील अथॉरिटी

ऑफ इण्डिया लिमिटेड, हिन्दुस्तान पेट्रोलियम कार्पोरेशन इत्यादि। इस औद्योगिक नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक विकास को केन्द्र बिन्दु बनाया गया।

सन् 1980 में पुनः कांग्रेस सरकार द्वारा सत्ता प्राप्त करने पर औद्योगिक नीति को संशोधित किया गया। नई नीति में लोक उपक्रमों की क्षमता तथा दक्षता में वृद्धि के लक्ष्य सहित निजी क्षेत्र को नियंत्रित करने के लिए फेरा (विदेशी अंशदान नियमन अधिनियम) तथा एम0आर0टी0पी0 (एकाधिकार एवं प्रतिबन्धित व्यापार व्यवहार) कानून का दायरा विस्तृत करने के प्रावधान किए गए। इस अवधि में भी 6 बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया एवं अन्य लोक उद्यमों जैसे- कम्प्यूटर मेन्टीनेंस कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया। आर्थिक गतिविधि का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं रह गया है जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र ने अपनी दशतक न दी हो। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था को अनेके सकारात्मक लाभ मिले है जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे।

12.2.2 सार्वजनिक क्षेत्र का उद्देश्य

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों/उद्यमों ने देश के औद्योगिक विकास के लिए एक मजबूत नींव रखी है। जैसा कि स्पष्ट है, सार्वजनिक क्षेत्र का उद्देश्य लाभ या मुनाफा कमाना नहीं होता है। देश की अर्थव्यवस्था को सही दिशा प्रदान करने तथा राष्ट्र निर्माण की गतिविधियों में तेजी लाने में यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सार्वजनिक क्षेत्र का उद्देश्य ना केवल उद्योगों के विकास तक सीमित है, बल्कि ग्रामीण भारत के विकास में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान होता है। कृषि जो की भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक, कृषि अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील मार्ग की ओर अग्रसर कराने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। उद्योगों, कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम नागरिकों के लिए बुनियादी एवं ढाँचागत सेवाऐं प्रदान कर ग्रामीण विकास में अपनी महत्वूर्ण भूमिका निभाते है। विलियन रॉबसन (Willian Robson) ने लोक-उद्यमों को उनकी उद्देश्य एवं प्रकृति की दृष्टि से निम्नलिखित सात वर्गों में विभाजित किया है-

1. सार्वजनिक उपभोग सेवाओं के उद्यम जैसे- गैस, विद्युत, बंदरगाहों एवं जल इत्यादि।
2. यातायात एवं संचार संबंधी जैसे- रेल, हवाई यातायात, जहाजरानी, बस, तार, टेलीफोन, डाक इत्यादि।
3. अधिकोषण शाखा एवं बीमा जैसे- बीमा निगम, भारतीय वित्त निगम, बैंक इत्यादि।
4. बहुउद्देशीय विकास योजना सम्बंधी उद्यम जैसे- भारत में दामोदर घाटी निगम, अमेरिका में टैनेसी वैली ऑथोरिटी इत्यादि।
5. आधारभूत उद्योग अर्थात् अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण उद्योग एवं सेवाएँ जिनकी स्थापना निजी स्वामित्व में हुई थी लेकिन आगे चल कर सरकार ने इसे अपने स्वामित्व मे ले लिया जैसे- लोहा व स्टील, तेल उत्पादन, कोयला खादान इत्यादि।
6. नीवन उद्योग या सेवाएँ, जैसे- हिन्दुस्तान स्टील, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, भारतीय टेलीफोन उद्योग, राज्य व्यापार निगम इत्यादि।
7. सांस्कृतिक कार्यविधियाँ जैसे- ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कॉरपोरेशन, ब्रिटेन में कला परिषद एवं भारत का फिल्म निगम इत्यादि।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अलग-अलग देशों में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते है, फिर भी विभिन्न देशों से संकलित/इकट्ठा जानकारी के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ (यू0एन0ओ0) ने उन कारणों को विस्तार से और स्पष्ट समझाया है जिनके रहते सरकारों ने सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना की। यू0एन0ओ0 द्वारा दर्शाए गए उद्देश्यों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

1. विकास से सम्बन्धित पहल सरकार द्वारा होनी चाहिए, भावी उद्देश्य के लिए मांग पक्ष की ओर सरकारी प्रोत्साहन की और आर्थिक और सामाजिक कार्यों में सरकार की सशक्त सीधी भागेदारी की आवश्यकता

होगी। अतः सरकार को चाहिए की वह औद्योगिक गतिविधियों को बढ़ावा देने और पूँजी निवेश के लिए प्रयास करे। इसके साथ ही सरकार अवसंरचना और बुनियादि गतिविधियों का विकास करने के लिए पहल के रूप में है या सरकारी उद्यमों को आवश्यक प्रबंधकीय और तकनीकी क्षमताएँ दे सकती है

2. सरकार की अपनी कुछ प्राथमिकताएँ और अनिवार्यताएँ होती है, जिन्हें साकार रूप देने के लिए आवश्यक है कि उन्हें पूरी तौर पर निजी उद्यमों के भरोसे न छोड़ दिया जाए।
3. सरकार आयात को स्थानापन्न करने (प्रतिस्थापन) और निर्यात को बढ़ावा देने संबंधी गतिविधियों में निजी क्षेत्र के प्रयासों को पूरा करने में सक्षम हो सकती है।
4. सरकार की यह इच्छा हो सकती है कि वह किसी और माध्यम की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा ली गई कीमतों के माध्यम से संसाधन पैदा करके बचत को और तेजी से बढ़ावा दे।
5. सरकार एक अल्प-विकसित क्षेत्र में विकास के अभिकरण (Agent) के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को चालू कर सकती है, क्योंकि पहले से विकसित क्षेत्र में अपनी इकाइयों को सौंपने निजी क्षेत्र की प्रवृत्ति होती है।
6. अनेक विकासशील देशों की सरकारों के कुछ वैचारिक उद्देश्य भी हैं, जैसे- आर्थिक और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देना, इससे भी सार्वजनिक क्षेत्र को एक अधिक बड़ी भूमिका सौंपा जाना आवश्यक हो जाता है।

स्वतत्रंता प्राप्ति के वक्त भारत की अर्थव्यवस्था कमजोर अवस्था में थी। आर्थिक, सामाजिक और सामरिक महत्व के मोर्चो पर अर्थव्यवस्था के सामने जितने प्रकार की और जितनी अधिक समस्याएँ थीं उनके रहते आत्म-निर्भर आर्थिक वृद्धि के माध्यम के रूप सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका का विस्तार करना सरकार के लिए व्यावहारिक रूप से अनिवार्य हो गया जिससे एक स्वस्थ कृषि और औद्योगिक आधार पर विकास करना, सार्वजनिक अर्थव्यवस्था को विविधता देना और सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करना सम्भव हो सके।

सार्वजनिक क्षेत्र का लक्ष्य निम्न उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बनाया जाता है-

1. देश के तीव्र औद्योगीकरण और आर्थिक विकास में मदद करना;
2. देश के आर्थिक विकास के लिए आधारभूत ढांचा तैयार करना;
3. क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त करना;
4. रोजगार के अवसर पैदा करना;
5. विकास के लिए संसाधन सृजित करना;
6. लघु और सहायक उद्योगों के विकास में सहायता करना;
7. अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में राष्ट्रीय ब्रांडो को बढ़ावा देना;
8. आमदनी और सम्पदा के पुनर्वितरण को बढ़ावा देना;
9. आयात प्रतिस्थापन को बढ़ावा देने के लिए और बचाने के लिए विदेशी मुद्रा अर्जित करना;
10. पिछड़े क्षेत्रों को विकसित करना; और
11. निजी क्षेत्र की कुप्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने तथा कम लाभ पर अधिक गुणवत्ता की वस्तु या सेवाएँ जनता को उपलब्ध करना।

ये उद्देश्य सार्वजनिक क्षेत्र के व्यापक उद्देश्य है। केन्द्र सरकार की भाँति आन्ध्र प्रदेश सरकार ने भी लोक उपक्रमों के विकास और कार्यप्रणाली में सुधार हेतु राज्य स्तर के सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों पर, 1989 में श्वेत-पत्र प्रकाशित करने वाला देश का पहला राज्य बना। इसी तर्ज पर वर्ष 1991-92 में राजस्थान सरकार ने भी लोक उपक्रमों की कार्यप्रणाली में सुधार हेतु एक उच्च स्तरीय समिति गठित की। केन्द्र सरकार पर सार्वजनिक उद्यमों पर श्वेत-पत्र प्रस्तुत करने की लगातार माँग रही है। इससे पहले भी, प्रशासनिक सुधार आयोग और संसदीय समितियों ने

सरकार से बार-बार सिफारिश की है कि वह प्रत्येक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के उद्देश्यों को स्पष्ट विवरण दे। जिससे निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के अर्थ में सार्वजनिक उद्यम की उपलब्धि का मूल्यांकन सुगम होगा। इसी संदर्भ में सरकार ने सरकार और उद्यम के बीच एक आपसी सहमति प्रणाली (MOU- मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टैडिंग) लागू करने की जो रीति अपनाई है वह इस दिशा में हाल में हुई एक प्रगति है।

12.2.3 सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार और अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव

विकसित और विकासशील देशों में लोक-उद्यमों की आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत जैसे मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले देश के विकास में सामाजिक और आर्थिक ध्येयों को प्रोत्साहित करने में लोक-उद्यम एक साधन के रूप में कार्य करते है।

भारत में स्वतंत्रता से पूर्व आर्थिक और वाणिज्यिक गतिविधियों में राज्य का हस्तक्षेप कुछ ही क्षेत्रों तक समित था जैसे- रेल सेवा, डाक एवं तार, बंदरगाहों तथा आयुद्ध कारखाने इत्यादि। स्वतंत्रता के पश्चात् देश के विकास से सम्बन्धित नीति के संदर्भ में विवेकपूर्ण निर्णयों के परिणामस्वरूप लोक-उपक्रमों का विकास तेजी से हुआ है। औद्योगिक नीति लक्ष्य को हमने संविधान में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों से प्राप्त किया और इन सिद्धान्तों के आधार पर राज्य की नीति का लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के आधार पर समाजवाद की स्थापना करके लोगों का सुधार करना है। परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र की गतिविधियों तथा उत्पादनों के क्षेत्र में जबरदस्त विस्तार हुआ। इनमें इस्पात- निर्माण, मशीन, औजार, लोह और अलौह खनिज, कच्चे तेल पिराई और शोधन, वैधुत और निर्माण उपकरण, कोयले का उत्खनन, कपड़ा, सीमेंट, दूरसंचार, उपभोक्ता व्यापार और सेवा, अखबारी कागज का उत्पादन जैसी कई अन्य महत्वपूर्ण गतिविधियाँ भी सम्मिलित है। कुल औद्योगिक उत्पादन में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान पेट्रोलियम, सीसा, इलेक्ट्रोमैकेनिकल टेलीप्रिंटर्श, सीसा के क्षेत्र में (100 प्रतिशत) तक है।

देश के आर्थिक विकास को और तीव्र गति प्रदान करने हेतु पिछले दो दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यापक पूँजी निवेशों को बढ़ावा दिया गया है, जिससे इनकी स्थिति काफी अच्छी बनी रही है, ताकि अर्थव्यवस्था के केन्द्रीय क्षेत्रों की गति मे तेजी लाया जा सके, सामाजिक महत्व के उद्यमों जैसे- रेल सेवा, प्रतिरक्षा, दूरसंचार आदि की उपकरण क्षेत्रों को आत्मनिर्भर बानाया जा सके।

सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं जैसे- खाद्य उद्योगों, औषधों तथा होटलों आदि उपभोक्ता उन्मुख उद्योगों की वृद्धि हुई है, जिससे जन-उपभोग की वस्तुएँ और आधिक सहजता से उपलब्ध तथा सुनिश्चित हो सकी हैं तथा अन्य महत्वपूर्ण उत्पादों की कीमतों पर अंकुश/रोक लगाने में भी सफलता हासिल हुई है।

राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, परामर्श, अनुबन्ध (ठेका) और भवन निर्माण संबंधी गतिविधियाँ और संचार आदि क्षेत्रों में अनेक सार्वजनिक उद्यम काम कर रहे हैं। देश में तेज गति से आर्थिक वृद्धि करने तथा नियोजित विकास के तहत सामाजिक तथा आर्थिक वर्तमान समय में सार्वजनिक क्षेत्र में और भी उद्योग और गतिविधियाँ शामिल हो गई है।

9 अप्रेल, 2018 को विज्ञान भवन नई दिल्ली में आयोजित केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम (CPSEs) सम्मेलन- विजन 2022 के अपने संबोधन में प्रधानमंत्री ने कहा कि सरकार CPSEs से जुड़ी दिक्कतों को दूर करने के लिये लगातार काम कर रही है। बीते चार सालों में सरकार ने भी सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़े संस्थानों को (Operational Freedom) परिचालन/संचालन स्वतंत्रता दे दी है ताकि वो बेहतर प्रदर्शन कर देश की अर्थव्यवस्था को तीव्रता पूर्वक सुदृढ़ कर सके। आज सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम भारत की अर्थव्यवस्था को न सिर्फ मजबूती दे रहे है बल्कि औद्योगिक गतिविधियों में उत्प्रेरक का भी काम कर रहे है।

निजी क्षेत्रों की भाँति लाभ कमाना सार्वजनिक क्षेत्रों के लिए भी अहम है। लेकिन साथ-साथ उनकी एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी सामाज के कल्याण की भी होती है और इन्हें इसका ध्यान रखना होगा की वे समाज के लिए अधिक से अधिक लाभ उत्पन्न करें।

सार्वजनिक क्षेत्र में लगातार हो रही तेजी के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था पर उत्पादन, संसाधनों के निर्माण, रोजगार तथा देश में संतुलित क्षेत्रीय विकास पर सकारात्मक असर हुआ है। जिसकी चर्चा हम संक्षेप में निम्न रूप से कर सकते हैं-

1. **पूँजी निवेश-** स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में पूँजीनिवेश में लगातार वृद्धि हुई है। जहाँ वर्ष 1951 में इसकी संख्या पाँच थीं और कुल विनियोजित पूँजी 29 करोड़ थी वहीं वर्ष 2015-16 तक इसकी संख्या बढ़कर 244 और विनियोजित पूँजी बढ़कर 1938795 करोड़ हो गई है। सार्वजनिक क्षेत्र में पूंजी निवेश में निरन्तर वृद्धि होती रही है, जिसका सकारात्मक प्रभाव उनकी कार्य क्षमता, दक्षता और उत्पादन पर पड़ा है।
2. **टर्न-ओवर (कुल बिक्री)-** सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का कितना विस्तार हुआ है इसका विश्लेषण हम सार्वजनिक उद्यमों के टर्न- ओवर (व्यवसाय में होने वाली कुल खरीद- बिक्री की राशि) के आधार पर भी कर सकते हैं। जहां वर्ष 2006-07 में कुल सकल कारोबार 964890 करोड़ रूपये था, वहीं ये 2015-16 में बढकर 1854677 करोड़ रूपये हो गया। अत: स्पष्ट है कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का प्रभाव सार्वजनिक उपक्रमों के टर्न ओवर पर भी पड़ा है। इसमें लगातार वृद्धि पायी गई है। इस टर्न ओवर की अधिकांश राशि तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग, भारतीय तेल निगम, भारतीय इस्पात प्राधिकरण और भारतीय खाद्य निगम जैसे उघमों से है। स्पष्ट है कि भारत की कुल अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका में नियोजन के बाद से तेजी से वृद्धि दर्ज की जा रही है।
3. **अवसंचना विकास-** भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था को ध्यान में रखते हुए सार्वजनिक क्षेत्र ने आर्थिक विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया है। निजी क्षेत्र की भागीदारी कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण साबित हो रही है। रेल, सड़क, समुद्री तथा वायु यातायात व्यवस्था में दिनोंदिन जबरदस्त सुधार हो रहा है। विद्युत, ऊर्जा, कृषि आदि के क्षेत्र में भी प्रर्याप्त विस्तार हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक और कृषि के क्षेत्र में नई तकनीकों के साथ विकास और विस्तार हुआ है।
4. **संतुलित क्षेत्रीय विकास-** 1970 के दशक में भारत सरकार के योजना आयोग ने संतुलित क्षेत्रीय विकास हेतु विभिन्न राज्यों के पिछड़े क्षेत्रों को चिन्हित करके उनके पिछड़ेपन को दूर करने के लिए अनेक योजनाएँ बनाई एवं सम्बन्धित राज्यों को उन योजनाओं के क्रियान्वयन हेतु फंड मुहैया करवाया। इसी क्रम में सार्वजनिक क्षेत्र ने भी संतुलित क्षेत्रीय विकास लाने और देश की आर्थिक गति को तेज करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। स्वतंत्रता से पूर्व उद्योगों का जमावड़ा बम्बई, मद्रास और कलकत्ता जैसे शहरों तक ही सीमित था, जिसके कारण देश के अन्य भाग विकास की दौड़ में पिछड़ते जा रहे थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने देश के पिछड़े क्षेत्रों में भी अपना ध्यान केन्द्रीत किया ताकि देश का समग्र विकास हो सके एवं क्षेत्रीय असंतुलन को समाप्त किया जा सके। सरकार की दूरर्शिता के परिणाम स्वरूप पिछड़े क्षेत्रों को चिन्हित कर उन क्षेत्रों में बड़े उपक्रमों को स्थापित करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की निवेशित पूँजी को काफी मात्रा में इस ओर लगाया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का सभी राज्यों और केन्द्र शासित राज्यों में स्थापित होना एक प्रशंसनीय कदम रहा क्योंकि इससे न केवल क्षेत्रीय संतुलन बनेगा बल्कि इससे सहायक और लघु उद्योगों में वृद्धि होगी एवं रोजगार सृजन के नए अवसर भी उपलब्ध होंगे।
5. **रोजगार-** सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार ने रोजगार सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1989 के आँकड़ों के अनुसार केन्द्र के सार्वजनिक क्षेत्र के 232 उपक्रमों में 22.93 लाख लोगों को रोजगार उपलब्ध था वहीं अगर

हम 2016-17 के आँकड़ों का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में 15 लाख से अधिक लोगों को CPSEs के द्वारा रोजगार उपलब्ध कराया गया है जिसमें 11.31 लाख स्थायी कर्मचारी, 3.39 लाख संविदा कर्मचारी और 54000 सामयिक/आकस्मिक कर्मचारी कार्यरत है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र एक आदर्श नियोक्ता बन रहा है और साथ ही साथ यह अपने अधिकांश उपक्रमों के विशेषकर दुर्गम क्षेत्रों या गाँवों या कस्बों में स्थित परियोजनाओं में कार्यरत कर्मचारियों को आवास, चिकित्सा, शिक्षा आदि की सुविधाएँ देने तथा उनकी सामाजिक जिम्मेदारियों के निर्वाह में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। साथ ही साथ CPSEs अपने कर्मचारियों की उत्पादन क्षमता एवं दक्षता को बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण और पुर्नप्रशिक्षण कार्यक्रमों की व्यवस्था करता है। सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा देश के आंतरिक संशाधनों के निर्माण में विशेष ध्यान दिया जा रहा है। देश में संसाधनों की कमी को दूर करने के लिए यह एक सार्थक प्रयास सिद्ध हो रहा है। इसके साथ ही साथ यह प्रयास किया जा रहा है कि औद्योगिक उत्पादों को स्थानीय उत्पादन के जरिए पूरा किया जा सके जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा उत्कृष्ट प्रयास किया जा रहा है तथा निर्यात को प्रोत्साहन दिया जा रहा है जिससे देश को औद्योगिक एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाया जा सके।

निःसंदेह केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों ने देश के आर्थिक विकास की नींव रखी है। सभी क्षेत्रों में लोक उद्यमों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है विशेषकर सामरिक महत्त्व एवं कोर क्षेत्र में (जैसे- कोयला, कच्चा तेल, उर्वरक, स्टील, पेट्रो रिफाइनिंग, बिजली और नेचुरल गैस) आज के वैश्वीक युग की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिए लोक उपक्रमों को और अधिक सशक्त और तकनीकी रूप से अपने आप को तैयार करना होगा।

अब इस बात का विश्लेषण करने का समय आ गया है कि किस प्रकार लोक उपक्रमों को और अधिक उपयोगी और उत्पादक बनाया जाए। सरकार का इस ओर भी ध्यान है कि कौन-कौन से उद्यम घाटे में चल रहे है और किस प्रकार उसका कायापलट कर उसे मुनाफा कमाने वाली श्रेणी में लाया जा सके।

पिछले तीन वर्षों के दो महत्वपूर्ण मापदण्डों- निवेश और शुद्ध लाभ (Investment and Net Profit) के आँकड़ों के अध्ययन से पता चलता कि 2014-15 के मुकाबले 2016-17 में निवेश में 14 प्रतिशत की वृद्धि हुई है वहीं शुद्ध लाभांश (Net Profit) की बात की जाए तो लोक उद्यमों का शुद्ध लाभ में 23.30 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

लाभ कमाने वाले पाँच महत्वपूर्ण लोक उपक्रमों की बात करे तो वर्ष 2016-17 के आँकड़ो के अनुसार- (1) पेट्रोलियम, (2) कच्चा तेल, (3) विद्युत उत्पादन, (4) वित्तीय सेवाएँ और (5) कोयला इनमें से प्रत्येक क्षेत्रों ने सरकार को 10,000 करोड़ से भी ज्यादा का शुद्ध लाभ दिया है। लोक उद्यमों का कार्य क्षेत्र अब समाज के उत्थान में भी हो रहा है। सरकार द्वारा चलाई जा रही कई महत्वपूर्ण योजनाएँ जैसे- स्वच्छ भारत, स्वस्थ भारत, शिक्षा, ग्रामीण विकास, कौशल विकास, पर्यावरण, सौर ऊर्जा, कला, संस्कृति एवं ऐतीहासिक धरोहरों आदि क्षेत्रों में भी सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा महत्वपूर्ण योगदान दिया जा रहा है ताकि ‘न्यू इण्डिया’ के संकल्प के लक्ष्य को पूर्णतः हासिल किया जा सके। केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सम्मेलन- विजन 2022 जो कि 9 अप्रेल, 2018 को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ उसमें सरकार ने साफ कर दिया कि लोक उद्यमों को राष्ट्र के निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण योगदान को सुनिश्चित करना होगा ताकि विजन 2022 के ‘न्यू इण्डिया’ के सपने को साकार किया जा सके।

अभ्यास प्रश्न-

1. 1951 में जब नियोजन प्रक्रिया आरम्भ हुई थी, तब देश में केन्द्र सरकार के सार्वजनिक उद्यमों की संख्या कितनी थी?
2. लोक उपक्रमों की स्थापना के पीछे क्या उद्देश्य है?

3. वर्ष 2014-15 के मुकाबले वर्ष 2016-17 में सार्वजनिक उपक्रमों के निवेश में कितने प्रतिशत की वृद्धि हुई है?

4. वर्ष 2015-16 में चालू/काम करने वाले केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की संख्या कितनी है?

5. वर्ष 2016-17 में लाभ कमाने वाले पाँच महत्वपूर्ण लोक उपक्रम कौन-कौन से है?

6. केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सम्मेलन-विजन-2022 कब और कहाँ सम्पन्न हुआ?

12.3 सारांश

लोक उद्यमों की स्थापना के मूल में राष्ट्रीय सुरक्षा, देश का सन्तुलन आर्थिक व औद्योगिक विकास, उत्पादन का समान वितरण, माँग एवं पूर्ति में संतुलन, राजस्व में वृद्धि, प्राकृतिक संसाधनों का विकास, उद्योगों की कार्यक्षमता में वृद्धि, निर्यात व्यापार में वृद्धि, विदेशी मुद्रा प्राप्त करना, प्रबन्ध का वैज्ञानिकरण, आर्थिक व सामाजिक असमानताओं को कम करना, मूल्य नियंत्रण में सहयोग, बचत को प्रोत्साहित करना, निवेश वृद्धि तथा देश की अर्थव्यवस्था में सक्रिय भागिदारी सुनिश्चित करना, जनता का सर्मपन भाव से सेवा करना एवं जनसहभागिता को बढ़ावा देना तथा संतुलित क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा देने जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का निर्वाह सक्रियता एवं सकारात्मकता पूर्वक किया जा रहा है।

राष्ट्र निर्माण में केन्द्रीय सार्वजनिक लोक उद्यमों के योगदान में हरेक की भागीदारी सुनिश्चित हो, चाहे वो दूर-दराज में स्थित छोटा कर्मचारी हो या फिर मुख्यालय के बड़े अधिकारी इन सब के बीच समन्वय हो ताकि हर समस्या का निदान हो सके जिससे लोक उपक्रमों को 'न्यू इण्डिया' के निर्माण विजन-2022 के सपने को साकार करने में सरलता पूर्वक सफलता मिल सके।

12.4 शब्दावली

लोक कल्याणकारी- जिसमें जनता का कल्याण निहित हो,

सार्वजनिक उद्यम- सरकारी उद्योग

विशुद्ध- पूर्ण रूप से शुद्ध मिश्रित अर्थ व्यवस्था-जिसमें सरकारी एवं निजी दोनों क्षेत्र विद्यमान होते है,

सार्वजनिक क्षेत्र- जिसमें सरकार की समस्त आर्थिक गतिविधियाँ शामिल होती है, विभागीय प्रबंध- विभागों द्वारा प्रबंध करना, स्वामित्व- एक ही व्यक्ति व्यवसाय का स्वामी होता है, वाणिज्यिक- व्यापारिक, आंशिक-थोड़ा या अल्प, प्रक्रियात्मक- प्रक्रिया के रूप में होने वाला, वैधानिक- कानूनी, प्रतिष्ठान- संस्था, एम0ओ0यू0- आपसी सहमति प्रणाली, श्वेत पत्र- एक सरकारी दस्तावेज जिसमें किसी विशेष विषय पर सरकार की नीति दी जाती है, या स्पष्ट की जाती है।

अवसंरचना- ऐसे संगठन जिनकी गतिविधियाँ आगे के आर्थिक विकास के लिए आधार तैयार करने में अप्रत्यक्ष रूप से मदद देती है।

टर्न ओवर- सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में, इसका अर्थ होता है किसी संगठन द्वारा बेचे गए सामान या कुल बिक्री की कुल कीमत।

शुद्ध लाभांश- किसी उपक्रम/कम्पनी के कमाये गये मुनाफों का अंश, यह उस कम्पनी के शेयर धारकों को मिलता है, चाहे वह सरकार हो या व्यक्ति।

पुर्नप्रशिक्षण- इसका अर्थ होता है विशेषज्ञता को पुराने क्षेत्र में विस्तृत प्रशिक्षण, या विशेषज्ञता के नए क्षेत्र में प्रशिक्षण

12.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. पाँच, **2.** आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका सुनिश्चित करना, स्वस्थ प्रतिस्पर्धा तथा मूल्य नियंत्रण करना, रोजगार के अवसर उपलब्ध करना, सामाजिक- आर्थिक समानता लाना तथा क्षेत्रीय संतुलन स्थपित करना इत्यादि, **3.** 14 प्रतिशत, **4.** 244, **5.** पेट्रोलियम, कच्चा तेल, विद्युत उत्पादन, वित्तीय सेवाएँ तथा कोयला, **9**. अप्रेल, 2018 विज्ञान भवन, नई दिल्ली।

12.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. भारतीय प्रशासन, अवस्थी एवं अवस्थी।
2. लोक प्रशासन, अवस्थी एवं माहेश्वरी।
3. राज्य प्रशासन, सुरेन्द्र कटारिया।
4. भारतीय प्रशासन, श्री राम माहेश्वरी।
5. लोक प्रशासनः नये क्षितिज, इन्द्रजी कौर।
6. लोक प्रशासन, पुखराज जैन।
7. विकास प्रशासन, आनन्द प्रकाश अवस्थी।
8. विकास प्रशासन (ई0पी0ए0-3, इकाई-26, इग्नू)

12.7 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. Public Sectors in India, S.K.Singh.
2. Administration of Public Enterprises in India, Jagdish Prakash & Nageshwar Rao, Mata Badal Shukla
3. विकास प्रशासन (ई0पी0ए0-3 इकाई-26, इग्नू)
4. Management of Public Enterprises (M S-92,unit-1, GNOU)
5. Public Enterprises Survey, 2015-16 volume-I, Government of India Ministry of Heavy Industries and Public Enterprises, Department of Public Enterprises.
6. Government of India, Department of Public Enterprises, CPSEs, Conclave-VI si on 2022, Monday, 9th Aprl l, 2018, Vigyan Bhavan,New Delhl .
7. www.dpe.gov.in

12.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक क्षेत्र और सार्वजनिक उद्यम के अर्थ की व्याख्या कीजिए।
2. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
3. भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्भव एवं विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. सार्वजनिक क्षेत्र के विकास का भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है? व्याख्या कीजिए।

इकाई- 13 सार्वजनिक क्षेत्र की प्रशासनिक समस्याएँ

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याएँ
    13.2.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का विस्तृत विवरण
    13.2.2 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की समस्याओं को दूर करने के सुधारात्मक उपाय
13.3 सारांश
13.4 शब्दावली
13.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
13.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.8 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

पिछली इकाईयों में हमने सार्वजनिक क्षेत्र के विकास और विस्तार तथा विकास निगमों पर विस्तृत चर्चा की है। लेकिन जब हम इनकी कार्यशैली की ओर अपना ध्यान केन्द्रीत करते हैं तो इसमें कुछ स्पष्ट प्रशासनिक खामियाँ भी नजर आती है। इस इकाई में हम इन प्रशासनिक समस्याओं का विस्तृत परीक्षण करने का प्रयास करेगें।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य निष्पादन से संबंधित प्रमुख समस्याओं की पहचान कर सकेंगे।
- सार्वजनिक क्षेत्र के समक्ष संगठनात्मक समस्याओं की व्याख्या कर सकेंगें।
- सार्वजनिक क्षेत्र के संचालन से संबंधित विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रशासनकि ढाँचे में वांछित संस्थागत एवं प्रक्रियात्मक परिवर्तन इंगित कर सकेंगे।

13.2 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याएँ

सार्वजनिक क्षेत्र या उद्यम की धारणा का कल्याणकारी राज्य एवं समाजवादी और विकासात्मक प्रशासन की धारणा से घनिष्ठ संबंध है। राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के फलस्वरूप सन् 1948 तथा 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्तावों तथा समाजवादी समाज की स्थापना की सरकारी घोषणा से सार्वजनिक क्षेत्र ने भारत में उचित स्थान प्राप्त किया है। देश की अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का विशिष्ट स्थान के साथ-साथ राष्ट्रीय विकास में इनकी भूमिका अत्यन्त सराहनीय रही है। देश के औद्योगिकरण को बढ़ाने, क्षेत्रीय आर्थिक असंतुलन को दूर करने, सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी निवेश को प्रोत्साहन देने, रोजगार के अवसर बढ़ाने, अर्थव्यवस्था में कुछ औद्योगिक घरानों के बढ़ते एकाधिकार पर नियन्त्रण रखने तथा जन मानस के जीवन- स्तर को ऊचाँ उठाने तथा सुधार लाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र से महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की अपेक्षा की गई है। लेकिन जब हम सार्वजनिक क्षेत्रों का समग्र अध्ययन करते है तो यह पता चलता है कि जहाँ इन क्षेत्रों ने राष्ट्रीय विकास में अपनी

महती भूमिका का परिचय दिया है वहीं जब हम इसके दूसरे पहलू की ओर अपना ध्यान केन्द्रीत करते है तो पता चलता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम अनेक मूलभूत, प्रशासनिक एवं प्रबंधकीय समस्याओं से ग्रसित है। इसके पीछे यह तर्क दिया जाता है कि हमारी परियोजनाएँ उचित प्रकार से आयोजित नहीं की गई, इनकी स्थापना उपयुक्त स्थान पर नहीं की गई, राजनीतिक हस्तक्षेप तथा परियोजनाओं को बनाने तथा समादेशित करने में देरी हुई। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक उद्योगों के संचालन में अब संरचनात्मक समस्याएँ अधिक महत्वपूर्ण हो गई है।

इन गंभीर समस्याओं के निराकरण के बिना उसके कुशल कार्य-निष्पादन की कल्पना नहीं की जा सकती है। इन समस्याओं को हम दो श्रेणियों में रख सकते हैं- पहला, समस्त उद्यमों या प्रतिष्ठनों की सामान्य समस्याएँ, और दूसरा, किसी उद्यम की विशिष्ट समस्याएँ।

पाठकों की सुविधा के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की समस्याओं को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है- 1. उद्देश्यों से संबंधित समस्याएँ, 2. परियोजना संबंधी समस्याएँ, 3. संगठनात्मक समस्याएँ, 4. उत्पादन संबंधी समस्याएँ, 5. वित्तीय समस्याएँ, 6. कार्मिक प्रशासन संबंधी समस्याएँ, 7. विपणन संबंधी समस्याएँ, 8. नियन्त्रण एवं उत्तरदायित्व की समस्या, 9. सामग्री प्रबंध की समस्या और 10. बीमार इकाइयों की समस्या।

इस संबंध में सार्वजनिक उद्यमों के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हुआ है कि कई सार्वजनिक उद्यम अपेक्षानुसार कार्य नहीं कर रहे हैं।

13.2.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का विस्तृत विवरण

उपर्युक्त वर्णित समस्याएँ न केवल चिंता का विषय हैं, बल्कि यह वास्तव में विभिन्न स्तरों पर सार्वजनिक चर्चा का मुद्दा बना हुआ है। इन समस्याओं का विस्तृत अध्ययन हम करेंगे-

1. **उद्देश्यों से सम्बन्धित समस्याएँ-** किसी भी सार्वजनिक उपक्रमों या प्रतिष्ठानों के सफलतापूर्वक संचालन हेतु उद्देश्यों का स्पष्ट होना अति आवश्यक है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में अस्पष्ट या दुविधापूर्ण उद्देश्यों से निम्नलिखित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जैसे-
    - उद्देश्यों में स्पष्टता का अभाव- यह देखा गया है कि निजी उद्यमों के उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट होते है वहीं सार्वजनिक उद्यमों के मामलों मे यह स्पष्ट नहीं होते। इतने वर्षों के बाद भी हम अब तक इस मुद्दे से जूझ रहे हैं। अभी तक इन उद्यमों के उद्देश्यों के लिए कोई स्पष्ट नीति नहीं बन पाई है। स्पष्ट उद्देश्य न होने के कारण लोक उद्यमों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि वो अपनी दक्षता का ठीक और सही ढंग से न्यायोचित आकलन नहीं कर पाते।
    - बहु-आयामी और परस्पर विरोधी उद्देश्य- भारत में लोक उद्यमों की स्थापना बहु-आयामी उद्देश्यों के साथ हुई जिसकी प्रकृति परस्पर विरोधी रही है। निजी उद्यमों के विपरीत लोक उद्यमों के उद्देश्य आर्थिक के साथ-साथ गैर-आर्थिक रहे हैं। इनके उद्देश्यों का निर्धारण लोक कल्याण को भी ध्यान में रख कर बनाया जाता है।
2. **परियोजना संबंधी समस्याएँ-** सार्वजनिक क्षेत्र में परियोजनाओं का प्रभावी प्रबंधन सर्वोपरि महत्व का है। वर्तमान में सार्वजनिक क्षेत्र के दायरे में विस्तृत क्षेत्रीय कार्य आ गए हैं और सामान्य राजकोष से निवेश की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई है। अतः इनकी परियोजनाओं के प्रभावी प्रबंध का बहुत महत्व है। इससे संबंधित कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ निम्नलिखित हैं-
    - स्थान के चुनाव में राजनीतिक हस्तक्षेप- सार्वजनिक उद्यमों की स्थापना के लिए स्थान का चयन आर्थिक और तकनीकी कारकों के आधार पर न करके राजनीतिक दबाव और प्रभाव के आधार पर किया जाता है। जिसमें उत्पादन की लागत दर बहुत अधिक बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ केन्द्र

सरकार ने एक तर्कहीन दृष्टिकोण के तहत 'मिग विमान' परियोजना को दो अलग-अलग राज्यों में स्थापित करने का फैसला लिया। ये स्थान 'नासिक और 'कोरापूट' है जिनकी दूरी 2,000 कि0मी0 से अधिक है यह निर्णय दोनों राज्यों के दो शक्तिशाली राजनेताओं को संतुष्ट करने के लिए लिया गया। राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण कई बार निर्माण के समय भी परियोजनाओं का स्थान बदल जाता है।

- परियोजनाओं की व्यवहार्यता रिपोर्ट की दोषपूर्ण तैयारी- अनेक बार जब रिपोर्ट बनाई जाती है तो इन्हें उपयुक्त अधिकारी से स्पष्ट होने में लम्बा समय लगता है जिसका परिणाम होता है पर्याप्त विलम्ब। इसके साथ ही साथ कई बार परियोजनाओं की रिपोर्ट पूरे तकनीकी पहलुओं को ध्यान में रखकर नहीं बनाई जाती और न ही आर्थिक लागतों व लाभों पर पूरा ध्यान दिया जाता। कई बार परियोजना मूल्यांकन से सम्बंधित जानकारी भी अपूर्ण होती है।
- भूमि अधिग्रहण की समस्या- भूमि अधिग्रहण परियोजना प्रबंधन की एक महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है। सही मायने में देखा जाए तो इसमें सबसे बड़ी समस्या पुनर्वास की है। इस संदर्भ में गरीब किसानों से जो सौदा मुआवजों के रूप में किया जाता है वह संतोषजनक नहीं होते जिसके चलते विरोध शुरू हो जाते हैं और परियोजनाँ लम्बे समय तक अटक तक जाती है। उदाहरण के लिए गोरखपुर में 1960 में भारतीय उर्वरक निगम की स्थापना के लिए स्थान का चयन किया गया लेकिन भूमि 1963-64 के दौरान ही अधिग्रहीत की जा सकी।
- तकनीकी जानकारी की समस्या- भारत में लोक उद्यमों के समक्ष महत्वपूर्ण समस्या तकनीकी की है। परियोजना के आयोजन तथा प्रमाणीकरण (परिवीक्षा) में सहायता करने वाली पी0ई0आर0टी तथा सी0पी0एम0 जैसी आधुनिक तकनीकें या तो तैयार ही नहीं की जाती अथवा अपनाई नही जाती। इसके अतिरिक्त आज भी हम विदेशी तकनीकों की सहायता लेते हैं और यहाँ तक कि भारत में अधिकांश उद्यम तो विदेशी सहयोग से ही स्थापित किए गए है। साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना जरूरी है कि प्रौद्योगिकी का चयन न केवल अद्युनिकता को ही ध्यान में रखकर किया जाए बल्कि इसका भी ध्यान रखना चाहिए की वह भारतीय परिस्थिति के लिए उपयुक्त हों।
- संगठनात्मक समस्याएँ- किसी भी संगठन या उद्यम की सफलता के लिए उसकी संस्था के स्वरूप का बड़ा महत्व होता है। 1948 के औद्योगिक नीति सम्बंधी प्रस्ताव मे इस पक्ष पर पर्याप्त चर्चा हुई थी। प्रस्ताव में कहा गया कि राज्य क्षेत्र का प्रबंध नियमपूर्वक सार्वजनिक निगमों के माध्यम से केन्द्रीय सरकार के वैधानिक नियंत्रण में होगा। इससे संबंधित कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ निम्नलिखित है-
    - सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न कार्यो के बीच और दूसरी ओर शासन के बीच प्रभावी और उचित सम्बद्धता का अभाव।
    - अधिकांश सार्वजनिक उद्यमों को उपयुक्त अधिकार नहीं दिए गए।
    - सही समय पर निर्णय लेने का पर्याप्त अधिकार नहीं है।
    - राजनीतिज्ञों के साथ-साथ संबंधित विभाग प्रशासकों द्वारा बार-बार हस्तक्षेप करना।
    - मंत्री स्तरीय नियंत्रक तथा संसदीय उत्तरदायित्व दोनों ही अप्रभावी रहे है।

- प्रबन्धकीय स्वायत्तता सीमित है तथा उत्तरदायित्व सुनिश्चित नहीं है। इसके अतिरिक्त संगठनात्मक ढाँचे से सम्बद्ध अन्य समस्या निदेशक मंडल के संघटन की है।

सार्वजनिक उद्यमों के निदेशक मण्डल के चयन के सम्बंध में निम्नाकिंत दोष उद्यमों की निषफलता को बढ़ाते हैं जैसे-

(क) निदेशकों की नियुक्ति उद्यमशीलता के आधार पर नहीं की जाती।

(ख) निदेशक मण्डल के अन्य सदस्यों यहाँ तक कि अध्यक्षों के पद अनिश्चित समय तक रिक्त रखे जाते है।

(ग) अधिकांश सार्वजनिक उद्यमों में मिश्रित प्रकार का मण्डल है जिसमें कुछ पूर्ण कालिक सदस्य है तथा कुछ अंशकालिक सदस्य। एक अध्ययन के अनुसार अंशकालिक सदस्य सार्वजनिक उद्यमों के कार्यों में पर्याप्त अभिरूचि नहीं लेते।

(घ) अध्ययनवेत्ताओं ने सार्वजनिक उद्यमों और सम्बन्धित सरकारी विभागों में समन्वय के अभाव को भी एक कारण माना है जिससे सार्वजनिक उद्यमों में लालफीताशाही और अक्षमता को प्रोत्साहन मिलता है। जब तक निदेशक मण्डल को निर्णय लेने की पर्याप्त शक्ति नहीं दी जाती तब तक केवल ढाँचे में परिर्वतन से वांछित सुधार नहीं लाया जा सकता।

1. **उत्पादन संबंधी समस्याएँ-** इसका तात्पर्य है कम समय और कम लागत में अधिक उत्पादन करना। ऐसा करते समय वस्तु की गुणवत्ता और उत्तमता का ध्यान रखना जरूरी है। इससे सम्बन्धित समस्याएँ हैं-
    - ऊर्जा की कमी।
    - पुरानी अशक्त उत्पादन संस्थाएँ।
    - प्रबंध की समस्या।
    - उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपभोग नहीं।
    - हल्की किस्म का कच्चा माल, शोध और विकास क्रियाओं का असन्तोषजनक स्तर।
    - रख-रखाव प्रबंधन पर अपर्याप्त ध्यान।
2. **वित्तीय समस्याएँ-** लोक उद्यमों की सबसे प्रमुख समस्या वित्त से सम्बन्धित है। इन उद्यमों की वित्तीय स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। अधिक निवेश के बावजुद इन संस्थाओं के असन्तोषजनक कार्यों ने राष्ट्रीय परियोजना प्रक्रिया को कमजोर किया है और कर-बोझ को बढ़ाया है। वित्तीय प्रबन्ध तथा नियंत्रण के प्रभावकारी यंत्र के निर्माण के लिए एक स्वस्थ बजट पद्धति अत्यन्त आवश्यक है। वित्त से सम्बन्धित कुछ प्रमुख समस्याएँ हैं-
    - वित्तीय जागरूकता की समस्या।
    - अधिक पूँजी निवेश समस्या।
    - असन्तोषप्रद कार्य।
    - वित्तीय अनुशासन की कमी।
    - कम लाभ।
    - ऋण।
    - कार्यकारी पूँजी प्रबन्ध में लापरवाही।

- दोषपूर्ण मूल्य निर्धारण नीति।
- सामाजिक प्रमुखता का भारी बोझ आदि।
- अधिकांश उद्यमों के द्वारा अभी भी पारम्परिक बजट पद्धति का अपनाया जाना।
- आंतरिक लेखा-परीक्षा पद्धति संबंधी समस्या आदि।

3. **कार्मिक संबंधी समस्याएँ-** सार्वजनिक उद्यमों के प्रत्येक दिन के काम काज में अक्सर राजनीतिक हस्तक्षेप पाया जाता है। यह भली प्रकार स्थापित हो चुका है कि किसी भी उद्यम की सफलता मुख्यतः सार्वजनिक उद्यमों में लगे हुये कार्मिकों की योग्यता, प्रशिक्षण, अनुभव तथा मनोबल पर निर्भर करती है। लेकिन दुर्भाग्य से कार्मिक प्रशासन हमारे सार्वजनिक उद्यम के सबसे कमजोर पहलुओं में से एक है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं-
    - नौकरशाही का नियंत्रण।
    - मानवशक्ति का नियोजित न होना।
    - कार्मिक-प्रबन्ध के बीच अच्छे संबंध का न होना।
    - भर्ती की दोषपूर्ण नीति।
    - निजी क्षेत्रों की तुलना में कम वेतन।
    - अनावश्यक सेवा शर्तें।
    - गुणवत्ता की उपेक्षा।
    - मनोबल की कमी।
    - अन्य सुविधाओं की कमी।
    - प्रशिक्षण का अभाव।
    - नियुक्ति एवं अन्य कार्यों में भाई-भतीजावाद।
    - आवश्यकता से अधिक कर्मचारी होना।
    - प्रतिनियुक्तियों की समस्या।
    - मजदूर संघ की समस्या।
4. **विपणन संबंधी समस्याएँ-** लोक-उद्यम का यह सबसे कम विकसित क्षेत्र है। सार्वजनिक उद्यमों की दक्षता और सफलता इस बात पर निर्भर करती हैं कि माल या सेवाओं का प्रभावी ढंग से निपटान कैसे किया जाता है। इसकी प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं-
    - लोक-उद्यमों के पास योग्य विक्रेताओं की कमी।
    - निजी क्षेत्र के उद्यमों के साथ प्रतिस्पर्धा का अभाव।
    - गुणवत्ता नियंत्रण की खराब प्रणाली।
    - माँग बाधाएँ।
    - विकेन्द्रीकृत वितरण प्रणाली।
    - निर्यात संवर्धन की समस्याएँ।

- सरकार तथा लेखा-परीक्षकों के कठोर नियंत्रण के कारण विक्रय कमीशन के रूप में विक्रय प्रोत्साहन का अभाव
- अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्पर्धा का अभाव आदि।

5. **नियन्त्रण एवं उत्तरदायित्व की समस्या-** सार्वजनिक क्षेत्र में जनता का धन लगा होता है इसलिए करदाताओं को यह जानने का पूरा अधिकार है कि उसका पैसा किस तरह खर्च किया गया, क्योंकि करदाता के प्रतिनिधि संसद में है इसलिए इनके नियन्त्रण और उत्तरदायित्व को संसद को सौंप दिया गया है। इससे संबंधित कुछ प्रमुख समस्याएँ हैं-
    - स्वायत्तता की समस्या।
    - संसदीय नियन्त्रण की समस्या।
    - लेखा परीक्षा नियन्त्रण की रूढ़िवादी प्रणाली।
    - उत्तरदायित्व की समस्या।
    - परस्पर विरोधी उद्देश्य संबंधी समस्या।
6. **सामग्री प्रबंध की समस्या-** किसी भी उद्यम के लाभपूर्ण संचालन के लिए सामग्री का कुशलता तथा मितव्यता से प्रयोग अत्यावश्यक है। लागत नियंत्रण करने के प्रबन्धकीय प्रयत्न का यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण हिस्सा है। इससे सम्बन्धित कुछ समस्याएँ हैं-
    - अधिक सामग्री का भण्डारण।
    - वस्तु सूची तैयार करने में वैज्ञानिक विधि का अभाव।
    - परिसम्पत्तियों का अन्यायोचित ऊँचा मूल्य।
    - परिसम्पत्ति नियंत्रण की वैज्ञानिक विधियों का अभाव।
    - सामग्री प्राप्त करने में कठिनाई और विलम्ब।
    - कठोर नियम एवं लोचशीलता का अभाव।
    - सरकारी हस्तक्षेप।
    - वाणिज्य और व्यापार जैसी प्रवृत्ति का अभाव।
    - सामग्री के वितरण में विलम्ब आदि।
    - क्रय की प्रक्रिया भी बहुत लम्बी है तथा इसके अंर्तगत वित्तीय शाखा को बड़ी संख्या में निर्देश भी शामिल है।
7. **बीमार इकाईयों की समस्या-** निजी क्षेत्र के रूग्ण या बीमार उद्यमों के रोजगार की रक्षा के लिए सरकार ने उन्हें अपने कामकाज में सुधार लाने के लिए पदभार संभाल लिया है। इससे सम्बंधित कुछ समस्याएँ हैं-
    - आवश्यकता से अधिक कर्मचारी का होना।
    - खराब बाजार छवि।
    - निष्क्रिय प्रबंधन।
    - पुराने और घिसे हुए उपकरण।

- अन्य समस्याएँ जैसे- अप्रचलित प्रौद्योगिकी, धन की कमी, उच्च ऋणात्मकता और खराब तरलता की स्थिति ऐसी बीमार इकाइयों से जुड़ी समस्या है।

13.2.2 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की समस्याओं को दूर करने के सुधारात्मक उपाय

13.2.1 में वर्णित नकारात्मक पक्ष का अभिप्राय यह नहीं है कि सार्वजनिक क्षेत्र की भारतीय विकास में कोई देन नहीं है। निष्पक्ष रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका भारतीय विकास के लिए उल्लेखनीय रही है। भारतीय विकास को आत्मनिर्भर बनाने का श्रेय इसी क्षेत्र को जाता है। आज भी इस क्षेत्र में राष्ट्र की विशाल पूँजी और क्षमता- भौतिक, वित्तीय, संस्थात्मक और मानवीय श्रोतों संबंधी विद्यमान है। अतः इनकी समस्याओं का सुधार करना अनिवार्य है जिससे लोक-उद्यम राष्ट्र के निर्माण में अपनी अपेक्षित भूमिका निभा सकें।

लोक उद्यम क्षेत्र की उपर्युक्त समस्याओं के समाधान के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं-

1. लोक-उद्यमों के संचालक मण्डल में व्यावसायिक कुशलता प्राप्त व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाना चाहिए न कि भारतीय प्रशासनकि सेवा के अधिकारियों को।
2. कार्यक्षमता में सुधार करने की आवश्यकता है।
3. क्रय-विक्रय की नीतियों को आकृष्ट तथा विकसित करने के लिए विशेष प्रयास की जाए।
4. सार्वजनिक उद्यमों के संरचनात्मक सुधार की आवश्यकता पर जोर दी जाए जिसका आधार- आधुनिकीकरण, कार्यक्षमता में वृद्धि तथा निजीकरण प्रोत्साहन ताकि, शेष सार्वजनिक क्षेत्र को कुशल और प्रतियोगी बानाया जा सकें।
5. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में 'निष्पादन बजट' तथा 'शून्य आधार बजट' को आरम्भ करने की आवश्यकता है।
6. आंतरिक लेखा-परीक्षा पद्धति को मजबूत बनाने की आवश्यकता है जिससे कि यह सुस्थितता, पर्याप्तता, निर्दोष वित्तीय सिद्धान्तों के अनुप्रयोग तथा संचालनात्मक नियंत्रण के पुनरीक्षण में समर्थ हो।
7. उत्पादकता वृद्धि के प्रयत्न किए जाने चाहिए।
8. अधिकारियों को प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिए।
9. प्रबंधकीय व्यवस्था में सुधार तथा प्रबंध संस्कृति को बढ़ावा देना चाहिए।
10. उदारवादी नीतियों को प्राथमिकता देना।
11. प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन देना।
12. सार्वजनिक उद्यमों का सही समय पर निर्णय लेने के पर्याप्त अधिकार मिलने चाहिए।
13. राजनीतिक हस्तक्षेप कम से कम होने चाहिए।
14. विदेशी निर्भरता कम करनी चाहिए।
15. भारत में तकनीकी क्षेत्रों की खोज, वैज्ञानिक पद्धति व अनुसंधान को प्रोत्साहित करना चाहिए।
16. संसद द्वारा नियन्त्रण नीति निर्माण में रखा जा सकता है लेकिन उपनीतियाँ बनाने में उपक्रम को स्वतन्त्र होना चाहिए।
17. लक्ष्यों की स्पष्टता होनी चाहिए।
18. प्रबन्धक वर्ग तथा श्रमिकों के मध्य सामंजस्य को बढ़ाया जाना चाहिए।
19. वस्तु सूची वैज्ञानिक विधि से तैयार की जानी चाहिए।
20. बेहतर भण्डारण सुविधायें होनी चाहिए ताकि सामग्री को अच्छे आकार तथा गुण में रखने में सहायता मिल सके।

21. मूल्य निर्धारण नीति में सरकार द्वारा जारी सम्पूर्ण मार्गदर्शक सिद्धान्तों, प्रत्येक उद्यम की व्यक्तिगत परिस्थितियों तथा राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए निर्धारित किए जाने चाहिए।

इसके अतिरिक्त प्रशासनिक सुधार आयोग तथा संबंधित अध्ययनों ने समय-समय पर सरकार का ध्यान इन विभिन्न प्रशासनिक समस्याओं की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया है तथा अपने-अपने सुझाव प्रस्तुत किए है जिस पर सरकार गंभीरता से विचार भी कर रही है।

सार्वजनिक क्षेत्र के विकास तथा उनकी समस्याओं के समाधान हेतु 9 अप्रेल, 2018 को विज्ञान भवन नई दिल्ली में आयोजित केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सम्मेलन- विजन 2022 को सम्बोधित करते हुए प्रधान मंत्री श्री नरेन्द दामोदर दास मोदी ने स्पष्ट रूप से कहा कि सरकार CPSEs से जुड़ी समस्त समस्याओं को दूर करने के लिए लगातार काम कर रही है जिसके तहत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र से जुड़े संस्थानों को (Operatl onl Freedom) संचालन स्वतंत्रता दे दी है ताकि वो अपने-अपने क्षेत्रों में बेहतर प्रदर्शन कर देश के सामाजिक-आर्थिक विकास को तीव्र गति प्रदान कर सकें।

अभ्यास के प्रश्न-

1. सार्वजनिक क्षेत्र में वित्तीय संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
2. सार्वजनिक क्षेत्र में बीमार इकाईयों की प्रमुख समस्याओं को इंगित कीजिए।
3. सार्वजनिक क्षेत्र में उत्पादन संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
4. सार्वजनिक क्षेत्र से संबंधित समस्याओं के सामाधान हेतु कम से कम चार सुझाव प्रस्तुत करें।

13.3 सारांश

भारत में सार्वजनिक उद्यम आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं यद्यपि निजी क्षेत्र भी विद्यमान है और सरकार इसे प्रोत्साहित भी कर रही है। इसलिए यह आवश्यक है कि सार्वजनि उद्यमों की प्रशासनकि कमियाँ और दुर्बलताओं को शीघ्रतिशीघ्र दूर किया जाए। सार्वजनिक उद्यमों के निष्पादन में सुधार के एक प्रयास में विभिन्न सरकारी तथा गैर-सरकारी अध्ययन रिपोर्टों ने सार्वजनिक उद्यमों के कुशल कार्य संचालन हेतु उपने सुझाव प्रस्तुत किए हैं। इसमें मुख्यतः इस ओर इशारा किया गया है कि किसी सार्वजनिक क्षेत्र की इकाई का निष्पादन तथा सफलता अंततः संगठन की प्रशासनिक प्रबंधकीय सामर्थ्य पर निर्भर करती है। प्रशासनिक मंत्रालयों और सार्वजनिक उद्यमों के मध्य समझबूझ स्मृतिपत्र व्यवस्था (एम0ओ0यू0) के प्रभावी होने के लिए सुधार आवश्यक है। कार्यक्षमता, सक्रिय नेतृत्व, कार्य सम्पादन क्षमता एवं नवचिन्तन प्रोन्नत करने के लिए विशिष्ट उद्यम स्तरों पर प्रबंध व्यवहार में शीघ्र परिवर्तन की आवश्यकता है। इनकी जवाबदेही सुनिश्चित होनी चाहिए। नीति निर्माताओं को चाहिए कि सरकार में एक नवीन संस्थात्मक क्षमता निर्मित करें जो पर्यावरण परिवर्तन एवं बाजार शक्तियों के प्रति संवेदनशील हो। इन सब के अतिरिक्त वित्त, कार्मिक प्रशासन तथा उत्पादन एवं विपणंन से संबंधित कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रशासनकि समस्याएँ है जिनका निराकरण सरकार को अतिशीघ्र करना चाहिए। जब तक सार्वजनिक क्षेत्र के प्रशासनिक ढ़ाँचे में सुझाए गए सुधरात्मक उपायों को सही तरीके से नहीं अपनाया जाता तब तक घोषित उद्देशों को पूरा करने में सफलता नहीं मिल सकती है।

13.4 शब्दावली

निपटान- पुराने माल का विक्रय, संवर्धन- वृद्धि करना, वस्तु सूची- इससे अभिप्राय संगठन की परिसम्पत्तियों के उस भाग से है जिसमें उत्पाद के निर्माण में प्रयुक्त कच्चा माल, निर्माण की प्रक्रिया में प्रयुक्त वस्तुएँ तथा उपभोक्ता को वितरण के लिए तैयार परिष्कृत वस्तुएँ आती है।

निष्पादन बजटिंग- निष्पादन बजट का अभिप्राय उस प्रविधि से है जो सरकारी कार्यवाही को कार्यो, कार्यक्रमों, क्रियाकलापों के रूप में प्रस्तुत करती है। कार्य सम्पादन के इस अर्थपूर्ण वर्गीकरण से सरकारी क्रियाकलापों को बजट में वित्तीय तथा भौतिक रूप में अंकित किया जाता है इससे निवेश तथा उत्पादन में समुचित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है तथा प्रशासन की उपलब्धियों को लागत के सम्बंध में आंका जा सकता है। शून्य आधार बजट- इसमें पिछले वर्ष के बजट को आधार नहीं माना जाता। इसके अनुसार सभी व्ययों, वर्तमान तथा भविष्य के लिए अनुमानित पर विचार- विमर्श किया जाता है। वर्तमान व्यय के औचित्य पर भी विचार-विमर्श करने का अभिप्राय है कि आगामी वर्ष के बजट के लिए कोई आधार नहीं है। इसलिए इसे शून्य आधार बजट कहा जाता है।

सामग्री प्रबंध-इसके अंर्तगत सामग्री संचलन, उत्पादन, नियत्रंण, वस्तु सूची नियंत्रण, भण्डारण, सामग्री व्यवस्था तथा क्रय आदि से संबद्ध क्रियाएँ आती है।

आंतरिक लेखा परीक्षा- यह किसी भी संगठन का ऐसा भाग है जिसके अंर्तगत यह सुनिश्चित करने के लिए लेखों की परीक्षा की जाती है कि वे ठीक प्रकार से तैयार किए जाते, किया गया व्यय निर्धारित सीमाओं के अन्दर हैं तथा वित्तीय नियमों और विनियमों का पालन किया जाता है। आंतरिक लेखा परीक्षा का कार्य-क्षेत्र संगठन के प्रबंध वर्ग द्वारा निर्धारित किया जाता है।

सी0पी0एम0- यह एक योजना तकनीक है जो आरेख द्वारा किसी क्रिया अथवा परियोजना से संबंद्ध कार्य निष्पादन अथवा पूर्ण किए जाने के क्रम को इंगित करती है। यह परियोजना को उसकी अंगभूत घटनाओं के द्वारा स्पस्ष्ट करती है। आरेख के रूप में क्रियाओं अथवा घटनाओं को क्रम देकर तथा उसकी परस्पर निर्भरता प्रदर्शन द्वारा यह तकनीक व्यक्ति को क्रांतिक अथवा महत्वपूर्ण घटनाओं अथवा क्रियाओं के पहचानने में समर्थ बनाती है जिनमें विलम्ब से परियोजनाओं की सम्पूर्ण समाप्ति में विलम्ब हो सकता है। यह तकनीक इंजीनियरी, निर्माण अथवा संबद्ध परियोजनाओं की योजना, प्राक्लन, व्यवस्थापन तथा नियंत्रण में प्रयोग की जाती है।

13.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. इसका उत्तर 13.2.1 में निहित है। **2.** इसका उत्तर 13.2.1 में निहित है। **3.** इसका उत्तर 13.2.1 में निहित है। **4.** इसका उत्तर 13.2.2 में निहित है।

13.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय प्रशासन, अमरेश्वर अवस्थी एवं आनन्द प्रकाश अवस्थी।
2. लोक प्रशासनः नये क्षितिज, इन्द्रजीत कौर।
3. भारतीय प्रशासन, श्रीराम माहेश्वरी।
4. Adrninistration of Public Enterprises in India, Jagdish Prakash, Nageshwar Rao, Mata Badal Shukla
5. वित्त प्रशासन, पी0एन0 गौतम
6. विकास प्रशासन, (ई0पी0ए0-3, इकाई- 29, इग्नू)

13.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वित्त प्रशासन, पी0एन0 गौतम।
2. भारतीय प्रशासन, अमरेश्वर अवस्थी एवं आनन्द प्रकाश अवस्थी
3. विकास प्रशासन, (ई0पी0ए0- 3, इकाई- 29 इग्नू)

13.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख प्रशासनकि समस्याओं का विस्तृत विवरण दें।
2. सार्वजनिक क्षेत्र की प्रशासनिक समस्याओं को दूर करने के सुधारात्मक उपाय या सुझाव प्रस्तुत करें।

इकाई- 14 अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) की भूमिका

इकाई की संरचना

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 नौकरशाही: पृष्ठभूमि

14.3 अधिकारीतंत्र: अर्थ

14.4 नौकरशाही के लक्षण

14.5 नौकरशाही की भूमिका

 14.5.1 परामर्श

 14.5.2 कार्यक्रम तथा करणीय योजना

 14.5.3 उत्पादन

 14.5.4 विद्यायनी एवं न्यायिक शक्तियाँ

 14.5.5 संगठन तथा विधियाँ

14.6 प्रशासनिक चिन्तक और नौकरशाही की भूमिका

14.7 मैक्स वेबर और नौकरशाही

14.8 नौकरशाही और मार्क्स

14.9 हीगेल और नौकरशाही

14.10 एन्थनी डाउन्स और नौकरशाही

14.11 समालोचना

14.12 सारांश

14.13 शब्दावली

14.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.15 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

14.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.17 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

नौकरशाही या अधिकारीतंत्र आधुनिक लोकतांत्रिक समाज की एक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य संस्था है। यह लोक प्रशासन का सार और शासन का आधार है। नौकरशाही को अक्सर उसकी नकारात्मक भूमिका के कारण घृणा की नज़र से भी देखा जाता है, लेकिन उसके औचित्य से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। नौकरशाह अथवा सेवी वर्ग अपनी योग्यता, दक्षता, प्रशिक्षण, ज्ञान और अनुभव के आधार पर लोक प्रशासन की बागडोर संभालता है और जन-कल्याण के लिए निति-निर्माण की प्रक्रिया से लेकर विधिक एवं स्वीकृत नीतियों के कार्यान्वयन तक अपनी अहम भूमिका अदा करता है राजनीतिक नेतृत्व जो चुनाव के दौरान जनता से वायदे करता है, सत्ता प्राप्ति के बाद उनको निभाने के लिए पूरी तरह से सेवी गर्व पर निर्भर रहता है, क्योंकि नीतियों के निर्माण और उनके क्रियान्वयन का आदि और अन्त वही है।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नौकरशाही अथवा अधिकारी की आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में भूमिका को समझ पायेंगे। ।
- नौकरशाही का अर्थ और उसके विशिष्ट लक्षण क्या हैं? इसे जान पायेंगे।
- नौकरशाही के कार्य क्या हैं? जिनको वह अपनी भूमिका में अंजाम देती है, को समझ पायेंगे।
- वास्तव में शासन और प्रशासन में नौकरशाही की भूमिका है क्या? इसे जान पायेंगे।
- प्रशासनिक चिन्तकों ने नौकरशाही की विवेचना किस प्रकार की है, उनका नकारात्मक और सकारात्मक दृष्टिकोण क्या है? इस पर समझ पैदा कर पायेंगे।

14.2 नौकरशाही: पृष्ठभूमि

अधिकारीतंत्र अथवा नौकरशाही की भूमिका को समझने से पूर्व नौकरशाही का अर्थ, उसका स्वरुप और उसके चरित्र को समझना होगा। इस सम्बन्ध में हमे तीन मुख्य चिन्तकों का अध्ययन करना होगा: (1) मैक्स वेबर, (2) कार्लमार्क्स, तथा (3) एन्थनी डाउन्स। इन चिन्तकों पर विचार करने से पूर्व, यह याद रखना होगा कि डी0गोरने वह पहला फ्रांसीसी अर्थशास्त्री था जिसने शब्द 'ब्योरियोक्रेसी' ठनतमंनबतंबल का 18वीं सदी के उत्तार्द्ध में प्रयोग किया। ब्रिटेन में यह शब्द उन्नीस वीं सदी में जे0एस0 मिल ने अपने लेखों में प्रयोग किया तथा उसके बाद मोसका और मिशेल ने इस विषय पर लिखना आरम्भ किया। लेकिन अधिकारीतंत्र या 'ब्योरियोक्रेसी के विषय को एक क्रमबद्ध सिद्धान्त का रुप देने का श्रेय केवल जर्मन अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री एवं समाजशास्त्री मैक्स वेबर (1864-1920) को कुछ इस तरह जाता है कि उसके नाम को नौकरशाही का पर्यायवाची तथा उसके सिद्धान्त को वेबोरियन मॉडेल कहा जाता है।

यह कहना अनुचित होगा कि अधिकारीतंत्र एक आधुनिक अवधारणा है। वास्तव में ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व चीनी चिन्तक कन्फ्यूशियस ने चीनी साम्राज्य के सफ़ल संचालन के लिए एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था की वकालत की थी जो कुशाग्र सलाहकारों और कुशल लोक अधिकारियों पर आधारित हो। ऐसी ही सिफारिश कौटिल्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में की थी। 'अर्थशास्त्र' वास्तव में लोक प्रशासन पर एक महान ग्रन्थ माना जाता है।

14.3 अधिकारीतंत्र: अर्थ

यदि शब्द 'अधिकारीतंत्र' का प्रयोग किया जाये तो उसका सीधा अर्थ होगा: अधिकारियों का शासन और यदि 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग किया तो इसका अर्थ होगा सरकारी नौकर जिनकी मानसिकता शाहों जैसी है। अपने दोनों अर्थों में यह शब्द बदनाम और अप्रिय है तथा लोकतंत्र और कल्याणकारी राज्य की भावना के विपरीत है। ब्राउन ने ठीक ही कहा है कि ''एक कल्याणकारी राज्य में प्रजातंत्र एक धोखा है, वास्तव में नौकरशाही ही शासन करती है।''

'Bureaucracy'(नौकरशाही) शब्द फ्रेंच भाषा के शब्द 'Bureau' (ब्योरियो) से बना है, जिसका अर्थ है ''डेस्क'' या ''लिखने की मेज'' या फिर ''एक छोटा कमरा'' जिसे दफ़्तर कहते हैं। अतः वह कमरा जिसमें बैठकर अधिकारी प्रशासन चलाये उसे नौकरशाही कहा जायेगा। नौकरशाही का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है- व्यापक अर्थ में नौकरशाही से तात्पर्य अधिकारी वर्ग के ऐसे समूह से है जिसका उद्देश्य प्रशासन चलाना होता है और जहाँ प्रशासनिक अधिकारियों का वर्गीकरण होता है। इस वर्गीकरण का आधार प्रशासनिक कार्य होते हैं। संगठन में पद सोपनीय व्यस्था होती है, जिसके आधार पर विभागों अथवा ब्योरोज का निर्माण होता है। सीमित अर्थ में नौकरशाही कर्मचारियों का वह समूह है जिसका संगठन पद सोपान के सिद्धान्त के अनुसार होता है और जो प्रभावशाली सार्वजनिक नियंत्रण से मुक्त है। नौकरशाही की ख़ास विशेषता यह है कि यहाँ कर्मचारी नियमों का

अक्षरशः पालन करते हैं, भले ही परिस्थितियाँ कुछ भी हों और उनकी मांग कुछ भी हो। वे अपने विचारों, भावनाओं और निर्णयों को ठीक समझते हैं। नौकरशाही के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पहलू हैं-

- लास्की ने लिखा: नौकरशाही वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत अधिकारियों के हाथों में नियंत्रण इस सीमा तक होता है कि सामान्य नागरिकों की स्वतन्त्रताएं संकट में पड़ जाती हैं। यह नौकरशाही का नकारात्मक पहलू है।
- लेकिन लार्ड एक्टन ने लिखा: ''नौकरशाह वह व्यक्ति है जो अपने अनुभव, ज्ञान तथा उत्तरदायित्व के लिए प्रसिद्ध है।'' यह नौकरशाही का सकारात्मक पहलू है।

संक्षेप में नौकरशाही प्रशासन का सार है, संगठन का विशेष रुप है, व्यापक शासकीय व्यवस्था है, एक मानसिकता है इसलिए निरकुंश है। यह दूषित शासन व्यवस्था है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की विरोधी है।

14.4 नौकरशाही के लक्षण

भले ही नौकरशाही शब्द की खिल्ली उड़ाई जाती हो या उसको एक दूषित और घृणित संस्था माना जाता हो तथा उसको लाल फ़ीताशाही, दफ़्तरीपन, भ्रष्टाचार, अकुशलता, अपठनीयता, नीरसता तथा निरकुंशता का पर्यायवाची माना जाता हो, लेकिन वास्तविकता यह है कि वह अपने अतीत या वर्तमान में एक अपरिहार्य प्रशासनिक संस्था रही है, आज भी है, और रहेगी भी।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि नौकरशाही तो एक हास्यास्पद शब्द है लेकिन अपने सकारात्मक अर्थ में नौकरशाही को लोक सेवा या सिविल सेवा और नौकरशाहों को लोक सेवक या सिविल सर्वेन्ट (Civil Servantes) कहना सभ्यता और संस्कृति का पर्यायवाची है। इसी आधार पर नौकरशाही या सिविल सेवा के लक्षण सामने आते हैं जो मैक्स वेबर, फ्रीडरिच तथा एन्थानी डाउन्स के लेखों से स्पष्ट होते हैं, जो इस प्रकार हैं- 1. कार्यों का निश्चित बटवांरा होना।, 2. आदेश जारी करने की सत्ता का स्थायी विभाजन होना। 3. निर्धारित योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ। 4. संगठन का आधार पद सोपान। 5. अनुशासित प्रशासनिक आचरण। 6. संगठन के स्पष्ट उद्देश्य। 7. शासन की नीतियों एवं निर्णयों का क्रयान्वयन, अनुसरण एवं पालन। 8. प्रशासन में निरन्तरता, एकता एवं दृढ़ता। 9. प्रशासन का आधार नीतियों के साथ विवेक और औचित्य। तथा 10. सिद्धान्त और व्यवहार में एक बड़ा अन्तर।

हरमन फ़ाइनर ने अधिकारीतंत्र अथवा सिविल सेवा की जो परिभाषा दी है वह भी सिविल सेवा के लक्षणों को इंगित करती है। उसके अनुसार सिविल सेवा ''एक व्यावासयिक, स्थायी, वेतनभोगी तथा निपुण कर्मचारियों द्वारा निर्मित संगठन है।'' इस परिभाषा से अधिकारीतंत्र के चार लक्षण सामने आते हैं-

1. **व्यावसायिकता-** अधिकारीतंत्र या सिविल सेवा प्रशिक्षित, निपुण, योग्य एवं दक्ष अधिकारियों की एक व्यावसायिक श्रेणी है। प्रशासन चलाना इनका व्यावसायिक श्रेणी है। प्रशासन चलाना इनका व्यवसाय है। इस व्यवसाय का अर्थ व्यापार या कामगारी से नहीं है। यहाँ उद्देश्य है शासन की निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में सहयोग देना, उनको कानूनी रुप देना और उनका उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रयान्वयन करना।
2. **पद सोपानीयता-** इसका अर्थ यह है कि शासन में प्रशासकों का एक संगठन होता है, जिसमें पद क्रम होते हैं, जिनका स्वरुप पिरामिड या त्रिभुज जैसा होता है। चोटी पर सर्वोच्च अधिकारी तथा श्रेणी के अनुसार तल तक अधिकारियों/कर्मचारियों की संख्या बढ़ती जाती है। ऊपर से आदेश आते हैं और प्रत्येक स्तर पर उनका पालन होता है। इस तरह स्पष्ट पद होते हैं, स्पष्ट नियुक्तियाँ होती है, स्पष्ट उत्तरदायित्व होते हैं और उन पदों के अनुसार निश्चित वेतन और नियमानुसार प्रोन्नति या प्रोमोशन होता है। अतः पदसोपानीयता में कोई टकराव नहीं होता है, एकता और समरस्ता बनी रहती है। संगठन का यह सबसे अधिक तार्किक सिद्धान्त है।

3. **निष्पक्षता और गुमनामी-** पक्षपात रहित प्रशासन लोक-सेवा की विशेषता है। लोक सेवक नियमों के अनुसार काम करते हैं न कि राजनीतिज्ञों के निर्देशों या इच्छा के अनुसार। राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहने और जाति या धर्म विशेष के पक्ष में कार्य न करने में ही उनकी गरिमा बनी रहती है। वे राज्य के सेवक हैं न कि किसी दल विशेष के। 'ग्लैडन' का कहना है, ''ऐसे सिविल सेवकों की धारणा बिल्कुल आधुनिक है, जो तटस्थ विशेषज्ञों का व्यावसायिक समूह है तथा जो बिना दलीय भावना के तथा बिना पक्षपात के राष्ट्र की सेवा करता है।''

   लोक सेवक जो कुछ भी करे उसका उद्देश्य जनहित होना चाहिए न कि नाम कमाने या शोहरत पाने की इच्छा। वह गुमनाम है और गुमनामी ही उसकी विशेषता है। यदि वह अच्छा काम करेगा तो उसका श्रेय मंत्रियों को मिलेगा, यदि वह कुछ बुरा करेगा तो उसका अपन्श्रेय भी मंत्रियों को मिलेगा। नाम या बदनामी उसके हिस्से में नहीं आयेगी। इसलिए निष्पक्ष रहकर, निष्ठा के साथ सर्म्पक भावना से काम करना और ख़ामोश तथा गुमनाम रहना ही उसकी परम विशेषता है।

   हरमैन फाइनर का कहना है,''सिविल सेवक लाभ कमाने के लिए नहीं है। इनको वेतन मिलता है, जोखिम उठाकर धन कमाना इनका काम नहीं है। सिविल सेवा सार्वजनिक है, इसलिए यह जवाब देह है। यह छान-बीन के अधीन है। इनके विभागों से सम्बद्ध मंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी हैं। उनकी आलोचना हो सकती है, इसलिए सिविल सेवक जोखिम नहीं उठाते हैं। वे जानते हैं कि वे अपरिहार्य हैं, इसीलिए वे निष्पक्ष रहकर काम करते हैं।''

4. **विशिष्ट मानसिकता-** चयनित होने, प्रशिक्षण प्राप्त करने, नियुक्ति पाने और पद पाने के तुरन्त बाद लोक सेवकों में स्वतः एक मानसिकता पनपने लगती है- सर्वोच्चता (superiority) की मनोवृत्ति जो उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और आचरण को प्राभावित करती है। वास्तव में इसी मानसिकता को नौकरशाही कहा जाता है। अपनी अपरिहार्यता और सर्वोच्चता के एहसास के कारण लोकसेवक दंभी, अहंकारी और स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। इसी कारण चिन्तकों ने उन्हें नौकरशाह का नाम देकर उनका मजाक उड़ाया है। इनकी विशिष्ट मानसिकता के कारण ही इन पर लाल फीताशाही, अक्षमता, अकुशलता तथा अपव्ययीता का आरोप लगाया जाता रहा है।

सिविल सेवक की मानसिकता ''नौकरशाह'' जैसी होती है इसमें संदेह नहीं है। यह अपनी योग्यता के आधार पर चयनित होते है, अपने प्रशिक्षण के आधार पर पदासीन होते और अपने अनुभव, निपुर्णता तथा तकनीकी ज्ञान के आधार पर प्रोन्नत होते हैं, यह स्थायी होते हैं। इनकों एक निश्चित पर्याप्त वेतन मिलता है। सेवा समाप्ति के बाद पेंशन मिलती है। इनको नौकरी के दौरान जीवन की वे सारी सुख-सुविधायें मिलती हैं जिनकी अन्य व्यावसाय के लोग मात्र कल्पना कर सकते हैं या जोखिम उठाकर उन्हें प्राप्त रहते हैं यह सत्ताधारी राजनीतिक दल के दास नहीं है। यह केवल अपनी तैनाती के लिए सत्ताधारियों पर निर्भर करते हैं, अपने अस्तित्व के लिए नहीं इसीलिए यह जोखिम नहीं, उठाते हैं। केवल अपने वर्तमान से संतुष्ट तथा अपने भविष्य के लिए अश्वस्त रहते हैं। भले ही निर्णय राजनीतिज्ञ लें, नीतियों का तकनीकी निर्माण यह करते हैं, क्योंकि उनका कार्यान्वयन करना इन्हीं की जिम्मेदारी हैं। संक्षेप में सच यह है कि यही सरकार हैं और सरकार यही चलाते हैं। इन ख़ूबियों के कारण यदि इनमें सर्वोच्चता की कोई मानसिकता पनपती है, तो वह स्वाभाविक है।

14.5 नौकरशाही की भूमिका

व्यावसायिक वर्ग के रुप में सिविल सेवकों का होना आधुनिक सभ्यता की पहचान है। इनकी संस्था स्वयं सेवकों में एक संस्कृति है। यह आज के सन्दर्भ में अपरिहार्य हैं, इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि आधुनिक राज्य लोकतंत्रीय कल्याणकारी राज्य हैं दूसरे, आज आधुनिकतावाद का युग है। इसका नतीजा है विकास की

परिकल्पना जो राज्य के कार्यों को विस्तार देती है। इसी कारण सिविल सेवकों का महत्व और उनकी भूमिका बढ़ जाती है। इनकी मांग पूंजीवादी, साम्यवादी तथा सामन्तवादी सभी राज्यों में एक जैसी है।

प्रत्येक देश में राजनीतिक कार्यकारी तथा सिविल सेवा के कार्यों में अन्तर रखना आसान नहीं है। राजनीतिक सत्ताधारियों द्वारा लिए गये निर्णयों का आधार सिविल सेवकों द्वारा तैयार मसौदा ही होता है। इसलिए नीति निर्धारक तथा सिविल सेवक एक दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं। इन सम्बन्धों की घनिष्ठता से ही शासन चलता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों के कार्यों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों के अपने-अपने कार्यक्षेत्र हैं और सीमायें हैं। उनका उल्लंघन आसान नहीं है। नीति-निर्माण का काम राजनीतिक सत्ताधारियों (मंत्रियों) का है। यह उनका अधिकार है और उत्तरदायित्व भी है। वे उचित एवं अनुचित के लिए जिम्मेदार हैं, जवाबदेही उनकी है। सिविल अधिकारी नीति-निर्माण में उनकी मदद करते हैं और जब निर्मित नीतियों एवं निर्गत निर्णय सामने आते हैं तो सिविल सेवक उनको अंजाम तक पहुँचाते हैं, उनके अनुसार प्रशासन चलाते हैं, जन-समाज तक उन्हें पहुँचाते हैं और समाज की प्रतिक्रिया से शासन को अवगत (फीडबैक) कराते हैं। इस पूरी प्रक्रिया को छः विषयों में बाँटा जा सकता है-

14.5.1 परामर्श

राजनीतिक कार्यकारी अधिकारियों (मंत्रियों) को परामर्श देना सिविल सेवा का पहला काम है। तकनीकी या कानूनी बारीकियों में सत्ताधारी लगभग कोरे होते हैं, जबकि सिविल सेवी इस प्रकार के ज्ञान का भण्डार होते हैं। नीति-निर्माण की प्रक्रिया में अधिकारी सत्ताधारियों को तकनीकी सूचना प्रदान करते हैं जिनपर राजनीतिक अधिकारियों को विशवास होता है, यहाँ रेम्ज़े म्यूर के कथन को याद रखना होगा, ''अधिकांश स्थितियों में उसे (मंत्री को) विभाग के अत्याधिक जटिल कार्यों के बारे में कुछ भी मालूम नहीं हैं। जब वह मुधर भाषण देता है तब अधिकारी चुपचाप कार्यालय की समस्याओं के अध्ययन में लगे रहते हैं। वे उसके सामने ऐसी पेचीदा समस्यायें प्रस्तुत करते हैं जिनके बारे में वह कुछ नहीं जानता असाधारण या मूर्ख व्यकित को छोड़कर सभी निन्यानवे मामलों पर यह अपनी सहमति प्रकट करते हुए अंकित रेखा पर हस्ताक्षर कर देते हैं। परामर्श सम्बन्धी कुछ अनिवार्य बातों पर ध्यान दिया जाता है-

- जटिल समस्याओं के समाधान के लिए निश्चित रेखायें (उपचार, उपाय) खींची जायें जो तर्कसंगत हों, लोकमत और वातावरण के अनुकूल हों जिन्हें लागू किया जा सके और यदि प्रतिकूल हों तो समंजन किया जा सकें।
- प्रशासनिक कार्यों से ऐच्छिक परिणाम निकलें तथा उनमें स्थायित्व हो।
- प्रशासनिक कार्यों का प्रभाव तत्कालीन भी हो तथा दूरगामी भी। उनके कार्यों से भविष्य सुरक्षित रहे, यह देखना प्रशासकों का उत्तरदायित्व है। वे स्थायी हैं, जबावदेह हैं, अच्छे और बुरे परिणामों का सामना उन्हीं को करना है। वे नये समाज के स्त्रोत हैं, इसलिए उनके सुझाव तर्क संगत और भविष्य परक होना चाहिए।
- मंत्रियों पर सिविल सेवा का प्रभाव तीन बातों पर निर्भर करता है- (क) यह प्रभाव नये मंत्रियों पर होता है, (ख) निपुण और अनुभवी अधिकारी मंत्री पर अधिक प्रभाव डाल सकता है, तथा (ग) सिविल सेवक रुढ़िवादी दल के सत्ताधारी पर केवल विनियामक फैसले लेगा, लेकिन यदि सत्ताधारी क्रांतिकारी हो तो सिविल सेवक अधिक गतिशील, जोखिम वाला और सक्रिय होगा।

14.5.2 कार्यक्रम तथा करणीय योजना

जिस तरह कार्यपालिका सम्बन्धी विभिन्न विषयों के विभिन्न विभाग हैं, जिनके मुखिया मंत्री होते हैं और अपने मंत्रालयों नीतियाँ निर्धारित करते हैं, उसी तरह सिविल सेवकों का काम योजना बनाना होता है। इसी योजना के आधार पर संसद या विधान मण्डल अधिनियम बनाता है। इस अधिनियम को कार्यान्वित करने के लिए नियमों-विनियनों की आवश्यकता होती है। जिसमें सिविल सेवक दक्ष होते हैं। कार्यक्रम योजना ही नीति निर्धारण का सब से महत्वपूर्ण पहलू है। कार्यक्रम योजना स्पष्ट हो, उलझी हुई न हो यह देखना जरुरी है। यह विस्तृत और स्पष्ट अध्ययन पर आधारित हो। नीति की सफलता कार्यक्रम योजना पर निर्भर करेगी। इसका अर्थ यह है कि कार्यक्रम तथा करणीय योजना (Operational Planning) की संरचना तैयार करने में (1) सिविल सेवक अपनी तकनीकी दक्षता का परिचय देते हैं, (2) योजना का ढाँचा तैयार करते हैं, तथा (3) योजना के निष्पादन में भाग लेते हैं। इसी प्रक्रिया को ''ऑपरेशनल प्लानिंग'' कहा जाता है।

14.5.3 उत्पादन

यहाँ उत्पादन का अर्थ वस्तुओं के उत्पादन से नहीं है। यहाँ उत्पादन का अर्थ सेवाऐं (Services) पैदा करना। सिविल सेवा का काम विस्तृत अर्थों में सेवाएं प्रदान करना है। इसका सीधा अर्थ यह है कि कार्यालयों में काम होता है। यह काम एक घण्टे में कितना होता है, यदि अधिक तो उत्पादन अधिक, यदि कम तो उत्पादन कम। इसी तरह एक दिन, एक, सप्ताह, एक महीने और एक वर्ष में कितना काम होता है, इसका एक मापदण्ड है। यदि उस मापदण्ड के अनुसार है तो काम ठीक, यदि कम है तो उत्पादन कम है। उदाहरण के लिए बच्चों को शिक्षित करने, पोलियों कार्यक्रम को पूरा करने, बेरोजगारी दूर करने, कृषि उत्पादन को बढ़ाने इत्यादि तरह-तरह के विषय हैं, जिनको एक निश्चित अवधि में पूरा करना होता है। प्रशासन का यह दायित्व है कि वह यह सुनिश्चित करे कि लक्ष्य के अनुसार निश्चित अवधि में यह कार्यक्रम (उत्पादन) पूरा हुआ या नहीं।

इसी आंकलन से संगठन की क्षमता, कर्मचारियों की कार्य-कुशलता, कार्यक्रम की प्रभावशीलता का पता लगता है। अधीनस्थ कर्मचारियों पर लगाम कसने का और उन्हें सजग एवं सक्रिय रखने का सिविल सेवकों के सामने यह सर्वोत्तम मापदण्ड है।

परन्तु यहाँ अधिकारियों को भी चुस्त-दुरुस्त रहना होगा, उनको अधीनस्थों पर पैनी नज़र रखनी होगी। पर्यवेक्षण की विधि अपनानी होगी। सूक्ष्म पर्यवेक्षण जरुरी है। साथ ही अधिकारियों को अधीनस्थों में सहयोग, उत्साह, ऊर्जा तथा निष्ठा की भावना को प्रोत्साहित करना होगा।

14.5.4 विधायी एवं न्यायी शक्तियाँ

आज के राज्य लोकतांत्रिक होने के साथ-साथ कल्याणकारी भी है, जिनकी वजह से राज्य के कार्यों का विस्तार हुआ है। जिसके लिए नित-नये कानूनों की आवश्यकता होती है। लेकिन संसद या विधान मण्डलों के पास विधायनी कार्यो के लिए न तो समय है और न सामर्थ्य। इस लिए वह अधिकतर कानूनों को बनाने की शक्ति कार्यपालिका को सौंप देती है। जिसे ''शक्ति का हस्तांत्रण (Delegation of Power) कहा जाता है।'' अन्ततः कानून बनाने का काम सिविल सेवकों के पास पहुँच जाता है। वे कानूनों को बनाकर मंत्रालयों के अनुमोदन के साथ विधान सभा के पटल तक (सम्बन्धित मंत्री के द्वारा) पहुँचा देते हैं। उसकी में ऐसे अनेक कानूनी प्रारुपों को विधान मण्डल की स्वीकृति मिल जाती है। और इस तरह संसद या विधान मण्डल का समय बच जाता है। यह सब सिविल सेवा की विधायी शक्ति के कारण होता है, जो उसको विधान मण्डल प्रदत्त करता है।

इसी तरह प्रशासनिक न्याय सम्बन्धी शक्ति (Administrative judicatory Power) है। प्रशासनिक न्याय का अर्थ है कि प्रशासनिक विभाग को न्यायिक तथा अर्धन्यायिक शक्तियाँ प्रदत्त की गई हैं। तकनीकी विकास तथा

कल्याणकारी राज्य की भावना के उदय के साथ इस शक्ति का महत्व बढ़ गया है। इसका सीधा अर्थ यह है कि प्रशासकीय विभागों के अपने कानून हैं जिनके अनुसार विभागीय फैसले होते हैं।

14.5.5 संगठन तथा विधियाँ

कार्य करने के उद्देश्य होते है। इनको पूरा करने के निश्चित ढंग या तरीके होते हैं जो सिद्धान्तों पर आधारित हैं। यदि निश्चित ढंगों के साथ काम होगा तो प्रयत्न बेकार नहीं जायेंगे और लक्ष्य पूरा होगा। उपलब्ध साधनों का भी लाभ उठाया जा सकेगा। यह कार्य उन यूनिटों की सहायता से किया जाता है जिन्होंने संगठन तथा कार्य विधियों में विशेषता प्राप्त की हुई है। इस नियम या कार्य विधि को 'ओ' तथा 'एम' (O&M) कहा जाता है।
उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सिविल सेवक आधुनिक राज्य में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। वे आँकड़ें एकत्रित करते हैं, अनुसंधान करते हैं, मंत्रियों को परामर्श देते हैं तथा योजनायें बनाते हैं। उनके काम का महतव रेम्ज़े म्यूर के इन शब्दों से लगाया जा सकता है, ''संसद मंत्रियों के हाथ में खिलौना है तथा मंत्री सिविल सेवकों के हाथ में खिलौना हैं।''

14.6 प्रशासनिक चिन्तक और नौकरशाही की भूमिका

नौकरशाही आधुनिक लोकतांत्रिक समाज की एक ऐसी संस्था है, जिसके औचित्य को उसके कटु आलोचक भी स्वीकार करते हैं। आज का समाज पूरी तरह से आर्थिक हैसियत प्राप्त कर चुका है। भौतिक दृष्टि से लोगों का जीवन सुखमय हो, समाज स्वस्थ्य, शिक्षित और रोजगार-परक हो यह आधुनिक विकास की शर्ते है। इसी स्थिति को अधुनिकीकरण कहा जाता है। यह सब शर्तें नौकरशाही की भूमिका पर इस तरह निर्भर करती हैं कि समालोचक प्रायः इस बात से सहमत हैं कि 'प्रजातंत्र एक मिथ्या है तथा नौकरशाही वास्तव में शासक है।' रैमजें म्योर ने नौकरशाही का विशद विश्लेषण किया है। उसके अनुसार नौकरशाहों की भूमिका का सार है-

1. अधिकारी सारा समय कार्यालय की समस्याओं का शान्तिपूर्वक ढंग से अध्ययन करने में बिताते हैं।
2. वे मंत्री के समक्ष अनेक जटिल समस्याओं को उसके निर्णय लिए लाते हैं, जिनसे मंत्री अन्नभिज्ञ होता है।
3. वह मंत्र के समक्ष अपने ऐसे सुझाव प्रस्तुत करते हैं, जिनका समर्थन अधिक युक्तियुक्त तर्कों तथा तथ्यों से प्रदर्शित होता है।
4. मंत्री का प्रधानमंत्री से समीकरण भी मंत्री एवं सचिव के मध्य सम्बन्धों पर प्रभाव डालता है, क्योंकि अधिकारी मन्त्री एवं प्रधानमंत्री के बीच एक बकसुए का काम करता है।
5. सच तो यह है कि विदेश नीति से लेकर कूटनीति, गृहनीति से लेकर प्रतिरक्षा या आन्तरिक सुरक्षा नीति, बजट प्रक्रिया से लेकर योजना संरचना प्रक्रिया सब पर नौकरशाही के घ्र्रूत, सयाने और चालक दिग्ज्जों की छाप होती है।
6. कूटनीति के माहिर सचिव, राजदूत और विशेष प्रतिनिधि स्तर के लोक सेवक प्रधानमंत्री के विदेशों दौरों, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों इत्यादि में वार्तालाप, विचार-विमर्श तथा बहस में विशिष्ट भूमिका अदा करते हैं।
7. जोशिया स्टैम्प के अनुसार, विकसित या विकासशील समाज के लोक सेवक को मुख्य जल स्रोत (main spring) होना चाहिए तथा प्रत्येक स्तर पर सुझाव, परामर्श तथा प्रोत्साहन देना चाहिए।

14.7 मैक्स वेबर और नौकरशाही

मैक्स वेबर वह पहले प्रशासनिक चिन्तक हैं जिन्होंने नौकरशाही का क्रमबद्ध अध्ययन तथा उसके लक्षणों की विवेचना की है। उन्होंने नौकरशाही का एक आदर्श प्रतिमान (Ideal Model) तैयार किया जिसको सम्पूर्ण विश्व की प्रशासनिक व्यवस्थायें अपना आधार मानते हैं।

मैक्स वेबर ने नौकरशाही की सकारात्मक भूमिका पर जोर दिया है तथा उसका एक आदर्श प्रतिमान तैयार करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नौकरशाही सभ्य समाज की एक पहचान है और आधुनिक प्रशासन की सफलता की एक शर्त है। वेबर ने नौकरशाही को कभी भी परिभाषित नहीं किया, उसने केवल उसके लक्षणों को ही उजागर किया। वह ''नियुक्त अधिकारियों के प्रशासनिक समूह'' को नौकरशाही कहता है। वेबर के अनुसार नौकरशाही के दो रुप हैं, (1) पुश्तैनी या पैतृक परम्परागत जो करिशमाई सत्ताओं में पाई जाती है, तथा (2) विधिक-तार्किक नौकरशाही जो केवल विधिक (Legal) सत्ता में पाई जाती है। मैक्स वेबर का विषय विधिक-तार्किक (Legal rational) नौकरशाही से है और इसी की भूमिका पर उसने प्रकाश डाला है।

वेबर का विश्वास है कि किसी भी प्रकार की सत्ता के लिए वैधता अनिवार्य है, क्योंकि विधिक-तार्किक नौकरशाही की वैधता (Legitimacy) होती है, इसीलिए सत्ता (शासन-प्रशासन) में वह स्वीकारीय है। ऐसी नौकरशाही के फैसले तार्किक होते हैं और कानूनी भी।

वेबर के अनुसार आधुनिक प्रशासन में नौकरशाही, जिसका प्रतिमान स्वयं उसने तैयार किया है, पाँच कारणों से अहम भूमिका अदा करती है-

1. अधिकारी अपना सरकारी कार्य निरन्तर करते रहते हैं,
2. प्रशासनिक अधिकारी निश्चित नियमों के अनुसार काम करते हैं,
3. प्रत्येक अधिकारी सत्ता के पदक्रम की एक कड़ी होता है, संसाधनों का प्रयोग अधिकारी अपने हित के लिए नहीं करते हैं, वे इन संसाधनों के उपयोग के लिए उत्तरदायी हैं।
4. कार्यालयों में नियुक्तियाँ नियमानुसार होती है। यह नियुक्तियाँ निजि सम्पत्ति नहीं हैं। अपनी इन विशेषताओं के कारण नौकरशाही एक तार्किक संस्था है, जो कानूनी भी है। यह अनिवार्य भी है और इसके बिना न तो प्रशासन चल सकता है और न शासन।
5. नौकरशाही का ''अव्यक्तिक रुप'' (Impersonal Order) इस को आदर्श बना देता है, जिसके कारण नौकरशाही की भूमिका पर कोई उंगली उठाने से झिझकता है।

14.8 नौकरशाही और मार्क्स

नौकरशाही की भूमिका के बारे में कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण पूरी तरह नकारात्मक है। मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) के सिद्धान्त के माध्यम से नौकरशाही की ऐतिहासिक उत्पत्ति को दर्शाने का प्रयास किया है, जो विभिन्न चरणों या समाजों में विभिन्न रुपों या भूमिकाओं में नजर आती है। नौकरशाही की विक्राल भूमिका पूँजीवादी व्यवस्था में सब से अधिक होती है। यहाँ वह संवेदनहीन पूंजीवादी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग बन जाती है। पूंजीवादी व्यवस्था में नौकरशाही समाज में अपनी जड़ें जमा लेती है तथा शोषण की एक यांत्रिकी बन जाती है। मार्क्स नौकरशाही की दमनकारी भूमिका को ही उसकी वास्तविक भूमिका मानता है। उसके अनुसार 'एक विशेष वर्ग' अपनी राजनीतिक सत्ता को बनाये रखने के लिए नौकरशाही को एक उपकरण के रुप में इस्तेमाल करता है।

मार्क्स ने नौकरशाही को ''राज्य के भीतर एक विशिष्ट बन्द समाज'' बताया। राज्य का लक्ष्य अधिपत्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति का माध्यम नौकरशाही है। नौकरशाही एक प्रशासनिक व्यवस्था भी है और इस व्यवस्था (राज्य) को बनाये रखने का एक साधन भी है।

मार्क्स ने नौकरशाही को 'परजीवी'' बताया है, क्योंकि वह समाज के सत्ताधारी वर्ग की यथास्थिति को बनाये रखकर स्वयं को जीवित रखती है। इसलिए वह जो कुछ करती है वह राज्य के प्रभुत्व वाले वर्ग के हितों की रक्षा के लिए करती है, न कि समाज के हितों के लिए।

राज्य भी ''नौकरशाही'' को बनाये रखना चाहता है ठीक जिस तरह निजी सम्पत्ति पंूजीपति वर्ग को बनायें रखना चाहती है। मार्क्स ने शब्दों में ''नौकरशाही राज्य का उसी प्रकार सार है जिस तरह समाज का अध्यात्मिक सार निजी सम्पत्ति है।'' वास्तव में ''नौकरशाही राज्य का आध्यात्मवाद है।''

जहाँ तक व्यक्ति के रुप में नौकरशाह का सम्बन्ध है, राज्य का लक्ष्य उसका निजी ध्येय बन जाता है। वह उच्चतर पद पर जाने के लिए करियर (Career) बनाने की हौड़ में लग जाता है।

इस तरह मार्क्स नौकरशाही को राज्य में शोषण का एक उपकरण मानता है, क्योंकि वह समाज के मामलों का राज्य के पक्ष में शोषण करती है। वह पूरे समाज का 'निजीकरण' करती है।

'गोपनीयता' बनाये रखना नौकरशाही का बड़ा हथकण्डा है जिस के माध्यम से वह समाज की 'निजिकरण' की प्रक्रिया को बनाए रखती है। वह जन समाज से राज्य की हर बात छिपाती है। वह नहीं चाहती कि राज्य की बातें जनता तक पहुँचे। इसलिए 'रहस्यमयता' की स्थिति बनाये रखना नौकरशाही का लक्ष्य होता है। वह राजनीतिक चेतना को राज्य के अस्तित्व के लिए खतरा मानती है।

अंत में मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि राज्य का स्वरुप बदलने के साथ नौकरशाही स्वतः विलुप्त हो जायेगी और राज्य के नये साम्यवादी स्वरुप के अनुसार प्रशासनिक व्यवस्था होगी। लेकिन क्या नौकरशाही का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, ऐसी कल्पना मार्क्स भी नहीं कर सका।

14.9 हीगेल और नौकरशाही

मार्क्स के विपरीत हीगेल नौकरशाही को मुख्य शायकीय संगठन मानता है। हीगेल की नज़र में राजा (शासक), नौकरशाह तथा मंत्री सब राजनीतिक अभिनेता (Actors) हैं।

हीगेल की दृष्टि में नौकरशाही जनसमाज (Civil society) तथा राज्य के मध्य एक 'सूत्र की भूमिका' अदा करती है। यह वास्तव में मध्यस्था का एक रुप है जो विशिष्ट तथा सामान्य के मध्य रिश्ता कायम करती है।

हीगेल का कहना है कि नौकरशाही का काम समुदाय के सार्वभौमिक हित की पूर्ति करना है। वास्तव में नौकरशाही एक 'सार्वभौमिक ज़ागीर' है। जिसका काम राज्य के सामान्य हित और उसकी वैधानिकता को बनाये रखना है इस तरह हीगेल की नज़र में नौकरशाही की भूमिका सकारात्मक है, क्योंकि वह परिस्थितियों और उनके तक़ाज़ों की वास्तविकता को स्वीकार करती है। हीगेल नौकरशाही को एक व्यवस्था मानता है। यह व्यवस्था सम्बन्धों की है जो पदसोपानीयता, विशिष्टीकरण तथा एक विशेष हैसियत (व्यक्तियों की) के द्वारा परिभाषित होती है।

नौकरशाही की एक नियमकीय यांत्रिकी (Regulatory Mechanism) होती है। इसका अर्थ है कि नौकरशाही की व्यवस्था में नियंत्रण बाहरी और ऊपर से चलता है और नीचे से शिकायतों का दबाव पड़ता है, (बाहरी कारपोटेशन्स, स्वतन्त्र प्रेस, जनमत इत्यादि का) यह नियमकीय यांत्रिकी नौकरशाहों पर अच्छा प्रभाव डालती है और वे जनहित में काम करते हैं।

हीगेल नौकरशाही को ''विचारों का चोला'' (embodiment of Ideas) मानता है। नौकरशाही की विशेषता उसकी स्वायत्ता और स्वतंत्रता है। इसलिए वह जन समाज की उदण्डता पर अंकुश लगाकर उसे अनुशासित कर सकती है। नौकरशाह ज्यादा जागरुक और समझदार होते हैं, क्योंकि वे जागरुक शासकों का प्रतिबिम्ब होते हैं।

वास्तव में हीगेल मैक्स वेबर के ज्यादा नजदीक है, क्योंकि नौकरशाही के प्रति उसका जो दृष्टिकोण है वह वेबोरियन मॉडल से अधिक मेल खाता है। लेकिन मार्क्स ने हीगेल के नजरियें को पूरी तरह नकार दिया है।

यहाँ यह सोचना भी सही है कि यदि हीगेल नौकरशाही की सकारात्मक भूमिका को स्वीकार नहीं करता तो मार्क्स भी नौकरशाही पर अपनी आलोचनात्मक लेखनी नहीं उठाता।

14.10 डाउन्स और नौकरशाही

एन्थानी डाउन्स का नौकरशाही पर सिद्धान्त भी बड़ा सामायिक और महत्वपूर्ण है। लेकिन उसे दुःख है कि नौकरशाही को आज भी बड़ी घृणा से देखा जाता है, जबकि ब्योरोज विश्व के हर देश में महत्वपूर्ण संस्थायें मानी जाती हैं। डाउन्स की पहली परिकल्पना यह है कि समाज के दूसरे तबकों की तरह नौकरशाह भी आत्म-हित से प्रेरित होते हैं।

क्योंकि शब्द 'नौकरशाह' को आमतौर पर घृणा के रुप में लिया जाता है, इसलिए डाउन्स ''नौकरशाह'' (Bureaucracat) के स्थान पर ''अधिकारी'' (official) कहना पसंद करता है।

डाउन्स के अनुसार अधिकारियों की पहली भूमिका है प्रशासनिक कार्यो को तार्किकता प्रदान करना और लक्ष्य की प्राप्ति इस तरह करना कि वे स्वयं 'उपयोगिता को बढ़ाने'' (Utility Maximces) वाले बन जाते है।

अधिकारियों के अनेक लक्ष्य होते हैं: शक्ति, आय, सम्मान, सुरक्षा, सुविधा, वफादारी (विचार, संस्था या राष्ट्र के प्रति), सर्वोत्तम काम में गर्व और जनहित को पूरा करना। डाउन्स ने अधिकारियों की भूमिका को पांच भागों में विभाजित किया है-

1. पहले, वे अधिकारी जो शुद्ध रुप से स्वहित से न कि समाज के ब्योरोज के हित से प्रेरित होते हैं।
2. दूसरे, वे अधिकारी जो अपनी सुरक्षा और सुविधा, प्रतिष्ठा और यथास्थिति बनाये रखने के लिए काम करते हैं।
3. तीसरे, वे अधिकारी जो राष्ट्र या समाज के प्रति वफ़ादार रहते हैं। यही वे अधिकारी है जो ''आदर्श'' हैं और सच्चे लोक प्रशासक माने जाते हैं। इनका प्रभाव महत्वपूर्ण नीतियों पर पड़ता है।
4. चौथे, वे अधिकारी जो संकुचित नीतियों या अवधारणाओं के प्रति वफादार होते हैं। वे अपने हितों की भी पूर्ति करते है और पवित्र उद्देश्यों के प्रति भी निष्ठावान होते हैं, तथा
5. पांचवे, वे अधिकारी जो विस्तृत नीतियों या संगठन के प्रति वफ़ादार होते हैं और अपने लक्ष्य की प्राप्ति निष्ठा के साथ करते हैं।

डाउन्स के अनुसार अधिकारियों के महत्वपूर्ण कार्यों में पहला काम नीति-निर्माताओं में सूचनायें प्रदान करके सहायता करना है। ऐसा वे आंकड़े उपलब्ध कराकर करते हैं। यहाँ उनकी भूमिका नकारात्मक भी होती है और सकारात्मक भी। वे सूचनायें घटाकर प्रस्तुत करते जो नकारात्मक कार्य हैं, और वे सूचनायें बढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं, यह भी नकारात्मक हैं, क्योंकि तब यथार्थपूर्ण निर्णय नहीं लिए जा सकते। ठीक-ठीक सूचनायें प्रदान करना सकारात्मक है लेकिन यह प्रायः अधिकारियों के निजी हित में नहीं होता है। इसलिए वे तोड़-मरोड़ कर सूचनाऐं देने में अधिक रुचि लेते हैं।

डाउन्स ने बड़े विस्तार के साथ नौकरशाही की वास्तविक भूमिका की विवेचना की है। जहाँ मैक्स वेबर और हीगेल ने नौकरशाही की प्रशंसा करते हुए उसे एक अनिवार्य संस्था माना है, और मार्क्स ने नौकरशाही को शोषण का एक उपकरण मानकर उसको एक बुराई के रुप में लिया है, वहाँ डाउन्स का दृष्टिकोण संतुलित है। वह नौकरशाही में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों देखकर उसकी विवेचना करता है।

14.11 समालोचना

सोच समझकर नीतियाँ बनाना जरुरी है। उनको लागू करने के लिए एक वैज्ञानिक संगठन हो, यह और भी जरुरी है लेकिन सबसे अधिक जरुरी हैं संगठन में लगे लोग। इनका योग्य, शिक्षित, प्रशिक्षित, उत्साही, निष्ठावान, सक्रिय और ईमानदार होना नीतियों की सफलता और संगठन की एकता और एकबद्धता के लिए एक अनिवार्य शर्त है।

इस शर्त को पूरा करते हैं सिविल सेवक जिनका बिना लोक प्रशासन नहीं चल सकता। विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी ने इनके काम को और अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। सिविल सेवा को नौकरशाही या अधिकारीतंत्र कहा जाता है। यह 'सिविल' है अर्थात ''सैनिक'' नहीं है, यह 'प्रशासनिक' है अर्थात ''तकनीकी'' नहीं है। 'नौकरशाही' यह इसलिए है कि यद्यपि इसका कार्य सेवा है, लेकिन इसकी हैसियत शाहों जैसी है।

सिविल सेवक नीति-निर्माण प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण सक्रिय भूमिका निभाते हैं। वे इन नीतियों को कानूनी जामा पहनाते हैं। जब विधान सभा कानून बना देती है तो सिविल सेवक इन कानूनों का आदि भी हैं और अन्त भी।

सिविल सेवक व्यावसायिक प्रशासकों का वर्ग है। सिविल सेवा की अपेक्षायें यह हैं कि यह निष्पक्षता से चुनी जायेगी, प्रशासनिक दृष्टि से कार्यकुशल होगी, राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ होगी तथा समाज सेवा की भावना से ओत-प्रोत होगी।

निष्ठावान सिविल सेवक नये समाज का स्रोत होते हैं तथा प्रत्येक अवस्था में वे राजनेताओं को सुझाव एवं परामर्श देते रहते हैं। सिविल सेवकों की नौकरशाहों की हैसियत से आजकल उनकी आलोचना एक फैशन बन गई है, लेकिन सच यह है कि सिविल सेवक आधुनिक राज्य में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। वे आँकड़े इकट्ठे करते हैं, अनुसंधान कहते हैं, मंत्रियों को परामर्श देते हैं तथा योजनाएँ बनाते हैं। रेम्ज़े म्योर का यह विचार सही है कि ''संसद मंत्रियों के हाथ में खिलौना है तथा मंत्री सिविल सेवकों के हाथ में खिलौना है।'' इस स्थिति के लिए सिविल सेवक नहीं बल्कि स्वयं मंत्री जिम्मेदार हैं।

सिविल सेवकों की राज्य एवं समाज में भूमिका को देखते हुए ही मैक्स वेबर ने आदर्श नौकरशाही प्रतिमान की एक तस्वीर प्रस्तुत की और उसे आधुनिक संस्कृति का एक अविच्छेद अंग बताया। उसकी विधिक-तार्किक नौकरशाही इतनी आकर्षक है कि नौकरशाही के भावी चिन्तक उस से पीछा नहीं छुड़ा सकते। हीगेल ने नौकरशाही के सकारात्मक स्वरुप को ही स्वीकार किया है। यह और बात है कि मार्क्स नौकरशाही को शोषण का एक उपकरण मानता है, क्योंकि वह किसी भी ऐसी संस्था को स्वीकार नहीं कर सकता जिसका सम्बन्ध राज्य और निजि पूंजी से हो। लेकिन एन्थानी डाउन्स नौकरशाहों के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं को उजागर करता है।

कुल मिलाकार नौकरशाही आधुनिक प्रशासकीय व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। जिन चिन्तकों ने उसकी आलोचना की है, उन्होंने भी उसकी प्रासंगिकता और अपरिहार्यता से इंकार नहीं किया है। लेकिन लोक सेवक को यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि वह समाज का सेवक है न कि मालिक, और उसकी निपुणता इस बात में नहीं है कि वह मानव संवेदनशीलता खो दे। ब्राउन और मॉक्रीरिडिस का यह कथन सही है कि ''आज के लोकतंत्र की ज्वलन्त समस्या यह है कि लोक सेवा को उत्तरदायी और कार्यकुशल किस प्रकार रखा जाये।''

अभ्यास प्रश्न-

1. शब्द ब्योरियोक्रेसी (नौकरशाही) का सबसे पहले प्रयोग किया ?
   क. मैक्स वेबर ने ख. मार्क्स ने
   ग. डी0 गोरने ने घ. एल0डी0 व्हाइट ने
2. विधिक-तार्किक नौकरशाही का सिद्धान्तकार है-
   क. एन्थानी डाउन्स ख. हीगेल
   ग. रेम्जे म्योर घ. मैक्स वेबर
3. नौकरशाही की भूमिका में सम्मिलित है-
   क. परामर्श ख. कार्यक्रम तथा करणीय योजना
   ग. उत्पादन घ. यह तीनों
4. मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही की भूमिका को विभाजित किया जा सकता है-

क. चार वर्गों में ख. तीन वर्गों में
ग. सात वर्गों में घ. पांच वर्गों में

5. किसने कहा 'नौकरशाही परजीवी' है?
क. मार्क्स ने ख. हीगेल ने
ग.एन्थॉनी डाउन्स ने घ. रैम्ज़े म्योर ने

6. नौकरशाही की भूमिका के बारे में वेबर का दृष्टिकोण सकारात्मक है। सत्य/असत्य

7. मार्क्स ने नौकरशाही की दमनकारी उपकरण की भूमिका को स्पष्ट किया है। सत्य/असत्य

8. नौकरशाही एक आवश्यक बुराई है, यह डाउन्स ने कहा। सत्य/असत्य

9. ''लोकतंत्र एक धोखा है, वास्तव में नौकरशाही शासन करती है'' यह कथन वेबर का है। सत्य/असत्य

10. हीगेल नोकरशाही को ''विचारों का चोला'' मानता है। सत्य/असत्य

14.12 सारांश

- नौकरशाही की अवधारणा की एक पृष्ठभूमि है। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले 18वीं सदी में डी0 गोरने ने किया, लेकिन नौकरशाही को एक विधिवत् सिद्धान्त का रुप मैक्स वेबर (1864-1920) ने दिया। उसने विधिक-तार्किक नौकरशाही का एक प्रतिमान तैयार किया जिसे वेबेरियन मॉडल कहा जाता है।
- अक्सर नकारात्मक भूमिका के कारण नौकरशाही को एक बदनाम संस्था माना गया है। इसलिए उसको एक अनिवार्य बुराई कहा जाता है। वह अनिवार्य इसलिए है कि आधुनिक कल्याणकारी राज्य में बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नौकरशाही ही सबसे बड़ा माध्यम है। लार्ड ऐक्टन का यह कहना उचित है कि नौकरशाह वह व्यक्ति है जो अपनी योग्यता, ज्ञान तथा उत्तरदायित्व के लिए प्रसिद्ध है। यह सच है क्योंकि लोक सेवा, लोक प्रशासन का सार है। नीति-निर्माण की प्रक्रिया से लेकर नीतियों के कार्यान्वयन तक लोक सेवकों की भूमिका अहम होती है। नौकरशाही व्यावसायिकता, पद सोपानीयता और निष्पक्षता के सिद्धान्तों के अनुसार गुमनाम रहकर लेकिन एक विशेष मानसिकता के साथ प्रशासन में अपनी सकारात्मक भूमिका अदा करती है।
- नौकरशाही का नकारात्मक पहलू भी है जिस पर प्रशासनिक चिन्तकों ने चिन्ता व्यक्त की है, विशेष रुप से उसमें पनपती लालफ़ीता शाही, दफ्तरीपन, अकुशलता, अपठनीयता, नीरसता, विमुखता तथा भ्रष्टाचार को लोक सेवा का नकारात्मक पहलू माना गया है। यह भी कहना उचित है कि लोक सेवक जितना अधिक राजनेताओं के प्रति वफादार होते हैं उतना अधिक जनसमाज के प्रति नहीं होते हैं।
- नौकरशाही के विशिष्ट लक्षण हैं। इनमें व्यावसायिकता, पदसोपानीयता, निष्पक्षता, गुमनामी, स्वेच्छारिता की मानसिकता इत्यादि विशेष हैं। शासन (मंत्रियों) को परामर्श देकर, नीतियाँ सम्बन्धी कार्यक्रम तथा व्यवहारिक योजनाऐं तैयार करके, प्रशासनिक सेवायें प्रदान करके (उत्पादन), विधायनी एवं न्यायिक शक्तियों का प्रयोग करके (वे शक्तियाँ जो उनको विधान मण्डल और कार्यपालिका प्रदत्त (delegated legislation) करती है तथा संगठन एवं विधियों ओ एण्ड एम (O&M) के उपकरण का प्रयोग करके लोक अधिकारी अपनी प्रशासनिक भूमिका निभाते हैं।
- नौकरशाही की भूमिका पर अनेक चिन्तकों ने अपने तर्क और विचार रखे हैं इन में मैक्स वेबर, हीगेल, मार्क्स तथा एन्थॉनी डाउन्स के विचार बहुत महत्वपूर्ण हैं। मैक्स वेबर तो वह पहला चिन्तक है जिसने आधुनिक समाज में नौकरशाही की सार्थकता को स्वीकार करके वैज्ञानिक आधार 'विधिक-तार्किक' नौकरशही का एक आदर्श मॉडल (Ideal Model) तैयार किया जो अन्ततः भावी सिद्धान्तकारों का

अधार बना। हीगेल ने नौकरशाही को राज्य का सार्थी माना। उसके अनुसार राज्य की वास्तविक अभिव्यक्ति नौकरशाही के ही माध्यम से होती है।

- लेकिन मार्क्स ने नौकरशाही को एक नकारात्मक उपकरण के रुप में स्वीकार किया। वह नौकरशाही को पूँजीवादी व्यवस्था की आत्मा मानता है। उसकी नज़र में नौकरशाही एक दमनकारी संस्था है जो पूंजीपतियों के हितों की पूर्ति करती है। उसको बनाये रखना उसका लक्ष्य है। वह परजीवी है, राज नेताओं की यथास्थिति बनाये रखकर अपना अस्तित्व बनाये रखती है।
- एन्थॉनी डाउन्स ने नौकरशाही की भूमिका के प्रति एक संतुलित रुख अपनाया है। उसके अनुसार क्योंकि ‘नौकरशाही’ एक बदनाम शब्द है इसलिए उसने ‘अधिकारी’ शब्द का प्रयोग करना उचित समझा। वह ब्योरोज और उसमें लगे कर्मचारियों को प्रशासनिक अनिवार्यता मानता है। उसने अधिकारियों को अनेक वर्गों में विभाजित करके उनकी सकारात्मक और नकारात्मक दोनों भूमिकाओं को दर्शाया है।
- वास्तविकता यह है कि नौकरशाही आधुनिक समाज की एक अनिवार्यता है। बढ़ी हुई आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी गतिविधियों के साथ-साथ नौकरशाही की भी भूमिका महत्वपूर्ण हुई है।

14.13 शब्दावली

Bureaucracy (ब्योरियोक्रेसी)- ब्योरो (Bureau) से बना है। यह एक फ्रांसीसी शब्द है जिसका अर्थ है ‘एक मेज’ ‘ड्राज़’, छोटा कमरा अर्थात आफिस (कार्यालय)। लीगल (Legal)- विधिक, कानूनी अर्थात वह संस्था जिसकी कानूनी हैसयित हो। रेशनल (Rational)- तार्किक, तर्कसंगत, वैज्ञानिक जिसका सम्बनध विवेक से हो। हिस्टॉरिक मैटिरियज्म (Historical Materialism)- ऐतिहासिक भौतिकवाद: मार्क्स के सिद्धान्तों का आधार अर्थात् ‘पदार्थ’ ही ‘विचार’ (Idea) को निश्चित करता है। यही विश्व का इतिहास है।

14.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (ग), **2.** (घ), **3.** (घ), **4.** (घ), **5.** (क), **6.** सत्य, **7.** सत्य, **8.** असत्य, **9.** असत्य, **10.** सत्य

14.15 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. विष्णु भगवान, विद्या भूषण: लोक प्रशासन के सिद्धान्त, नई दिल्ली।
2. डॉ0एस0एस0 मीतल, मंजूमीतल: तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें, मेरठ।
3. डी0 रविन्द्र प्रसाद: स्मा प्रशासनिक चिन्तक, नई दिल्ली।
4. अवस्थी एण्ड अवस्थी: लोक प्रशासन के सिद्धान्त, आगरा।

14.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. L.D.k Whl te : Public Administration.
2. Finer, H.k : Theory and Practice of Modern Government.
3. Gladden, E.N., The Civil Service.

14.17 निबंधात्मक प्रश्न

1. नौकरशाही की प्रमुख विशेषताओं और भूमिका पर चर्चा कीजिए।
2. मार्क्स और हीगेल के नौकरशाही के बारे में क्या विचार हैं?
3. नौकरशाही क्यों अपरिहार्य है? नौकरशाही की नकारात्मक तथा सकारात्मक भूमिका को समझाइए।

इकाई- 15 भारतीय अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) की औपनिवेशिक विरासत

इकाई की संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 भारत में अधिकारीतंत्र (नौकरशाही का विकास)
15.3 ब्रिटिश कालीन प्रशासन
 15.3.1 भारत में ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था (1858 से पूर्व)
 15.3.2 भारत में प्रशासनिक व्यवस्था (1858 से 1917 तक)
 15.3.3 भारत में प्रशासनिक व्यवस्था (1917 से 1937 तक)
 15.3.4 भारत में प्रशासनिक व्यवस्था (1937 से 1947 तक)
15.4 प्रशासनिक संस्थाऐं: उपनिवेश के सन्दर्भ में
 15.4.1 केन्द्रीय सचिवालय का विकास
 15.4.2 लोक सेवा का विकास
15.5 औपनिवेशिक विरासत: अर्थ
15.6 भारत में नौकरशाही: विशेषताऐं
15.7 ब्रिटिश भारत में अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) का विकास
15.8 स्वतन्त्रत भारत में नौकरशाही का विकास
15.9 नौकरशाही: अखिल भारतीय सेवा के रुप में
15.10 सारांश
15.11 शब्दावली
15.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
15.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
15.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
15.15 निबंधात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

भारतीय का प्रशासन का इतिहास जितना पुराना है उतना ही पुराना लोक सेवा या अधिकारीतंत्र का इतिहास है। भारत के प्रत्येक युग में किसी न किसी रुप में नौकरशाही या लोक-सेवा विद्यमान रही है।

अधिकारीतंत्र का वर्तमान भारतीय स्वरुप अंग्रेजों की देन है, जब उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रुप में भारत में अपने पांव जमाये। धीरे-धीरे वे भारत के मालिक बन गये। उन्होंने मुगल सल्तनत की प्रशासकीय परम्पराओं को तोड़कर अपना प्रशासन लागू किया। लोक सेवा इस प्रशासन का मुख्य अंग थी जो पूरी तरह मैक्स वेबर के आदर्शवादी नौकरशाही के प्रतिमान (मॉडल) पर आधारित थी। स्वतन्त्र भारत ने इस औपनिवेशिक सेवा वर्गीय (अधिकारीतंत्र) को उसके मौलिक स्वरुप में स्वीकार कर लिया। बस अन्तर यह था कि नौकरशाही का भारतीयकरण कर लिया गया।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारत में लोक प्रशासन की जड़े कहाँ तक फैली हुई हैं? इस संबंध में जान पायेंगे।
- मुगल-शासन के पतन के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने किस प्रकार से और कितने चरणों में नये प्रशासन की नींव डाली? इसे जान पायेंगे।
- ब्रिटिश प्रशासन की क्या विशेषता थी और उसमें नौकरशाही की क्या भूमिका थी? इसे समझ पायंगे।
- वे कौन-कौन से अधिनियम थे, जिनके कारण सेवी वर्ग का विकास हुआ? इससे अवगत हो पायेंगे।
- ये जान पायेंगे कि वे कौन-कौन से गर्वनर जनरल तथा वायसराय थे, जिनकी दूरदृष्टि से भारत में प्रशासन का विकास हुआ?
- स्वतन्त्र भारत में लोक सेवा की औपनिवेश्कि विरासत को क्यों बनायें रखा गया? इसे समझ पायेंगे।
- भारत में नौकरशाही की वर्तमान स्थिति के संबंध में जान पायेंगे

15.2 भारत में अधिकारीतंत्र (नौकरशाही का विकास)

आधुनिक भारत में लोक-सेवा अथवा नौकरशाही का जो स्वरुप और भारतीय प्रशासन में उसकी जो भूमिका नज़र आती है वह वास्तव में उपनिवेशवाद की प्रशासंनिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है, यद्यपि इसकी जड़े, मुगल कालीन भारतीय प्रशासन तक फैली हुई हैं। लेकिन यह भी सच है कि आज के समान प्राचीन भारतीय व्यवस्था में अखिल भारतीय सेवाओं का गठन नहीं किया गया था। मुगल सूबेदारों ने स्थानीय लोक-सेवाऐं विकसित की थीं। लोक-सेवा के विकास को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. प्राचीन भारत में लोक-सेवा मुगल-शासन के सन्दर्भ में।
2. ब्रिटिश उपनिवेश काल में लोक-सेवा का विकास।
3. स्वतन्त्र भारत में लोक-सेवा।

इस इकाई में हम भारत में अधिकारी तंत्र (नौकरशाही) को भारत में ब्रिटिश उपनिवेश के परिवेश में समझने का प्रयास करेंगे।

भारत में अधिकारीतंत्र (प्रशासन) ऋग्वैदिक काल से आरम्भ होकर, उत्तर-वैदिक काल, महाकाब्य काल से गुज़रता हुआ मौर्य काल (कौटिल्य युग) और गुप्तकाल को स्पर्श करके राजपूत काल तक पहुँचा। 1206 से 1526 तक भारत में सल्तनतकालीन प्रशासन का प्रभुत्व रहा जिसकी अपनी विशेषता थी। इसके उपरान्त 1526 से लेकर 1858 तक का प्रशासनिक तंत्र मुगल कालीन माना जाता है। मुगल-शासन के पतन के साथ ही मुगल-प्रशासन का भी सूर्य अस्त हो गया। और अब आरम्भ हुआ ब्रिटिश कालीन शासन और उसके साथ ही उसका विशिष्ट प्रशासन जो पूरी तरह अधिकारीतंत्र पर या नौकरशाही पर आधारित था।

इस तरह हम देखते हैं कि अपने अतीत में भारत प्रशासन सम्पन्न था और लगभग प्रत्येक भारतीय विकास के चरण में अधिकारियों की अहम भूमिका थी।

15.3 ब्रिटिश कालीन प्रशासन

सन् 1600ई में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ ब्रिटिश प्रशासन का युग भी आरम्भ हुआ। यह कम्पनी मुगल-शासन की उत्तराधिकारी बनी। इसका उस समय पहला लक्ष्य व्यापार करना था लेकिन धीरे-धीरे जब इसकी प्रादेशिक महत्वाकांक्षाएं प्रबल होने लगीं तब शीघ्र ही वह भारत में एक प्रमुख यूरोपीय राजनीतिक शक्ति बन गई। इधर मुगल शासन कमजोर पड़ रहा था और उसका प्रशासन अस्त-व्यस्त होने लगा था, तो उधर कम्पनी की पकड़ भारत पर मजबूत होती जा रही थी।

सन् 1773 से 1858 ई0 तक का ब्रिटिश काल 'दोहरी सरकार' का काल माना जाता है। इसका अर्थ था कि भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था पर ब्रिटिश संसद का भी प्रभाव बढ़ गया था। कम्पनी के निर्णयों पर ब्रिटिश संसद पूरी तरह हावी थी।

गदर (1857) से पूर्व भारत में ब्रिटिश शासन व्यवस्था और प्रशासन के विकास में रेग्यूलेटिंग एक्ट को एक ऐसा बिन्दु माना जाता है जिसके चारों ओर भारत का संवैधानिक इतिहास घूमता नजर आता है। सन् 1813, 1833, 1858, 1861, 1892, 1909 और 1935 के महत्वपूर्ण एक्ट (अधिनियम) इस संवैधानिक इतिहास के मील के पत्थर माने जाते हैं। इन अधिनियमों ने भारत को संसदीय संस्थायें दीं, जिनके आधार पर भारत का वर्तमान संविधान बना है। इस संविधान ने जो प्रशासनिक ढाँचा तैयार किया उसकी जड़े ब्रिटिश शासनकाल के प्रशासनिक विकास में तलाश करना होंगी, जिसे उपनिवेशकाल भी कहा जा सकता है। इस विकास को चार चरणों में विभक्त किया जा सकता है-

15.3.1 भारत में ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था (1858 से पूर्व)

सन् 1600 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत को अपना उपनिवेश बनाया और इस तरह भारत में 1600 से लेकर 1858 तक के काल को उपनिवेश काल (Colonical period) कहा जाता है।

सन् 1773 में भारत में रेग्यूलेटिंग एक्ट (Regulating Act) पास किया गया। इस एक्ट ने कम्पनी की निरंकुश सत्ता पर लगाम लगाई। इसी अधिनियम के तहत भारतीय प्रशासन का दायित्व कम्पनी और ब्रिटिश सरकार के मध्य बंट गया। लेकिन रेग्यूलेटिंग एक्ट में भी बहुत सी कमियाँ थीं। फलस्वरुप सन् 1784 में पिट्स इण्डिया एक्ट पास हुआ। इसने गवर्नर जनरल की शक्ति बढ़ा दी। उसके निरीक्षण एवं नियंत्रण के अधिकार स्पष्ट कर दिये गये। एक नियंत्रण मण्डल की स्थापना की गयी। कम्पनी के तीन अधिकार-दीवानी, सैनिक और मालगुजारी पर नियंत्रण के अधिकार नियंत्रण-मण्डल को सौंप दिये गये।

सन् 1793, 1813, 1833 और 1854 में नये अधिनियम बनाये गये जिनको प्रशासनिक विकास की दृष्टि से अहम माना जाता है। पहली बार इस दौर में कलेक्टर का पद अस्तित्व में आया जो राजस्व एकत्रित करने तथा गाँवों का प्रशासन करने का उत्तरदायित्व संभालता था।

1833 के अधिनियम ने भारत में केन्द्रीकृत प्रशासन की नींव डाली। 1857 के विद्रोह के बाद यह स्वीकार किया जाने लगा कि कम्पनी का प्रशासन अनेक अधिनियमों के पारित होने के बाद भी पूरी तरह असंतोषजनक था। फलतः भारत सरकार का संचालन कम्पनी से क्राउन ने ले लिया। लेकिन इस दौर में अनेक प्रशासनिक संस्थाऐं अस्तित्व में आयीं जिनमें (अ) गवर्नर-इन-कौंसिल, (ब) केन्द्रित प्रशासनिक व्यवस्था, (स) गर्वनर जनरल और उसकी परिषद्, ¬(द) नियन्त्रण मण्डल, तथा (ध) कलेक्टर।

इस तरह परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न अधिनियम अस्तित्व में आये और धीरे-धीरे भावी भारत की प्रशासनिक संरचना तैयार होने लगी।

15.3.2 भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था (1858 से 1917 तक)

सन् 1857 के विद्रोह के दो नतीजे निकले। पहला यह कि कम्पनी का स्वेच्छाचारी शासन समाप्त हो गया। दूसरा यह कि 1858 के अधिनियम के तहत कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद के शासन की स्थापना की गयी। इस बदलाव के महत्वपूर्ण प्रशासनिक नतीजे सामने आये जो इस प्रकार थे-

1. भारत में सत्ता का केन्द्रीकरण गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद् में निहित हो गया, जिसका प्रयोग उनके अधिकारियों द्वारा किया जाने लगा। यही अधिकारी अन्ततः लोकसेवी या नौकरशाह कहलाये गये।

2. 1857 के अधिनियम की कमजोरियों को दूर करने के लिए 1861 का अधिनियम लाया गया, जिसके आधार पर प्रशासन में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस अधिनियम ने प्रशासन की एक ऐसी संरचना तैयार की जो ब्रिटिश शासन के अन्त तक चलती रही। इसकी प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार थीं- (क) प्रशासन में भारतीयों के प्रवेश का दरवाजा खुला, (ख) इस अधिनियम से भारतीयों को गर्वनर जनरल के विधि-निर्माण के कार्य में भागीदारी का अवसर मिला।
3. 1861 के बाद 1892, 1909 और 1919 के अधिनियम आये लेकिन इन अधिनियमों ने प्रशासन की गति को धीमा कर दिया, क्योंकि (अ) केन्द्र में सत्ता का केन्द्रीकरण अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, (ब) विधायी कार्यों पर कार्यपालिका का नियन्त्रण हो गया, तथा (स) सम्पूर्ण भारतीय प्रशासन का अन्तिम दायित्व ब्रिटिश संसद के हाथ में चला गया।
4. 1917 में भारत सचिव माण्टेग्यू ने घोषणा की कि प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयों का अधिक सहयोग लिया जायेगा और स्वशासन की संस्थाओं का क्रमिक विकास किया जायेगा। परिणाम स्वरुप 1919 के भारत परिषद अधिनियम ने स्वशासन की नींव डाली और इस तरह भारतीयों के लिए प्रशासन में भागीदारी का रास्ता खुल गया।

15.3.3 भारत में प्रशासनिक व्यवस्था (1917 से 1937 तक)

ब्रिटिश इण्डिया की प्रशासनिक व्यवस्था के विकास की दृष्टि से यह काल महत्वपूर्ण माना जाता है, विशेष रुप से भारतीय प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी के नजरियें से स्वाशासन की दिशा में कदम आगे बढ़ाये गये, प्रान्तों को स्वायत्ता प्राप्त हुई तथा द्वैध शासन की स्थापना हुई।

इसी काल में नौकरशाही को बढ़ावा मिला तथा नौकरशाही और लोकतंत्र को एक साथ मिलाया गया। एकात्मक सरकार होते हुए भी केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिये गये जिसके फलस्वरुप प्रशासन का भी दायरा बढ़ा और कार्यों में वृद्धि के साथ प्रशासनिक अधिकारियों की संख्या भी बढ़ी जिसमें भारतीयों की भागीदारी सुनिश्चित की गई। गर्वनर को जो असाधारण शक्तियाँ मिलीं वे वास्तव में नौकरशाही में केन्द्रित हो गयी। इसी काल में विभागों की स्थापना की गई तथा पुराने प्रशासनिक संगठनों को पुर्नगठित करके उनको नया नाम तथा नया क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया।

15.3.4 भारत में प्रशासनिक व्यवस्था (1937 से 1947 तक)

भारत के संवैधानिक इतिहास पर सब से गहरी छाप 1935 के अधिनियम की है। कूपलैण्ड के अनुसार 1935 का अधिनियम ''रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान सफलता था।'' भारत में संघात्मक व्यवस्थ इसी अधिनियम की ऋणी है। संघात्मक व्यवस्था के साथ संघीय कार्यपालिका, संघीय विधानमण्डल तथा संघीय न्यायालय की स्थापना की गई। प्रान्तीय सरकारों तथा संघीय सरकार के 'विषय' निश्चित किये गये। इन विषयों में भू-राजस्व, आबकारी कर, कृषि आयकर, भूमिकर आदि स्थापित किये गये।

उक्त विषयों से सम्बन्धित भारतीय प्रशासन को नये आयाम तथा नये मापदण्ड हासिल हुए जिन्होंने वर्तमान भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली। इस बारे में जो प्रशासनिक तथ्य उजागर हुए उनको चार भागों में बाँटा जा सकता है-

1. प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्थाओं की स्थापना,
2. शासन का लोकतंत्रीकरण और उत्तरदायित्व की प्रकृति का विकास,
3. भारतीय प्रशासन का भारतीयकरण और इस प्रशासन में भारतीयों की महत्वपूर्ण भागीदारी, तथा
4. सेवी वर्ग का स्पष्ट उदय और नौकरशाही की शक्तियों में वृद्धि।

इन चार बातों का नतीजा यह निकला कि एक केन्द्रीकृत अखिल भारतीय सेवाओं का जन्म हुआ जो विरासत के रुप में आज भी विद्यमान है।

ब्रिटिश-काल में भारतीय प्रशासन के विकास का इतिहास स्वतन्त्रता आन्दोलन के परिवेश में पनपने वाली प्रवृत्तियों के प्रभाव का इतिहास है। यह कहना सही होगा कि आज भारत को विरासत के रुप में जो प्रशासनिक संस्थाएं मिली हैं उसका श्रेय अंग्रेजों को जाता है।

15.4 प्रशासनिक संस्थाऐं: उपनिवेश के सन्दर्भ में

प्रशासनिक विकास की दृष्टि से ब्रिटिश युग में अनेक प्रशासनिक संस्थायें अस्तित्व में आई जिनका संक्षेप में वर्णन अनिवार्य है। यह संस्थाऐं हैं-

15.4.1 केन्द्रीय सचिवाल का विकास

प्रशासनिक एकता स्थापित करने के लिए केन्द्रीय सचिवालय की स्थापना की गई जिसे बंगाल के गवर्नर जनरल के अधीन 1833 में गठित किया गया। 1843 से लेकर 1947 तक सचिवालय में समय-समय पर परिवर्तन किये गये- राजस्व और वित्त-विभागों को मिलाकर एक विभाग बनाया गया। लार्ड कार्नवैलिस ने सचिवालय के महामंत्री पद का सृजन किया जिसे बाद में प्रमुख सचिव का नाम दिया गया। यह अधिकारी आज भी प्रशासनिक व्यवस्था में मौजूद है।

सचिवालय के विकास में लार्ड वेलेजली का काफी योगदान है। उसके काल में सचिवालय अधिक शक्ति सम्पन्न हुआ और उसके उत्तरदायित्व में वृद्धि हुई। गवर्नर जनरल के कार्यालय और सचिवालय को चार विभागों में विभक्त किया गया। प्रत्येक विभाग का एक सचिव बनाया गया। 1919 तक पुर्नगठित सचिवालय में ग्यारह विभाग अस्तित्व में आ गये जहाँ प्रत्येक विभाग का एक सचिव तथा जूनियर सचिव बनाये गये। धीरे-धीरे परिस्थितियों के अनुसार सचिवालय का पुर्नगठन किया गया-समन्वय विभाग, युद्ध आपूर्ति मण्डल, खाद्य विभाग, उद्योग एवं नागरिक आपूर्ति विभाग, योजना तथा विकास विभाग, शिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि मंत्रालय, श्रम-मंत्रालय जैसे 19 विभाग अगस्त 1947 तक अस्तितत्व में आ चुके थे।

परिणाम स्वरुप अधिकारियों की एक लम्बी कतार खड़ी हो गयी और इस तरह एक दक्ष, परिपक्कव और अनुभवी सेवी वर्ग उदित हुआ और अन्ततः नौकरशाही की एक मजबूत इमारत खड़ी हो गई।

15.4.2 लोक-सेवा का विकास

प्रशासन के क्षेत्र में ब्रिटिश प्रशासनिक सेवाओं का बहुत महत्व है। मुगल-साम्राज्य के पतन के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आने के साथ लूट-प्रथा भी विकसित हुई। वॉरेन हेस्टिंग्स तथा कार्नवैलिस जैसे गर्वनर जनरलों ने भू-राजस्व की वसूली तथा शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के क्षेत्र में लोक-सेवाओं की आधारशिला रखकर महत्वपूर्ण कार्य किया।

लोक सेवा का इतिहास विकास का परिणाम है जो धीरे-धीरे सुधारों के कारण हुआ। लार्ड कार्नवैलिस (1785-93) ने भारत की लोक सेवा में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। लार्ड वैलेजली का भी इस दिशा में योगदान रहा। उसने प्रशासकों के सूक्ष्म चयन और प्रशिक्षण की नींव डाली। चयनित लोक सेवकों को प्रशिक्षण के लिए फोर्ट विलियम कॉलेज भेजा।

1833 में ब्रिटिश संसद द्वारा कम्पनी को स्वीकृत किये गये चार्टर के अनुसार लोक सेवकों की भर्ती बिना भेद-भाव के समान रुप से खुली प्रतियोगिता के आधार पर की जाने लगी।

लार्ड मैकाले को लोक सेवा के इतिहास का र्स्वलोकप्रिय जनक माना जा सकता है। उसकी सिफारिशें आज की भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के गठन और कार्य-प्रणाली की आधारशिलायें मानी जाती है। 1857 में मैकाले की अध्यक्षता में एक समिति का गठन हुआ। इस समिति ने जो सिफारिशें कीं उनका सम्बन्ध आई0सी0एस0 से था जिसने स्वतन्त्रता के बाद आई0ए0एस0 का रुप ले लिया।

कम्पनी के शासन के स्थान पर 1858 में ब्रिटिश क्राउन के शासन की नींव पड़ी। 1886 में वायसराय लार्ड डफरिन ने एचिसन आयोग स्थापित किया। जिसके सुझावों के अनुसार सामान्य सेवाओं को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया- भारतीय नागरिक सेवा, प्रान्तीय सेवा और अधीनस्थ सेवा। लार्ड इस्लिंग्टन की अध्यक्षता में 1912 में लोक सेवाओं के प्रश्न पर विचार करने के लिए पुनः एक आयोग स्थापित किया गया जिसकी सिफारिशों को 1917 में लागू किया गया। इन सिफारिशों में (अ) भारत और इंग्लैण्ड में लोक सेवकों के चयन के लिए एक साथ परीक्षायें आयोजित करना, (ब) एक चौथाई पद भारतीयों के लिए सुरक्षित रखना, तथा (स) नियुक्ति और पदोन्नति दोनों से पदों को भरने की बात कही गई।

इसी सिलसिले में मॉण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट (1918) तैयार की गयी। इसमें लोक-सेवा के सम्बन्ध में तीन महत्वपूर्ण सिफारिशें की गयी: (1) लोक सेवा की परीक्षा इंग्लैण्ड और भारत में एक साथ ली जाए, (2) भारतीय लोक-सेवा में भारतीयों की संख्या बढ़ाने के लिए प्रारम्भ में वरिष्ठ पदों में से एक-तिहाई पदों के लिए भर्ती भारत में की जाये, (3) आई0सी0एस0 के अधिकारियों के वेतनमान, निवृत्ति, वेतन और समुन्द्र पार के भतें में वृद्धि की जाये।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद लोक-सेवाओं के भारतीयकरण की माँग बढ़ने के कारण तथा नई परिस्थितियों के अनुकूल भारत में एक उच्च लोक सेवा विषयक रायल आयोग की नियुक्ति की गयी। इस के अध्यक्ष लार्ड ली थे। इस आयोग की सिफारिश के आधार पर 1926 में लोक सेवा आयोग की स्थापना की गयी। 1935 के भारत सरकार अधिनियम ने लोक सेवा-आयोग को नई शक्तियाँ प्रदान कीं तथा सूबों (चतवअपदबम) में भी लोक सेवा आयोग की स्थापना की गयी।

इस तरह लोक सेवा की सौगात स्वतन्त्र भारत को विरासत में मिली। तब तक लोक-सेवाऐं बहुत विकसित हो चुकी थीं। औपनिवेशिक संस्था आई0सी0एस0 के स्थान पर अखिल भारतीय सेवाऐं-आई0ए0एस0 और आई0पी0एस0 (इण्डियन पुलिस सर्विस) की स्थापना की गई। 1951 में भारतीय वन-सेवा की स्थापना की गयी। 1954 में भारतीय लोक-प्रशासक संस्थान अस्तित्व में आया और 1970 में कार्मिक विभाग का गठन किया गया। तब से अब तक लोक-सेवा के विकास की यह निरन्तरता बनी हुई है।

15.5 औपनिवेशिक विरासत: अर्थ

मुगल साम्राज्य के पतन और ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के साथ भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का (Colonialism) नया दौर शुरु हो गया। भारत एक उपनिवेश बन गया। ब्रिटेन व्यापारी माल के साथ-साथ अपने विचार भी लाया जिनमें एक 'विचार' था प्रशासन का यह ऐसी देन थी जिसने भारत पर गहरी छोप छोड़ी और जिसे वास्तव में औपनिवेशिक विरासत कहा गया। यह विरासत एक यथार्थ है और इसे वर्तमान भारतीय प्रशासन या लोक सेवा से अलग नहीं किया जा सकता। सदियों के अन्तराल में भारतीय लोक सेवकों के व्यवहार और स्वभाव का अटूट रिश्ता बन जाने के कारण यह विरासतें आज भी प्रभावी हैं और प्रशासन को तर्कसंगतता दे रही हैं।

आज भी प्रशासन की इकाईयाँ वहीं है जो ब्रिटिश काल में थी-सम्भाग, जिला, उप-सम्भाग और तहसील। ब्रिटिश कालीन की प्रत्येक इकाई में प्रमुख अधिकारी के रुप में एक सामान्य प्रशासक रहता था। ऐसे अधिकारी थे कमिश्नर, कलेक्टर, एस0डी0ओ0 (अब एस0डी0एम0) और तहसीलदार। यह व्यवस्था आज भी है।

ब्रिटिश काल में एक ही सेवा के सदस्य विभिन्न स्तरों पर काम करते थे, जैसे आई0सी0एस0 के सदस्य केन्द्रीय सचिवालय और प्रान्तीय सचिवायलों में भी काम करते थे और सम्भाग तथा जिलों में क्रमशः कमिश्नर व कलेक्टर भी होते थे। स्वतन्त्र भारत को विरासत के रुप में तीन प्रकार की सेवायें मिली: अखिल भारतीय सेवायें, केन्द्रीय सेवायें और प्रान्तीय सेवाऐं। औपनिवेशिक विरासत के संदर्भ में यही सेवायें अधिकारीतंत्र, नौकरशाही या सेवी-वर्ग अथवा लोक सेवायें कहलायी जाती हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व ब्रिटिश नौकरशाही को ब्रिटिश सत्ता का पोषक और जन आन्दोलन का विरोधी समझता था। लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी अधिकारीतंत्र को तोड़कर कोई नई प्रशासकीय व्यवस्था की संभावना कम नजर आई। स्वतन्त्रत भारत में भी नौकरशाही का औचित्य स्वीकार किया गया। सरदार पटेल ने संविधान सभा में स्वीकार किया कि 'यदि लोक सेवाओं को हटा दिया जाये तो पूरे देश में अव्यवस्था फैल जायेगी।' इसलिए ब्रिटिशकालीन लोक सेवाओं के ढांचे को लगभग उसी रुप में रखा गया। अन्तर केवल इतना हुआ कि मुख्य सेवा का नाम आई0सी0एस0 के स्थान पर आई0ए0एस0 कर दिया गया परन्तु उसके चयन के तरीके और कार्य-पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

अतः यह कहा जा सकता है कि विरासत के रुप में न केवल प्रशासनतंत्र मिला, बल्कि नौकरशाही की पूरी मानसिकता, उसका आचरण, उसका समाज के प्रति दृष्टिकोण और इन सब बातों से जन्मी समस्यायें भी विरासत में मिली। समस्या उस समय और भी गम्भीर हो गयी जब साम्राज्यवादी शासनतंत्र को लोकतंत्रात्मक परिवेश में समायोजित करना कठिन हो गया।

15.6 भारत में नौकरशाही: विशेषताएँ

प्रशासन में अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) एक महत्वपूर्ण घटक है। लोक-सेवक वास्तव में प्रशासन का मूर्त रुप हैं। यह सरकारी प्रशासनतंत्र का संचालन करता है। यह नीतिगत निर्णयों, नियमों तथा विनियमों का आदि भी है और अंत भी। प्रशासनिक क्रियान्वयन की सफलता-असफलता में इसी की भूमिका है। यह वास्तविक प्रशासक है जिसके भारत में अनेक नाम हैं-अधिकारी, लोक सेवक, नौकरशाह, लेकिन नामों से इसके काम में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। एक लोक सेवक की आज भी जो विशेषताऐं हैं, भारत में उसे वे विरासत से मिली हैं। भारत में अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) की जो प्रमुख विशेषतायें हैं, वे इस प्रकार हैं-

1. प्रशिक्षित, योग्य, अनुभवी और कुशल अधिकारी,
2. लोक सेवा वैतनिक कार्यकर्ताओं का निकाय,
3. लोक सेवक पेशेवर, स्थायी अधिकारियों का निकाय,
4. लोक सेवक राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ एवं निष्पक्ष,
5. लोक सेवा संगठन पद-सोपान सिद्धान्त पर आधारित,
6. लोक अधिकारी प्रत्येक राज्य-व्यवस्था के शासन का अनिवार्य अंग होते हैं।

भारतीय प्रशासन व्यवस्था में अधिकारीतंत्र की यह सारी विशेषताऐं मौजूद हैं जो उसको औपनिवेशिक विरासत के रुप में मिली हैं।

स्वतन्त्रत भारत में अधिकारीतंत्र या नौकरशाही लोक-सेवा प्रशासन की आधारशिला है। भारत में नौकरशाही जिन कार्यों का सम्पादन करती हैं, वे इस प्रकार है-

- राजनीतिक कार्यपालिका को नीति सम्बन्धी परामर्श देना।
- शासकीय नीतियों का परिपालन करना।
- लोक-कल्याणकारी कार्यों द्वारा जनता की सेवा करना।

- अर्द्ध-विद्यायी (डेलीगेटेड लेजिस्लेशन) तथा अर्द्ध न्यायिक (प्रशासकीय) कार्य करना।
- लोक सम्पर्क बनाये रखना तथा जन शिकायतों का निराकरण करना।
- वर्तमान परिवेश में पर्यावरण को बनाये रखने का प्रयास करना तथा प्रदूषण की समस्या का समाधान निकालना।
- सामाजिक विषमताओं, राजनीतिक टकरावों तथा साम्प्रदायिक तनावों के परिप्रेक्ष्य में कानून और व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त रखना तथा,
- लोकतांत्रिक मूल्यों को बनाये रखना तथा मानव अधिकारों की रक्षा करना।

15.7 ब्रिटिश भारत में अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) का विकास

अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) के विकास को आमतौर से तीन भागों में विभाजित किया जाता है-

1. प्राचीन भारत में लोक-सेवा का विकास मुगल-शासक तक,
2. स्वतन्त्रता के पूर्व लोक-सेवा का विकास, तथा
3. स्वतन्त्र भारत में लोक-सेवा का विकास।

लेकिन यहाँ यदि नौकरशाही (अधिकारीतंत्र) को औपनिवेशिक विरासत के सन्दर्भ में देखना है तो स्वतन्त्रता के पूर्व नौकरशाही (लोक सेवा) के विकास को ध्यान में रखना होगा।

अधिकारीतंत्र स्वाधीनता से पूर्व: पिछले पन्नों में औपनिवेशिक विरासत के संदर्भ में ब्रिटिश प्रशासकीय व्यवस्था का अवलोकन किया गया। यहाँ विषय है प्रशासन के एक महत्वपूर्ण घटक के रुप में सेवी वर्ग या नौकरशाही की भूमिका और उसकी अनिवार्यता, विशेष रुप से औपनिवेशिक विरासत के परिप्रेक्ष में।

मुगल साम्राज्य के पतन और ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना के बाद दो संस्थायें सामने आई लूट-प्रथा और उसकी बुराईयों के बाद लोक सेवाओं का विकास। लोक सेवाओं की आधार शिला रखने का श्रेय वारेन हेस्टिंग्स तथा लार्ड कार्नवेलिस को जाता है। यह दोनों अपने समय में भारत के गवर्नर जनरल थे। इन लोक सेवाओं का धीरे-धीरे विकास हुआ। 1787 में जिलाधीश, मजिस्ट्रेसी तथा न्याय प्रशासन का कार्य एकीकृत किया गया। लोक सेवकों के चयन तथा प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया।

लार्ड क्लाइव ने 'कवेनेण्टेड (Covenanted) (लिखित वचन देना) तथा 'अकवेनेण्टेड' के रुप में लोकसेवाओं को विभागों में विभक्त कर दिया। 'कार्नवैलिस ने (1785-1793) लोक सेवा में पदोन्नति के लिए वरिष्ठता के सिद्धान्त को मान्यता दी। लार्ड वेलेजली ने प्रशासकों के प्रशिक्षण की नीव डाली। 1833 में एक चार्टर के द्वारा संसद ने खुली प्रतियोगिता पद्धति को चयन का आधार बनाया। भारतीय लोक-सेवाओं के इतिहास में 1854 सर्वाधिक महत्वपूर्ण इसीलिए है कि लार्ड मैकाले ने आई0सी0एस0 के लिए जो मानक तैयार किये वे आज भी भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के गठन और कार्यप्रणाली की आधारशिला है। सच यह है कि 1858 में क्राउन की सरकार अधिकारीतंत्र का रुप ले चुकी थी या यूँ कहिए कि सरकार नौकरशाही में बदल चुकी थी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 1912, 1917, 1918 वे ऐतिहासिक वर्ष हैं जिनमें (लार्ड इस्लिंगटन से लेकर माण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड की रिपोर्ट तक) लोक-सेवा का आंशिक भारतीयकरण हो चुका था। 1935 के ऐक्ट ने लोक सेवाओं के पूर्ण भारतीयकरण के लिए भूमिका तैयार कर दी।

15.8 स्वतन्त्र भारत में नौकरशाही का विकास

वास्तविकता तो यह है कि स्वाधीनता के आते-आते भारतीय प्रशासन को औपनिवेशिक विरासत में नौकरशाही की सौगात पूरी तरह मिल चुकी थी। अब मात्र आवश्यकता थी लोक सेवा को नई परिस्थितियों के अनुसार ढालने

की ताकि वह नये भारत की मांगों को पूरा कर सके। लोक सेवा को नवीन सरकारी तंत्र की व्यवस्था को नज़र में रखना था। यह नवीन व्यवस्था थी-

1. लोकतंत्र और गणराज्य की स्थापना
2. संघात्मक शासन व्यवस्था
3. संसदात्मक शासन पद्धति
4. सरकार के अंगों का प्रथक्कणीकरण
5. शक्ति का विकेन्द्रीकरण तथा पंचायती राज की स्थापना।

अतः इस नई व्यवस्था को नजर में रखकर यह तय किया गया कि ब्रिटिश लोक सेवा के स्थान पर ऐसी सेवा की जिसमें विशुद्ध भारतीय अधिकारियों का प्रभुत्व हो। इसलिए आई0सी0एस0 तथा आई0पी0एस0 के स्थान पर अखिल भारतीय सेवाओं जैसे आई0ए0एस0 तथा आई0पी0एस0 की 1946 में नींव रखी गई लेकिन इसे 1950 में नये भारतीय संविधान के तहत लागू किया गया।

नई लोक सेवा के विकास में सरदार पटेल तथा पं0 जवाहर लाल नेहरु का बड़ा योगदान है। जवाहरलाल नेहरु के निमंत्रण पर 1951 में प्रसिद्ध प्रशासनिक चिन्क ऐपल्बी भारत आये तथा इसी वर्ष ए0डी0 गोरवाला ने नेहरु के अनुरोध पर भारतीय लोक सेवा के सम्बन्ध में अपने अपने प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किये। इनकी सिफारिशों के अनुसार 1954 में भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, 1966 में प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना की गयी। 1970 में कार्मिक विभाग का गठन किया गया।

1992 तक भारत में तीन अखिल भारतीय सेवायें, 51 केन्द्रीय सेवा ग्रुप ''ए'' तथा राज्य स्तरीय सेवायें थीं। इनमें केवल अखिल भारतीय सेवायें वास्तव में औपनिवेशिक विरासत का नमूना कही जा सकती है। इसलिए आगे केवल अखिल भारतीय सेवाओं की विवेचना करना जरुरी है।

15.9 नौकरशाही: अखिल भारतीय सेवा के रुप में

यह स्वीकार करना होगा कि आधुनिक भारत में प्रशासकीय संरचना ब्रिटिश शासन की देन है। इस संरचना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, नौकरशाही या लोक-सेवा जिसे अखिल भारतीय सेवा का नाम दिया गया है। संघात्मक शासन व्यवस्था के अपनाये जाने के बाद भी अखिल भारतीय सेवाओं के स्वरुप को यथावत बनाये रखना अपने आप में एक विचित्र विरोधाभास है। ऐसा क्यों है? यह विचारणीय प्रश्न है, अखिल भारतीय सेवाओं को यथावत रखना अनेक कारणों से आवश्यक माना गया जो इस प्रकार है-

1. यह केन्द्रीय सेवायें होती है इसलिए इनका नज़रिया अधिक विस्तृत होता है जिससे देश में एकता और समरसता आती है,
2. इन सेवाओं के सदस्यों की भर्ती विस्तृत क्षेत्र से होती है। उनको अच्छा वेतन और सम्मान मिलता है जिससे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। देश को इस तरह योग्य, कुशल और कर्मठ अधिकारी मिलते हैं और यही कारण प्रतिभाशाली सदस्यों को इन सेवाओं के लिए आकर्षित करता है,
3. देश के प्रशासन का उच्चतम स्तर होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब प्रशासकीय पदों पर उच्च स्तर के नौजवान पहुँचे। वे जितने योग्य, निष्ठावान, ईमानदार, अनुभवी और प्रशिक्षित होंगे इतना ही प्रशासन का स्तर ऊँचा होगा। इस तथ्य को अम्बेडकर ने भी स्वयं स्वीकार किया है,
4. यह सेवा देशभर में प्रशासकीय प्रणाली में समरुपता स्थापित करती है। वास्तव में इसी समरुपता की विशेषता को अंग्रेजी शासन की महान देन माना जाता है,
5. यह सेवा राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक अहम भूमिका अदा करती है, विशेष रुप से एक ऐसे देश में जहाँ बहुलवादी संस्कृति है। लोकसेवकों का नजरिया पूरे देश के लिए एक जैसा होता है। वे जातीयता तथा

साम्प्रदायिकता की सकींग भावना से मुक्त होते हैं। उनमे निष्पक्षता होती है जो देश को एकसूत्र में बांधे रखती है,

6. संघीय लोक सेवक प्रशासन की रीढ़ हैं। वे सामान्य तथा आपात काल की परिस्थितियों में राष्ट्रपति या राज्यपालों के लिए भी महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं।

यह वह तर्क थे जिनके आधार पर लोक सेवा में औपनिवेशिक विरासत को आज तक संजोय रखा है। मैक्स वेबर के ''नौकरशाही के आदर्श प्रतिमान'' ने इस विरासत को और भी सार्थकता प्रदान की है। आज भारत में ब्रिटिश काल की नौकरशाही अपनी पूरी मानसिकता तथा अपने गुणो-अवगुणों के साथ भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में विद्यमान है जिस से पीछा छुड़ाना लगभग असंभव है।

विशेष बात यह देखने को मिलती है कि आधुनिक भारत की लोकसेवा में वर्गीकरण, भर्ती, प्रशिक्षण तथा पदोन्नति की प्रक्रिया की पद्धति पूरी तरह आज भी ब्रिटिश पद्धति से प्रभावित है। कर्तव्य, उत्तरदायित्व और उनके अनुसार पद संरचना की भी वही अवधारणाऐं हैं जो ब्रिटिश काल में विद्यमान थीं। यह और बात है कि नई राजनीतिक व्यवस्था के कारण लोकसेवियों या नौकरशाही में वफादारी, निष्ठा, प्रतिबद्धता तथा तटस्था का नज़रिया बदला है।

अभ्यास प्रश्न-

1. किस सदी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की भारत में स्थापना हुई?
   क. 17वीं सदी में ख. 16वीं सदी में
   ग. 18वीं सदी में घ. 15वीं सदी में
2. भारत में लोक सेवा के विकास को कितने चरणों में बाँटा जा सकता है?
   क. चार भागों में ख. पांच भागों में
   ग. तीन भागों में घ. दो भागों में
3. भारत में नौकरशाही की बुनियाद डालने का जनक किसे माना जाता है?
   क. लार्ड इस्लिंग्टन ख. लार्ड मैकाले
   ग. माण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड को घ. लार्ड डफरिन
4. आई0ए0एस0 का औपनिवेशिक कालीन नाम क्या था?
   क. आई0एफ0एस0 ख. ई0सी0एस0
   ग. पी0सी0एस0 घ. आई0सी0एस0
5. जवाहर लाल नेहरु ने किन दो प्रशासकीय चिन्तकों को भारत में प्रशासन सुधार के लिए आमंत्रित किया?
   क. सन्थानम, एल0डी0व्हाइट ख. फाइनर, मावलंकर
   ग. ऐप्लेबी, गोरवाला घ. डिमांक, सन्थानम

15.10 सारांश

- भारत में लोक-सेवा (नौकरशाही) प्रशासनिक विकास का परिणाम है। इसकी जड़ें प्राचीन काल से लेकर मुगलकाल तक तथा ब्रिटिश उपनिवेश काल से लेकर स्वाधीनता के आन्दोलन के अन्त तक फैली हुई हैं। आज भारत में लोक सेवा का जो स्वरुप है वह ब्रिटिश शासन काल या उपनिवेश युग की देन है। इसलिए नौकरशाही को औपनिवेशिक विरासत माना जाता है।
- 1600ई0 में भारत में ईस्ट इण्डिया की स्थापना के साथ ब्रिटिश प्रशासनिक सेवाओं का इतिहास आरम्भ होता है। 1857 के विद्रोह से पूर्व भारत के प्रशासनिक विकास में रेग्यूलेंटिंग एक्ट का बड़ा महत्व है।

1833 के अधिनियम से लेकर विभिन्न महत्वपूर्ण अधिनियमों से गुजरात हुआ ब्रिटिश प्रशासनिक सेवा (लोकसेवा) का इतिहास सन् 1935 के महत्वपूर्ण एक्ट तक आकर रूकता है।

- औपनिवेशिक विरासत की दृष्टि से ब्रिटिश प्रशासनिक काल को चार चरणों में बाँटा गया है: (अ) 1858 से पूर्व की प्रशासनिक व्यवस्था, (ब) 1858 से 1917 की प्रशासनिक व्यवस्था, (स) 1917 से 1937 तक प्रशासनिक व्यवस्था, तथा (द) 1937 से 1947 तक की प्रशासनिक व्यवस्था। कुल मिलाकर इन चारों चरणों को ही अधिकारीतंत्र या नौकरशाही की औपनिवेशिक विरासत कहा जा सकता है।
- ब्रिटिश युग में अनेक प्रशासनिक संस्थाओं का विकास हुआ जिनमें केन्द्रीय सचिवालय, लोक सेवा (नौकरशाही), और स्थानीय प्रशासन प्रमुख हैं। इस दौरान लोक सेवाओं के विकास में लार्ड कार्नवैलिस, लार्ड मैकाले, लार्ड डफरिन, लार्ड इस्लिंग्टन, जैसे गर्वनर जनरलों के अतिरिक्त माण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड जैसे महान अधिकारियों का बड़ा योगदान है।
- ब्रिटिश प्रशासनिक (नौकरशाही से सम्बन्धित) विरासत को भी समझना जरुरी है। नौकरशाही, उसकी मानसिकता, उसका आचरण, प्रशासनिक इकाईयाँ जैसे संभाग, जिला, उप-सम्भाग और तहसील तथा इन इकाईयों से सम्बद्ध कमिश्नर, कलेक्टर, एस0डी0ओ और तहसीलदार वे घटक हैं जो भारत को विरासत में मिले हैं। इसके अतिरिक्त अखिल भारतीय सेवायें, और प्रान्तीय सेवायें तथा केन्द्रीय सेवायें ऐसी औपनिवेशिक विरासत हैं जो आज भी ज्यूं की त्यूं बनी हुई हैं।
- आधुनिक भारत में नौकरशाही (अधिकारीतंत्र की) वही विशेषताएं हैं जैसी 1947 से पूर्व ब्रिटिश काल में थी। उनकी योग्यता, प्रशिक्षण, भर्ती, वेतन, उनकी निष्ठा, निष्पक्षताः, प्रशासनिक संरचना में पदसोपानियता, उत्तर दायित्व, कर्त्तव्य सब वे ही हैं, जो उनको विरासत में मिले हैं।
- 1912 से लेकर 1918 तक लोक सेवाओं के भारतीयकरण की प्रक्रिया चली। यह आंशिक भारतीयकरण था। इसलिए 1935 के एक्ट ने लोक सेवाओं के पूर्ण भारतीयकरण के लिए भूमिका तैयार कर दी।
- स्वतन्त्र भारत में अब आवश्यकता इस बात की थी कि लोक सेवा में औपनिवेशिक विरासत को नई परिस्थितियों शासन की लोकतांत्रिक संरचना, जनकल्याण की भावना, समरसता और एकता की अनिवार्यता-के साथ कैसे ताल-मेल बिठाया जाये। इसलिए अखिल भारतीय सेवाओं की नींव डाली गयी। आई0सी0एस0 के स्थान पर आई0ए0एस0 की नींव 1946 में पड़ी तथा चयन के लिए लोक सेवा आयोग की स्थापना की गयीं।

15.11 शब्दावली

औपनिवेशिक (Colonial)- कॉलोनी शब्द से बनाया है ब्रिटिश साम्राज्य ने अफ्रीका तथा ऐशिया के देशों को अपना उपनिवेश बनाया विशेष रुप से व्यापार के लिये बाद में राजनीतिक दृष्टि से भी इन उपनिवेशों में ब्रिटेन ने अपना शासन स्थापित कर लिया। विरासत (Heritage)- वे राजनीतिक, वैधानिक तथा प्रशासनिक संस्थाऐं हैं जो ब्रिटिश शासन में विकसित हुई वे भारतीय उपनिवेश के लिए विरासत हैं लोक सेवा (नौकरशाही) उनमें से सबसे महत्वपूर्ण विरासत है। अधिकारीतंत्र (officialdom)- यह विचार ऐन्थानी डाउन्स ने नौकरशाही या नौकरशाह के स्थान पर रखा क्योंकि नौकरशाही एक बदनाम शब्द बन गया था इसलिए वह इस संस्था को 'अधिकारी' कहना पसन्द करता था।

लोक सेवा (Civil Service) वास्तव में 'मिलिट्री सर्विस' को ध्यान में रखकर सिविल सर्विस की अवधारणा रखी गयी।

15.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ख, **2.** ग, **3.** ख, **4.** घ, **5.** क

15.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. अवस्थी-अवस्थी: भारतीय प्रशासन, आगरा।
2. पायली, एम0वी0: भारतीय संविधान, देहली।
3. अवस्थी एवं महेश्वरी: लोक प्रशसन, आगरा।
4. फड़िया, बाबूलाल: भारत में लोक प्रशासन, आगरा।
5. Stall : Publl c Personnel Adml nl stratl on.

15.14 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

1. Gorwala, A.D. : Report on Public Administration, 1951.
2. Whl te, L.D. : An Introduction to the Study of Public Adminstration.
3. Appleby, P.H. : Report on Public Administration.
4. Ashok Chanda : Indian Administration, London.

15.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में प्रशासनिक विकास को स्पष्ट करते हुए उपनिवेश के सन्दर्भ में भारत में प्रशासनिक संस्थाओं को समझाइए।
2. औपनिवेशिक विरासत नौकरशाही के परिप्रेक्ष्य में क्या थीं? तथा भारत में नौकरशाही की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
3. स्वतन्त्र भारत में नौकरशाही को क्यों स्वीकार किया गया?
4. अखिल भारतीय सेवाऐं क्या हैं?

इकाई- 16 भारतीय अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) की सामाजिक पृष्ठभूमि

इकाई की संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 समाज की अवधारणा
16.3 भारतीय समाज: प्रकृति
16.3.1 समाज का बहुलवादी स्वरुप
16.3.2 विभिन्नता में एकता
16.4 भारतीय समाज के नकारात्मक पहलू
16.5 अधिकारीतंत्र (नौकरशाही): अर्थ और प्रकृति
16.6 भारतीय अधिकारीतंत्र: ब्रिटिश काल
16.6.1 आरम्भ काल (1600-1858)
16.6.2 सुधार काल (1858-1947)
16.7 अधिकारीतंत्र: भारतीय संदर्भ
16.8 भारतीय नौकरशाही का विकृत स्वरुप और उपचार
16.9 भारतीय अधिकारतंत्र की चुनौतियाँ
16.10 सारांश
16.11 शब्दावली
16.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
16.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
16.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
16.15 निबंधात्मक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

यदि भारतीय अधिकारीतंत्र (नौकरशाही) को सामाजिक पृष्ठभूमि में देखा जाये तो ऐसे अनेक तथ्य सामने आयेंगे जिन्होंने भारतीय अधिकारीतंत्र के वर्तमान स्वरुप को ढालने में अहम भूमिका अदा की है। भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना, मुगल सल्तनत के पतन, और कम्पनी द्वारा राजनीतिक सत्ता ग्रहण करने के साथ ही अधिकारीतंत्र की नीवं पड़ी जो अपने स्वरुप, अपने उद्देश्य, तथा अपनी कार्यशैली में पूर्णतयाः सामन्ती, पूंजीवादी और वाणिज्यिक थी तथा जिसकी मानसिकता रंगभेदी थी। 1857 का विद्रोह इस मानसिकता का एक भयानक नतीजा था।

1858 से 1947 तक भारत में नौकरशाही पूरी तरह अपनी औपनिवेशिक विरासत और पाश्चात्य संस्कृति के अतिरिक्त भारतीय समाज के परिवेश के साथ छा चुकी थी। इस दौर में वह सुधारों की अनेक श्रेणियों की श्रंखला से होकर गुजरी, यहाँ तक कि 1935 के भारत अधिनियम ने उसको वह परिपक्कव स्वरुप दिया जो आज तक बना हुआ है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ब्रिटिश लोक सेवा (आई0सी0एस0) की परिधि से निकलकर भारतीय लोक सेवा (आई0ए0एस0 तथा आई0पी0एस0) में प्रवेश कर गई। आज अपने वर्तमान स्वरुप में यह भारत की चुनौतीपूर्ण

सामाजिक परिस्थितियों का सामना करते हुए विकास की ओर अग्रसर है। इसमें विरासत का रंग भी है और भारतीय समाज की छाया भी।

16.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारतीय अधिकारतंत्र को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देख सकेंगे।
- ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में नौकरशाही की मानसिकता, और कार्यशैली क्या थी, यह समझ पायेंगे।
- 1857 से लेकर 1947 तक भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ क्या थीं और उन परिस्थितियों का सामना करने के लिए भारतीय नौकरशाही किन सुधारों के दौर से गुज़री, यह जान पायेंगे।
- भारत की सामाजिक विशेषताऐं क्या हैं और वे किस तरह भारतीय अधिकारीतंत्र को प्रभावित करती हैं, इसे समझ सकेंगे।
- भारतीय समाज की वर्तमान चुनौतियाँ क्या हैं और संवैधानिक तकाजे क्या हैं और किस तरह भारतीय अधिकारीतंत्र इन चुनौतियों का सामना करते हुए तथा तक़ाज़ों की पूर्ति करते हुए आगे बढ़ रहा है, यह जान पायेंगे।

16.2 समाज की अवधारणा

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ ही वास्तव में भारत में अधिकारीतंत्र या लोक सेवा का इतिहास आरम्भ होता है। संस्थाऐं जो भी हों वे अपने सामाजिक परिवेश से प्रभावित होती हैं। समाज स्थिर नहीं होता है। गतिशीलता, परिवर्तनशीलता तथा निरन्तरता उसकी विशेषताएँ हैं। वह अनेक चरणों से गुजरकर विकसित होता है। भारत में अखिल भारतीय सेवाओं के इतिहास को ऐसे तीन चरणों में विभक्त किया गया है- (1853 से 1919), (1919 से 1947) तथा (1919 के पश्चात)। इन तीनों चरणों में समाज का स्वरुप बदला है और इस परिवर्तन के साथ अधिकारीतंत्र भी बदला है। लेकिन अधिकारीतंत्र और उसके सामाजिक परिवेश को जानने से पूर्व समाज और उसके निर्माणिक तत्वों को जानना जरुरी है।

लोक-प्रशासन के आधुनिक विचारकों का यह मत है कि यदि किसी देश की प्रशासनिक व्यवस्था को जानना है तो उसके सामाजिक परिवेश का अध्ययन करना जरुरी है। ‘परिवेश एक व्यापक अर्थ वाला शब्द है, जिसमें भौतिक तथा परा-भौतिक (विचारात्मक) सभी तत्व सम्मिलित होते हैं। अतः समाज इस पूरे परिवेश से प्रभावित होता है तथा बदले में सभी संस्थाओं को प्रभावित करता है।

पर्यावरणीय या परिस्थितिकीय परिवेश का विचार सब से पहले सन् 1961 में एफ0डी0 रिंग्स ने अपनी प्रसिद्ध रचना ‘‘The Ecology of Public Administration’’ में रखा। उसके सिद्धान्त ने प्रशासन और पर्यावरण के परस्पर सम्बन्धों के मध्य सार्थकता के बारे में धूम मचा दी।

पर्यावरण में संस्थान, इतिहास, आचारशास्त्र, राजनीति, संस्कृतिक, आर्थिक व्यवस्था, धर्म, दर्शन, परम्पराएं और विचारधाराऐं सभी आती हैं। कुछ विचारकों ने इन सब बातों के समुच्य या एकीकरण को ‘संस्कृति’ कहा है और दूसरों ने इसे ‘समाज’ की संज्ञा दी है। रिग्स इस समुच्य को पर्यावरण (Ecology) कहता है।

16.3 भारतीय समाज: प्रकृति

जितनी प्राचीन भारतीय सभ्यता है, उतनी प्राचीन भारतीय संस्कृति और उतना पुराना उसका समाज है। भले ही यह समाज अपनी अविकसित अवस्था में हो। चन्द शब्दों में यह कहा जा सकता है कि परा-ऐतिहासिक युग (Pre-

historic) के समय से भारत बहु-जातीय अथवा बहु-वर्णीय लोगों का देश रहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज उतना प्राचीन है जितनी पुरानी भारतीय सभ्यता तथा भारतीय प्रशसन भी उतना ही पुराना है जितना पुराना भारतीय समाज। इस तरह भारतीय प्रशासन सभ्यता, संस्कृति और समाज के अन्तः सम्बन्धों का नतीजा है।

भारतीय समाज प्राचीनकाल में ऋग्वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, महाकाव्य काल और मौर्य काल से होकर राजपूत काल तक आकर रुकता है।

राजपूत काल के बाद 1206 से मुस्लिम सल्तनत काल आरम्भ होता है जिसका अन्त 1526 में होता है।

सल्तनत काल के पतन के साथ मुगल काल आरम्भ होता है जो 1858 तक चलता है।

इस तरह हिन्दु राज्य-व्यवस्था अपने प्रारम्भिक काल से लेकर 100ई0 तक माना जाता है।

सारांश यह है कि 100ई0 से लेकर सन् 1858 तक जो राजनीतिक व्यवस्था रही उसके अनुसार समाज का निर्माण हुआ तथा इस राजनीतिक व्यवस्था ओर सामाजिक संरचना के अनुसार जो पर्यावरण तैयार हुआ उसने भारतीय प्रशासन का स्वरुप और प्रकृति तैयार की। इसमें राजनीति, धर्म, परम्परायें, विचारधाराऐं, आर्थिक व्यवस्था, नैतिक मूल्य और शासकों का आचरण सभी का अपना-अपना योगदान है। इस समय की सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं ने और उनकी आवश्यकताओं ने भारतीय प्रशासन की प्रकृति निश्चित की।

16.3.1 समाज का बहुलवादी स्वरुप

भारत एक बहु-सांस्कृतिक (Multi Cultural) और बहु-सामाजिक (Multi Social) देश है। विविधता इसकी पहचान है। बहुलवाद (Pluralism) इसकी विशेषता है। अनेकता में एकता इसका चरित्र है। भारत की संस्कृति में गतिशीलता (Dynamism) है। यह विकास का नतीजा है, जो सदियों की देन है।

भारतीय बहुलवाद का इतिहास भारत में बसने वाले प्रजातीय वर्गों से आरम्भ होता है- इण्डो-आर्यन-द्राविणीय, मंगोलीय, आर्य-द्राविण, मंगोलाई-द्राविण, साइको-द्राविण, तुर्कों-इरानी इत्यादि प्रजातीयों ने भारतीय बहुलवाद की नींव डाली है। भारतीय समाज की एक सांस्कृतिक संरचना गठित हुई जिसमें परम्पराओं, रुढ़ियों, विचारों और संस्थाओं का योगदान रहा है। मानव आचरण की एक पद्धति भी तक संस्कृति का निर्माण करती है। संस्कृति मानव अनुभव से निर्मित होती है। टेलर के अनुसार: ''संस्कृति ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि, रिवाज और लोगों की क्षमताओं, आदतों और व्यवहारों का एक जटिल समुच्य है। भारतीय संस्कृति में यह सभी विशेषताऐं विद्यमान हैं।

भारतीय संस्कृति का इतिहास हज़ारों वर्ष पुराना है। भारत में आर्यो के आगमन से पूर्व भारतीय संस्कृति विकसित हो चुकी थी। द्राविण भारत के मूल निवासी थे। उनकी संस्कृति और सभ्यता दूर-दूर तक फैली हुई थी। हड़प्पा और मोहनजोदाड़ो द्राविण सभ्यता के उद्गम थे। आर्यो के आगमन और द्राविणों के साथ उनके अन्तः सम्बन्धों से संस्कृति का एक दूसरा दौर शुरु हुआ। दोनों ने एक दूसरे की संस्कृतियों को प्रभावित किया। इस तरह दोनों संस्कृतियों क मेल से भारत के एक नया समाज अस्तित्व में आया। इस नये समाज की रचना के साथ नये विचार, नई आस्थाऐं और नये विश्वास भी पनपे जिन्होंने मिलकर भारतीय धर्म का निर्माण किया।

16.3.2 विभिन्नता में एकता

भारतीय समाज और संस्कृति के घटक या संयोजन विभिन्नता के प्रतीक है। उनके स्रोत भी अनेक हैं। लेकिन विभिन्न सांस्कृतिक घटकों के आपस में घुलने-मिलने के कारण एकीकरण का एक समुच्य बन गया है। इस प्रक्रिया को पूरा होने में सदियाँ गुज़री हैं। सर हर्बट डिस्ले के अनुसार, ''भाषाओं, परम्पराओं और धर्मों की भौतिक और सामाजिक अनेक विभिन्नताओं की सतह के नीचे, जो भारत में देखने को मिलती है, हिमालय से लेकर

कैपकमोरिन तक जीवन की उस समानुरुपता के भी दर्शन होते हैं, जो वास्तव में भारतीय चरित्र है, जो सामान्यतया भारतीय व्यक्तित्व है, जिस पहचान को मिटाया नहीं जा सकता।'' सार यह है कि विभिन्न भाषाओं, धर्मों, पथों, विश्वासों, रस्मों, रिवाजों, शारीरिक बनावटों, विभिन्न व्यवहारों, नजरियों, विचार धाराओं और क्षेत्रीय एवं भौगोलिक विभिन्नताओं ने भारतीय संस्कृति और समाज को समाविष्टवादी (Inclusive) बना दिया है।

16.4 भारतीय समाज के नकारात्मक पहलू

भारतीय समाज और संस्कृति की धार्मिक, आध्यात्मिक, कलात्मक, दार्शनिक प्रवृत्ति या चरित्र, उसका बहुलवादी और बहुआयामी स्वरुप और कशमीर से लेकर कन्या-कुमारी तक फैली हुई उसकी विविधता में एकता-यह सब वे सकारात्मक पहलू हैं जो भारतीय समाज का निर्माण करते हैं।

लेकिन समाज की इस सकारात्मकता के साथ-साथ वे नकारात्मक पहलू भी हैं जो भारतीय सामाजिक व्यवस्था के साम्य (संतुलन) को बिगाड़ते भी रहते हैं। इन नकारात्मकताओं का प्रभाव सब से अधिक भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था पर पड़ता जिसके कारण देश का विकास रुकता है। समाज के सामने प्रमुख चुनौतियाँ इस प्रकार हैं-

1. **जातिवाद तथा वर्ण व्यवस्था-** प्रत्येक समाज में सामाजिक नियंत्रण एवं व्यक्तिक-स्तर के निश्चियीकरण के लिए अनेक प्रबन्धन (Provisions) तथा नियम होते हैं। भारत में ऐसे प्रबन्धनों का नाम जाति-प्रथा है। इस व्यवस्थ ने सामाजिक संरचना पर गहरा प्रभाव डाला है। जातिवादी समाज में सामाजिक या राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा जाति भावना प्रबल होती है। अर्थात अर्थात 'राष्ट्र और समाज के प्रति वफादारी कम और अपनी जाति के प्रति वफादारी अधिक-का सिद्धान्त प्रबल होता है। जाति प्रथा का वास्तविक स्रोत वर्ण-व्यवस्था है, जिसका उद्भव ऋग्वेद और मनुस्मृति से हुआ है। ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख मानना, क्षत्रीय को उसकी बाहें, वेश्य को उदर और शूद्र को पैर मानना समाज को शारीरिक और मानसिक तौर पर विघटित करतीं है।
2. **रुढ़ीवाद या परम्परावाद-** यह आधुनिकता और विकास के लिए एक ऐसा अभिशाप है जिससे छुटकारा पाना एक जटिल समस्या है। क्योंकि अधिकांश भारतीय जीवन ग्रामीणीय है जहाँ के अधिकांश लोग विशेष रुप से महिलाऐं अशिक्षित हैं, इसीलिए यहाँ रुढ़ीवाद की जड़े गहरी हैं। यह स्थिति समाज के लिए एक बड़ी चुनौती है।
3. **ग्रामीणीय एवं नगरीय अन्तर-** भारतीय समाज के सत्तर प्रतिशत् आबादी गाँवों में रहती है जो आधुनिकता के प्रत्येक क्षेत्र में पिछड़ी हुई है। इसके विपरीत नगरीय भारत का बड़ा भाग आधुनिकता और विकास के सुख भोगता है। इस अन्तर ने दोनों क्षेत्रों के लोगों की सोच या मानसिकता में भी अन्तर पैदा किया है जो सामाजिक द्वन्द का कारण है।
4. **धर्मान्धता-** यह स्थिति भारत के लिए सबसे अधिक घातक है। यह जुनून और पागलपन को जन्म देती है। यह आध्यात्मिकता नहीं है, यह कोरी पाखण्डता है। यह हिंसा, घृणा, द्वेष और द्वन्द का स्रोत है। 'मेरा धर्म, मेरे विश्वास, मेरी संस्कृति मात्र यही सर्वोत्तम है-यह सोच समाज में केवल टकराव पैदा करती है। यह एकता और समरसता को खण्डित करती है।
5. **चरमपंथी विचारधारा-** चरमपंथी आधुनिकता, सुधारवाद, परिवर्तन और प्रगति का कट्टरता से विरोध करते हैं। यह अपनी विचारधारा हिंसात्मक तरीके से दूसरों पर लादने का प्रयास करते हैं। इनके नजरिए, आचरण और कार्यपद्धति चरम सीमाओं तक पहुँचती है, जो देश के लिए घातक है।
6. **साम्प्रदायिकता-** अपने विशेष सन्दर्भ में साम्प्रदायिकता का अर्थ है हिन्दु-मुस्लिम सम्प्रदायों में टकराव। यह टकराव नज़रियों का भी होता है और अक्सर इस की अभिव्यक्ति हिंसात्मक टकराव के रुप में होती है। इसके अनेक कारण हैं-ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और विचारात्मक सभी का योगदान रहता

है। साम्प्रदायिकता समाज को झकोर कर रख देती है, राजनीतिक व्यवस्था के संतुलन को बिगाड़ती है और आर्थिक गतिविधियों में बाधा डालती है। और सब से अधिक यह देश की एकता और अखण्डता के लिए खतरा बनती है।

7. **आर्थिक विषमता-** भारतीय समाज में आर्थिक विषमता द्वन्द का एक बड़ा कारण है। देश के धन का सत्तर प्रतिशत भाग चन्द कुबेर घरानों के पास है। सब से बुरी स्थिति किसान और मज़दूर की है। इस विषमता का प्रभाव शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी देखने को मिलता है।
8. **भ्रष्टाचार-** भारतीय समाज के संदर्भ में इस विषय पर जितना भी लिखा जाये वह कम है। ऊपर से नीचे तक समाज भ्रष्टाचार के रोग से जकड़ा हुआ है। आये दिन के घोटाले इस बीमारी के प्रतीक हैं। विश्व के सबसे भ्रष्ट देशों में भारत का नाम भी है।
9. **राजनीतिक प्रपंच-** सत्ता प्राप्ति के होड़ में राजनीतिक प्रपंच का खुलकर प्रयोग होना लगभग सभी सामाजिक बुराईयों का कारण है। साम्प्रदायिकता, प्रचण्ड राष्ट्रवाद, धर्मान्धिता, हिंसा, और उग्रता-यह सब भारतीय राजनीति की देन है।
10. **मूल्यों में गिरावट-** यह वह सामाजिक बुराई है जो भ्रष्टाचार, हिंसा, राजनीतिक पाखण्ड, आर्थिक विषमता और असहिष्णुता का बढ़ावा देती है। भारतीय समाज इस गिरावट से पूरी तरह ग्रस्त है। मूल्य ही चरित्र का निर्माण करते हैं और लोगों का चरित्र समाज का स्वरूप तैयार करता है।

16.5 अधिकारीतंत्र (नौकरशाही): अर्थ और प्रकृति

भारतीय संदर्भ में समाज और संस्कृति को समझने के बाद प्रशासनिक दृष्टि से अधिकारीतंत्र या नौकरशाही को समझना जरुरी है, क्योंकि अधिकारीतंत्र आधुनिक समाज का एक निर्णायक घटक हैं।

एन्थॉनी डाउन्स ने अपने प्रसिद्ध शोध-प्रबन्ध 'इनसाइड ब्योरियोक्रेसी (Inside Bureaucracy) में नौकरशाही का सकारात्मक नज़रिये से विश्लेषण किया है। क्योंकि शब्द नौकरशाही को व्यंग, उपहास और घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा है, इसलिए डाउन्स ने (1964) नौकरशाही (Bureaucracy) के स्थान पर 'अधिकारी' (officials) शब्द का प्रयोग करना उचित समझा। प्रशासन की दृष्टि से उसकी विषय वस्तु 'ब्योरोज' (Bureaus) है जिसका अर्थ है विभाग या कार्यालय और उसमें निर्णायक भूमिका अदा करने वाले लोग अधिकारी होते हैं। इस व्यवस्था को अधिकारीतंत्र कहा जा सकता है।

डाउन्स के विश्लेषण के अनुसार अधिकारीतंत्र में अधिकारियों के अनेक सकारात्मक कार्य हैं जैसे तार्किक तरीक़े से काम करना, कम से कम लागत और समय में अधिकतम उपलब्धि प्राप्त करना, ब्योरोज और समाज के लिए काम करना, राष्ट्र, समाज, सरकार और व्यवस्था के प्रति वफादार रहना इत्यादि। लेकिन कुछ अधिकारियों के नकारात्मक कार्य भी होते हैं जैसे विशुद्ध आत्म हितकारी काम करना, अपनी शक्ति, आय और प्रतिष्ठता को दिन रात बढ़ाये रखने का प्रयास करना, अपनी सुरक्षा और सुविधा को बढ़ाने का तरीका खोजना, यथास्थिति को बनाये रखना, नवीनीकरण का विरोध करना इत्यादि। कुछ ऐसे अधिकारी हैं जो आत्म-हितों को जनहितों से मिला लेते हैं। यह चालाक होते हैं और राजनीतिज्ञों, कुलीनों, पूंजीपतियों के साथ-साथ समाज के प्रति भी वफ़ादार होते हैं। डाउन्स के अनुसार 'शक्ति प्राप्त करना, प्रभावित करना और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना' इनका विशेष लक्ष्य होता है। यहाँ सब से अहम बात यह है कि ब्योरोज, के अधिकारी निर्णय-निर्माण का आधार होते हैं।

16.6 भारतीय अधिकारीतंत्र: ब्रिटिश काल

समाज और अधिकारीतंत्र को समझने के बाद ब्रिटिश सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में भारत में विकसित अधिकारीतंत्र के स्वरुप, उसकी मनःस्थिति और उसकी कार्यशैली को समझना जरुरी है।

एक पुरानी कहावत है 'यथः राजा तथः प्रजा'। यह कहावत राजतंत्र में चरिथार्त थी। लोकतंत्र का सच यह है कि 'यथः प्रजा तथः राजा'। यहाँ राजा से अर्थ शासन और प्रशासन से है। प्रशासन की बागडोर नौकरशाहों के हाथ में होती है। अतः यह वैसा ही प्रशासन चलाते हैं जैसा इनके समाज ने इनको ढाला है।

भारत में अधिकारीतंत्र को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष में तीन चरणों में बाँटा जा सकता है। यह तीन चरण हैं- सन् 1600 से 1858 तक, सन् 1858 से 1947 तक तथा सन् 1947 से अब तक।

यहाँ हम केवल उन दो चरणों की (1600-1858) तथा (1858-1947) की समीक्षा करेंगे जिनका सम्बन्ध भारत में ब्रिटिश काल से है, जिसमें अधिकारीतंत्र ने जन्म लिया तथा जहाँ इसका सुधार और विकास हुआ।

16.6.1 आरम्भ काल (1600-1858)

आरम्भ काल से यहाँ अर्थ है भारत में उस औपनिवेशिक काल का जिसमें मुगल सल्तनत के पतन के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हुआ और उसके गर्भ में अधिकारीतंत्र ने जन्म लिया। क्योंकि कम्पनी का उद्देश्य व्यापार करना था इसलिए उस समय के प्रशासनिक अधिकारियों की प्रवृत्ति व्यापारी थी, क्योंकि वे किसी निश्चित प्रशासनिक व्यवस्था का अंग नहीं थे, फिर भी इन्हीं अधिकारियों के बल पर कम्पनी भारत में प्रमुख यूरोपीय शक्ति बन गयी। यह स्थिति 1773 तक बनी रही। कम्पनी के अधिकारी 'नौकरशाह' नहीं थे, वे मुक्त व्यापारी थे, इसलिए स्वेच्छाचारी थे। वे ''लूट की प्रथा'' का अंग और माध्यम थे। इसलिए कम्पनी की मनमानी को नियंत्रित करने के लिए ब्रिटिश संसद ने भारत में ''दोहरी शासन व्यवस्था को लागू किया। 1773 में रेग्यूलेटिंग एक्ट पास किया गया, जिसे भारत के संवैधानिक इतिहास का पहला मील का पत्थर माना जाता है। इसका उद्देश्य भारतीयों को सुशासन देना था और ''लूट प्रथा'' को समाप्त करना था।

अभी तक प्रशासनिक अधिकारियों की प्रकृति वाणिज्यिक ही थी, जो योग्यता-आधारित प्रशासनिक सेवाओं के विकास में बाधक थी, इसलिए गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज तथा लार्ड कार्नवैलिस ने भू-राजस्व की वसूली तथा शान्ति और व्यवस्था के लिए लोक सेवाओं की आधारशिला रखी। 1787 में जिलाधीश, मजिस्ट्रेसी, तथा न्याय प्रशासन की बुनियाद पड़ी। धीरे-धीरे राजस्व, पुलिस, दीवानी और फ़ौजदारी न्याय जैसे विषय लोक सेवाओं के अन्तर्गत आ गये। लार्ड क्लाइव ने अधिकारियों के निजी व्यापार करने, घूस या उपहार लेने पर पाबन्दी लगा दी।

क्लाइव के सुधारों के बाद भी स्थिति गम्भीर बनी रही। इसलिए लार्ड कार्नवैलिस (1785-1793) ने अधिकारियों के व्यापार करने पर पाबन्दी लगाकर बदले में उनका वेतन बढ़ा दिया। वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति का सिद्धान्त अपनाया गया। इस तरह कुछ हद तक अधिकारियों के स्वहित पर अंकुश लगा।

अभी तक लोक सेवाओं को भारत की सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान नहीं था और वे पूरी तरह यूरोपीय मानसिकता से काम कर रहे थे, इसलिए लार्ड वेलेजली (1798-1805) ने इस तथ्य को भांपते हुए अधिकारियों को भारतीय भाषाओं, परम्पराओं और मूल्यों के अनुरुप कानून और इतिहास की शिक्षा देने के लिए कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। लोक सेवा प्रशिक्षण की यह पहली संस्था बन गई।

भारतीय लोक सेवाओं के इतिहास में 1854 सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। लार्ड मैकाले की सिफारिशों के तहत आई0सी0एस0 के गठन और उसकी कार्यप्रणाली के नियम तैय किये गये जो आज भी भारतीय प्रशासनिक सेवाओं की आधारशिला हैं।

यहाँ 1600 से लेकर 1858 तक भारतीय अधिकारीतंत्र का विश्लेषण किया जाए तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं-

1. भारत में काम करने वाले अधिकारी या नौकरशाह सामन्ती और पूँजीवादी कुलीन घरानों से आये थे, जो ब्रिटेन की सामाजिक विशेषता थी।

2. यह ग्रेट-ब्रिटेन का साम्राज्यवादी काल था जिसमें अंग्रेज स्वयं को स्वामी तथा उपनिवेश के निवासियों को गुलाम मानते थे।
3. अंग्रेज पाश्चात्य संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ मानते थे तथा अपनी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं और विचारों को आदर्श मानते थे।
4. यह रंग-भेद और नसलवाद में विश्वास रखते थे।
5. इनका विश्वास था कि पूर्व एवं पश्चिम का कभी मेल नहीं हो सकता।
6. यह श्रेष्ठता की मनोग्रंथी (Superiority Complex) से ग्रस्त थे, इसलिए भारतीयों को हीन दृष्टि से देखते थे।
7. भारत में इनके निवास-आवास क्षेत्र भारतीय बसासत से अलग थे अर्थात् यह सिविल लाइन्सों में रहते थे जहाँ भारतीयों के प्रवेश वर्जित थे। यह अपने कल्बों के द्वार पर 'इण्डियन डाग्स आर नाट एलाउड' लिखते थे।
8. इस तरह भारतीयों और अंग्रेजों के मध्य एक गहरी सामाजिक खाई थी, जिसके परिणामस्वरुप 1857 में इनको विद्रोह का सामना करना पड़ा। वास्तविकता यह है कि 1857 की बगावत नौकरशाहों के अहंकारी, अलगावदी और दमनकारी रवय्ये का नतीजा थी।

16.6.2 सुधारकाल (1858-1947)

वास्तव में बगावत से पहले भारत की प्रशासनिक व्यवस्था रेग्यूलेटिंग एक्ट के चारों ओर विकसित हो रही थी। 1858 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्थान पर ब्रिटिश संसद का शासन स्थापित हो गया। अब भारतीय शासन तीन मुख्य शक्तियों के हाथ में था-भारत सचिव तथा उसकी परिषद, गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद तथा रेसीडेन्ट्स इन शक्तियों का प्रयोग उनके अधिकारी करते थे जो वास्तव में नौकरशाह थे। इस तरह भारत में पूरी तरह अधिकारीतंत्र स्थापित हो गया।

लेकिन सत्ता परिवर्तन के बाद भी शासन (प्रशासन) पूरी तरह केन्द्रीकृत तथा निरंकुश बना रहा। इसलिए 1861 में एक अधिनियम के तहत भारतीय प्रशासन में कई परिवर्तन हुए। प्रान्तीय विधायिकाओं की स्थापना हुई तथा भारत को प्रशासन का ऐसा स्वरुप दिया गया जो ब्रिटिश शासन के अन्त तक चलता रहा। इसके द्वारा प्रशासन में भारतीयों को मौका मिलना आरम्भ हुआ। लेकिन लोक सेवाओं में भारतीयों को अधिक भागीदारी नहीं मिली।

1917 में भारत सचिव मॉण्टेग्यू की घोषणा के बाद प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों की भागीदारी बढ़ने लगी और 1919 तक भारत स्वशासन की ओर बढ़ता नजर आया। 1917 से 1937 तक भारत की प्रशासनिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन आये। द्वैध-शासन की स्थापना हुई, नौकरशाही और लोकतंत्र को मिलाया गया और अधिकारीतंत्र में सामाजिक विषमता को हतोत्साहित किया गया। 1918 में मॉण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार इसमें लोक-सेवा की परीक्षा इंग्लैण्ड और भारत में एक साथ कराने, वरिष्ठ पदों में एक तिहाई पद भारतीयों के लिए सुरक्षित रखने तथा लोक-सेवा आयोग की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। 1926 में लोक सेवा आयोग की स्थापना की गयी।

सुधार काल में लोक सेवाओं का विश्लेषण करने के बाद नौकरशाही के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण तत्व सामने आते हैं, वे इस प्रकार हैं-

1. सुधारकाल में यद्यपि कम्पनी का शासन समाप्त हो चुका था लेकिन नई शासन व्यवस्था की बागडोर पूरी तरह अधिकारियों के हाथों में थी जो अंग्रेज थे और उनकी मानसिकता अभी भी सामन्ती, पूँजीवादी, नसलवादी, अलगाववादी, निरंकुश और स्वेच्छाचारी थी।

2. उनकी विशेषता वही थी जिसका वर्णन कार्ल मार्क्स ने किया है-पूंजीपतियों, सामन्तियों और राजनेताओं की यथास्थिति को बनाये रखना, राज्य के दमनकारी स्वरुप में एक उपकरण के रुप में काम करना तथा परजीवी बने रहना।
3. उन का उद्देश्य लगभग वही था जिसकी व्याख्या ऐन्थानी डाउन्स ने की है-स्वहित के लिए काम करना, अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति तथा आय को दिन-व-दिन बढ़ाये जाने का प्रयास करना।
4. भारतीय समाज से उनका अभी भी अलगाव था, यद्यपि रेम्जे, एटकिनसन, बैटिन जैसे अधिकारी भी थे (कुमायूँ में) जिन्होंने अपने काय-क्षेत्र को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था। वे यहाँ के समाज और संस्कृति में पूरी तरह घुल मिल गये थे।
5. लेकिन 1857 से लेकर 1947 के काल में भी उनकी मानसिकता वही बनी रही जो शासकों की होती है। बेगार प्रथा के माध्यम से वे निर्धन समाज का शोषण करते थे। वास्तव में भारत में भ्रष्टाचार की नींव उन्हीं ने ही डाली।
6. वे सर्व साधारण जनता से दूरी बनाए रखते थे लेकिन भारतीय सामन्ती तबकों से राजाओं, रजवाड़ों, नवाबों, ज़मीदारों से घुले-मिलें रहते थे और उनके माध्यम से अपनी दमनकारी नीतियों को अन्जाम देते थे।
7. इसी काल में भारतीय भी लोक सेवक बने और वे भी पूरी तरह पाश्चात्य मानसिकता और संस्कृति के शिकार हो गये।

अत: ब्रिटिश नौकरशाहों का अन्तिम लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ों को मजबूत करना था। विभाजित करो और शासन करो (कपअपकम मज मउचमतं) उनके प्रशासन का मूलमंत्र था। यह स्थिति 1947 तक बनी रही यहाँ तक कि भावी रणनीति के तहत उन्होंने भारत का भी विभाजन कर दिया।

16.7 अधिकारीतंत्र: भारतीय संदर्भ

अधिकारीतंत्र में सुधारों का ही यह नतीजा था कि लोक सेवाओं के भारतीयकरण की मांग बढ़ गयी, क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों को व्यक्तिगत रुप सेवा की जाने वाली आलोचना, प्रान्तों में भारतीय मंत्रियों के अधीन काम करने की कलंकपूर्ण स्थिति तथा अधिकारियों को असुविधा में डालने वाला 1920 का असहयोग आन्दोलन, प्रथम विश्व युद्ध के कारण मूल्यों में वृद्धि और अधिकारियों के वेतन की अपर्याप्ता आदि कारणों ने यूरोपीय अधिकारियों को बहुत हतोत्साहित किया। नौकरशाही के प्रति उनका आकृषण समाप्त होने लगा। भारतीयकरण एक तरह से अब अपरिहार्य हो गया। लोक सेवा आयोग की स्थापना इसी माँग का परिणाम थी।

1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा लोक सेवाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गय। राज्यों में भी लोक-सेवा आयोग की स्थापना की गयी। इन सेवाओं पर अब नये अधिनियम के तहत गर्वनर जनरल और प्रान्तीय गर्वनरों का नियंत्रण हो गया। इसी तरह जब भारत को स्वतन्त्रता मिली तो लोक-सेवायें बहुत अच्छी स्थिति में थीं। आई0सी0एस0 के स्थान पर आई0ए0एस0 और आई0पी0एस0 की स्थापना की गयी। 1951 में आई0एफ0एस0 अस्तित्व में आई। 1954 में ऐपल्बी ने भारतीय लोक सेवा के बारे में जो सिफारिश की उसके तहत भारतीय लोक प्रशासन की नई दिल्ली में स्थापना की गयी। 1966 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने लोक-सेवा में सुधार का रास्ता खोला।

इस तरह अधिकारीतत्र ब्रिटिश सामाजिक परिवेश की परिधि से निकलकर शुद्ध भारतीय समाज के परिवेश में स्वतन्त्रता मिलने के बाद नये आयाम और नये लक्ष्य के साथ उपस्थित हुआ। यह नया सामाजिक परिवेश था-

1. 26 जनवरी, 1950 को संवैधानिक शासन की स्थापना।
2. संघात्मक राज्य-व्यवस्था और संसदात्मक शासन व्यवस्था।

3. मंत्रिमण्डल का सामुहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त।
4. राज्य की नीति के निर्देशक तत्व और उनका अनुपालन।
5. नागरिकों के मौलिक अधिकारों की संवैधानिक गारन्टी।
6. स्वतन्त्रता और समानता के समान अवसर।
7. स्वतन्त्र न्यायपालिका।
8. स्वतन्त्र चुनावों की व्यवस्था।

सारांश यह है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत में एक नई राजनीतिक और सामाजिक संस्कृति का विकास आरम्भ हुआ जिसके अनुसार नौकरशाही को स्वंय ढालना था। लेकिन समस्या यह थी कि भारतीय अधिकारीतंत्र को अपनी ब्रिटिश विरासत से विमुख होकर नई परिस्थितियों के अनुसार स्वंय को समायोजित करना चुनौतीपूर्ण था।

16.8 भारतीय नौकरशाही का विकृत स्वरुप और उपचार

1950 से 1970 तक का काल लोक सेवा की दृष्टि से सुधार और विकास, प्रयोग और परीक्षण का काल माना जा सकता है। स्वतन्त्रता मिलने के साथ अंग्रेज अधिकारी तो भारत छोड़कर जा चुके थे। लेकिन अब इंग्लिश संस्कृति में रंगे हुए भारतीय अधिकारियों (आई0सी0एस0) की एक बड़ी संख्या के हाथों में नये भारत के प्रशासन की बागडोर थी। इनकी मानसिकता भी लगभग सामन्ती थी। यह भारत का वास्तव में अभिजात् (Elite) वर्ग था जो श्रेष्ठता की मनोग्रन्थि से ग्रस्त था।

वास्तविकता यह थी कि ब्रिटिश काल में जो भारतीय लोक सेवा की (ब्रिटिश) परीक्षाओं में सम्मिलित होते थे वे भी भारत के सामन्ती अभिजात, वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। इंग्लैण्ड में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अवसर उन्हीं को मिलते थे। उनका पूरा व्यक्तित्व (चमड़ी को छोड़कर) अंग्रेजी विचारों, अभिवृत्तियों, सोचने और जीने के अनुभवों यहाँ तक की खान-पान और पहनावों के रंग में रंग जाता था। इसलिए प्रायः वे भी भारत के परमपरावादी समाज से दूरी बनाये रखते थे। अनेक बातों में तो वे ब्रिटिश अधिकारियों से भी अधिक ''अनुदार, अशिष्ट, विभेद-सक्षयी, सनकी, निर्मम और कठोर होते थे।'' यह स्थिति लगभग 1970 तक बनी रही जब भारत में आई0सी0एस0 का संवर्ग (काडर) पूरी तरह विलुप्त हो गया।

1950 में ही ब्रिटिश चयनित एवं प्रशिक्षित अधिकारियों की मनःस्थिति को भांपते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री ने भारत के नव निर्माण के लिए नौकरशाही में सुधार के लिए अनेक प्रभावशाली कदम उठाये। उद्देश्य था नये समाज की माँगों के अनुसार, नई परिस्थितियों के अनुकूल तथा नई चुनौतियों का सामना करने के लिए लोक-सेवकों की मानसिकता, कार्यशैली और कार्यक्षमता में परिवर्तन लाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1951 में ए0डी0 गोरवाला के नेतृत्व में एक आयोग की स्थापना की गई। गोरवाला ने अपने प्रतिवेदन में लोक प्रशासन की व्यवस्था और नौकरशाही के तत्काल ढांचे में विद्यमान बुराईयों को दूर करने, सेवी वर्ग में निष्ठा पैदा करने तथा समाज के प्रति समर्पित रहने के लिए अनेक सुझाव दिये। लेकिन इन सुझावों पर अमल नहीं किया गया।

इसलिए 1952 में जवाहरलाल नेहरु ने भारत के प्रशासनिक सुधारों पर विचार करने के लिए लोक प्रशासन के प्रसिद्ध चिन्तक पाल0एच0 ऐपल्बी को बाहर से आमंत्रित किया। एलल्बी ने बड़ी बारीकी से भारत की विविधता, बहुल-वादिता, सामाजिक विषमता, आर्थिक जटिलता तथा भारतीय समाज की मानसिकता स्थिति का अध्ययन करके 3000 शब्दों का एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। यह प्रतिवेदन लोक-प्रशासन के सर्वेक्षण पर आधारित था। एपल्बी की सिफारिशों के परिणाम-स्वरुप चार प्रमुख बातें सामने आयीं, जो इस प्रकार हैं-

1. लोक सेवकों को सेवा के दौरान प्रशिक्षण देने के लिए भारतीय लोक प्रशासन संस्थान की स्थापना की गयी।

2. 1954 में ''संगठन और प्रबन्धन'' या ओ0 एण्ड एम0 प्रणाली की स्थापना की गयी। इस व्यवस्था ने शासन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति लायी।
3. ओ0 एण्ड एम0 को नौकरशाही के भीतर तथा नौकरशाही और जनता के बीच लोकतांत्रिक तरीकों व रीतियों के विकास का उत्तरदायित्व तैय करना, उचित समझा गया।
4. लोक-सेवकों में नेतृत्व ओर कल्पना-शक्ति का विकास होना चाहिए। इस से कार्य-गति भावनात्मक रुप से तीव्र होगी। पदाधिकारियों को अधिक अधिकार दिये जायें ताकि उन्हें स्वविवेक से कार्य करने के अवसर प्राप्त हों।

शासन ने एपल्बी की अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। एक और सामाजिक दैत्य जिसने भारत को जकड़ रखा था और और आज भी जकड़े हुए है, वह था भ्रष्टाचार। इस समस्या के समाधान के लिए 1962 में सन्थानम की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी। 1964 में इस समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसका सार था- (1) केन्द्रीय सर्तकता आयोग की स्थापना, (2) स्पष्ट और सरल नियम एवं विधियाँ, (3) सरकारी अधिकारियों के लिए अधिकतम सुविधाएं, (4) योग्यता के आधार पर नियुक्ति एवं प्रोन्नति, (5) फाइलों का निबटारा निश्चित अवधि के अन्दर करना, (6) भ्रष्टाचार के मामलों में कानूनी कार्यवाही शीघ्रतापूर्ण, (7) अधिकारियों की निजी सम्पत्ति की घोषणा, (8) लालफीता शाही को हतोत्साहित करना, (9) अधिकारियों में भय पैदा करना। सारांश यह है कि स्वतन्त्रता के बाद सामाजिक नकारात्मक शक्तियों का प्रभा पूरी तरह अधिकारीतंत्र पर पड़ा जिसके समाधान के लिये सुधारात्मक प्रशासनिक कदम उठाना अनिवर्य हो गया। इन सुधारों में निरन्तरता आज भी बनी हुई है।

16.9 भारतीय अधिकारीतंत्र और चुनौतियाँ

पिछले पन्नों में भारतीय समाज के सकारात्मक और नकरात्मक पहलुओं पर खुल कर प्रकाश डाला चुका है। यहाँ यह देखा जायेगा कि इन दोनों पहलुओं का भारतीय प्रशासन और विशेष रुप से अधिकारियों पर कैसा प्रभाव पड़ता है ओर वे किस तरह उन प्रभावों से नियंत्रित या मुक्त होते हैं।

आज भारतीय अधिकारी जिस समाज से आते हैं वह न तो सामन्ती है और न पूंजीवादी। स्तर-विन्यास (Strata) के नजरिये से समाज तीन भागों या स्तरों में बटाँ हुआ है-उच्चतर वर्ग, मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग। अधिकारी वर्ग (नौकरशाह) प्रायः उच्चतर वर्ग तथा मध्य वर्ग से आता है। संवैधानिक व्यवस्था के बाद आरक्षण के आधार पर अब निम्न वर्ग (अनुसूचित एवं जनजाति) तथा निम्न-मध्य वर्ग (पिछड़ा वर्ग: ओ0बी0सी0) का प्रतिनिधित्व भी बढ़ा है।

जातीय स्तर पर आज भी सिद्धान्त मनुवादी है। नौकरशाही प्रायः ब्रह्मण, क्षत्रीय तथा वैश्य वर्ग से चयनित होती है। आरक्षण के बाद अनुसूचित-जनजाति को भी अवसर प्रदान हुए हैं। परन्तु आरक्षण की नीति से सामाजिक टकराव बढ़ा है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर समाज के उच्च वर्गो में असंतोष पैदा हुआ है, जिससे प्रशासन में सहयोग, समन्वय और अनुकूलन की समस्या पैदा हुई है।

धार्मिक स्तर पर भी अधिकारीतंत्र प्रभावित हुआ है। भले ही आज के नौकरशाह कितने ही खुले दिमाग के क्यों न हों वे अपने धर्म और आस्थाओं के प्रति पूरी तरह वफादार हैं। उनकी मेजों पर लगे धार्मिक स्टिकरों से यह तथ्य स्पष्ट होता है। साम्प्रदायिकता की हवा उन्हें भी छूती है, आज भी वे रुढ़िवादी और अंधविश्वासी हैं। अक्सर उनके विवेक या औचित्य के फैसले धार्मिक, जातीय और साम्प्रदायिक हितों को नजर में रखकर होते हैं। इस से प्रशासनिक निष्पक्षता, निष्ठा और जनहित का सिद्धान्त टूटता है। यह स्थिति धर्मनिरपेक्षता के भी विरुद्ध है।

क्षेत्रीय स्तर पर स्थिति और भी गंभीर है। समाज के हर तबके की वफादारियाँ अपने क्षेत्र के प्रति अधिक हैं, देश के प्रति कम। यद्यपि सेवी वर्ग को वृहत भारतीय संदर्भ में प्रशिक्षण दिया जाता है, फिर भी उनका रूजहान, विशेष रुप से नीति-निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के समय अपने क्षेत्र विशेष की ओर झुका रहता है।

भ्रष्टाचार समाज का एक और भयावह पहलू है। समाज की इस बीमारी की कहानी ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ''लूट की प्रथा'' डालकर लिखी थे। अंग्रेजी शासन ने भ्रष्टाचार को फलने-फूलने का पूरा मौका दिया। यहाँ तक कि अब इसकी जड़े इतनी गहरी हो गयी हैं कि उनको उखाड़ फेंकना लगभग असंभव है। तब स्वाभाविक है कि जिस समाज में नौकरशाही या अन्य अधिकारी जन्म लेते हैं वे सत्ता प्राप्ति के बाद फरिशते तो नहीं हो सकते। आज भ्रष्ट देशों की रेंकिंग में भारत का 81वां नम्बर है।

दूषित राजनीतिक वातावरण भारतीय समाज की एक और पहचान बनती जा रही है। वैसे तो किसी भी समाज को दलीय राजनीतिक व्यवस्था विकृत करती है, लेकिन भारत में यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। यदि यह कहा जाये कि वर्तमान भारत की राजनीति सभी सामाजिक बुराईयों-भ्रष्टाचार, धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, प्रचण्ड राष्ट्रवाद की जड़ है तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। इसने भारत की सदियों पुरानी बुराईयों जातिवाद, रुढ़िवाद तथा वर्ग-वाद को एक हथियार के रुप में इस्तेमाल किया है। सब से अधिक संकट की बात यह है कि जहाँ ब्रिटिश कालीन नौकरशाही तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के प्रति वफादार थी, वहां स्वतन्त्र भारत में नौकरशाहों की वफादारियाँ राजनीतिक दलों की परिवर्तनशीलता के विचार, विश्वास, विचारधाराएं, उद्देश्य, आस्थाऐं, सब को भारतीय अधिकारी आत्मसात् कर लेते हैं। लेकिन यहाँ संविधान की आत्मा का हनन होता है। लोकतंत्र, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद इत्यादि सब मात्र कोरे शब्द बनकर रह जाते हैं। इसका कारण है, मार्क्स के शब्दों में ''नौकरशाही का परजीवी होना।''

नैतिक मूल्यों में गिरावट भी भारतीय समाज की व्यवस्था को असंतुलित करती है। भ्रष्टाचार उसका एक परिणाम है। नौकरशाही इस गिरावट से अछूती नहीं है। इस नकारात्मक तथ्य का प्रभाव प्रशासनिक व्यवस्था पर पड़ना स्वभाविक है। प्रशासन में लालफीताशाही तथा अपराधीकरण एक वास्तविकता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. परिस्थितिकीय परिवेश का विचार किस चिन्तक ने दिया?
   क. मैक्स वेबर ने ख. कार्ल मार्क्स ने
   ग. एफ0डी0 रिंग्स ने घ. विलियम राइकर ने
2. नौकरशाही के लिए शब्द 'ऑफिशियल्स' (officials) का प्रयोग किस विचारक ने किया?
   क. रिग्स ने ख. हीगेल ने
   ग. डाउन्स ने घ. विल्सन ने
3. भारतीय समाज की विशेषता है-
   क. एकलवाद ख. बहुलवाद
   ग. साम्यवादी समा घ. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद
4. भारतीय अधिकारीतंत्र कितने चरणों से गुज़रा है?
   क. चार से ख. दो से
   ग. तीन से घ. पांच से
5. जवाहर लाल नेहरु ने किस प्रशासनिक चिन्तक को भारतीय प्रशासनिक सुधारों के लिए बाहर से बुलाया?
   क. हरबर्ट साइमन ख. लूथर गुलिक
   ग. मैसलो घ. एपेल्बी

6. भ्रष्टाचार निवारण के लिए किस भारतीय सलाहकार को नियुक्त किया गया?

क. अवस्थी ख. अल्तेकर

ग. सन्थानम घ. पायली

16.10 सारांश

- समाज एक वृहत अवधारणा है। सामाजिक परिवेश से सभी संस्थायें प्रभावित होती हैं। प्रशासन भी अछूता नहीं रहता है। इस दृष्टिकोण का प्रतिपादक एफ0डी0 रिंग्स है। उसने परिस्थितिकीय नज़रियें से प्रशासन की विवेचना की है।
- समाज स्वतः अस्तित्व में नहीं आता है। उसके निमार्ण तथा विकास के भी कारक होते हैं। इतिहास और आर्थिक व्यवस्था बड़े निर्णायक कारण हैं। भारतीय समाज का इतिहास भी ऐसे ही अनेक कारकों की देन है।
- भारतीय समाज के अनेक पहलू हैं कुछ सकारात्मक और कुछ नकारात्मक। सकारात्मक पहलुओं में पहुलवाद और विभिन्नता में एकता उसकी पहचान है। समाज के नकारातमक पहलुओं ने भारतीय समाज को दूषित किया है। जातिवाद, वर्ण-व्यवस्था, रुढ़िवाद, धर्मान्धता, चरमपंथ, साम्प्रदायिकता, आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार, राजनीतिक प्रपंच तथा आतंकवाद ऐसी बुराइयाँ हैं जिन्होंने समाज के विकास तथा आधुनिकीकरण में बाधा पहुँचाई है।
- अधिकारीतंत्र या नौकरशाही शासन का एक महत्वपूर्ण घटक है। मैक्स वेबर ने सर्वप्रथम नौकरशाही की क्रमिक अवधारणा प्रस्तुत की और एक ''आदर्श नौकरशाही'' का प्रतिमान तैयार किया। लेकिन आगे चलकर शब्द 'नौकरशाही' बदनाम हो गया, इसलिए एन्थानी डाउन्स ने नौकरशाही के स्थान पर शब्द 'ऑफिशियल्ज' (अधिकारी वर्ग) का प्रयोग किया।
- भारतीय अधिकारीतंत्र का भी एक विस्तृत इतिहास रहा है। यह ब्रिटिश काल (1600-1858) तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तहत और उसके बाद (1858-1947) विभिन्न चरणों से होकर गुजरा है। इस पूरे दौर में यह अपनी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है और उसके अनुसार संचालित भी हुआ है।
- भारतीय अधिकारतंत्र का वर्तमान इतिहास 1935 के भारत सरकार अधिनियम के साथ आरम्भ होता है। यह अनेक सुधारों की उत्पत्ति है और निरन्तर विकास की प्रक्रिया से गुज़र रहा है।
- जहाँ भारतीय नौकरशाही (1600 से 1858) तक ब्रिटिश परम्पराओं और पश्चिमी मानसिकता से प्रभावित रही, वहाँ 1858 से 1947 तक यह ब्रिटिश शासन व्यवस्था तथा भारतीय समाज की परम्पराओं से प्रभावित हुई।
- स्वतन्त्रता के बाद भारतीय अधिकारतंत्र पूरी तरह भारतीय समाज की सकारात्मक अच्छाईयों और नकारात्मक बुराईयों का प्रतिबिम्ब रहा है।
- भारत की संवैधानिक व्यवस्था-लोकतंत्र, संघात्मक, संसदात्मक, राज्य की नीति के निर्देशक तत्व, मौलिक अधिकार, समाजवादी, धर्मनिरपेक्षता अवधारणायें-इन सब ने अधिकारतंत्र को प्रभावित किया है।
- संक्षेप में यदि भारतीय अधिकारतंत्र को उसकी पृष्ठभूमि में झांकर देखा जये तो अनेक अदभुत तथ्य सामने आयेंगे।

16.11 शब्दावली

एकोलॉजी (Ecology) शाब्दिक अर्थ है 'परिस्थितिकीय अर्थात् वे परिस्थितियाँ जो समाज की संस्थाओं को प्रभावित करती हैं। इस अवधारणा का प्रतिपादक है एफ0डी0 रिग्स।

प्लूराल्जिम (Pluralism) अर्थात् 'बहुलवाद'। यह किसी समाज की वह विशेषता है जिसमें विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों, विश्वासों, भाषाओं, जातियों इत्यादि का अस्तित्व बना रहता है और सब में समरसता का संचार होता है।

ओ0 एण्ड एम0 अर्थ है संगठन एवं प्रबन्धन। यह लोक-प्रशासन की वह अवधारणा है जिसकी सिफारिश ऐपल्बी ने की जिसका उद्देश्य प्रशासनिक अनुशासन एवं व्यवस्था बनाये रखना है।

16.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग, **2.** ग, **3.** ख, **4.** ग, **5.** घ, **6.** ग

16.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. अवस्थी-अवस्थी: भारतीय प्रशासन, आगरा।
2. विष्णु अग्रवाल विद्या भूषण: लोक प्रशासन के सिद्धान्त, नई दिल्ली।
3. डॉ0 एस0एस0 मीतल: तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाऐं, आगरा।
4. त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी: तुलनात्मक लोक प्रशासन, नई दिल्ली।

16.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. K. Singh : Indian Social System, Lucknow
2. F.D. Riggs : The Ecology of Public Administration, London.
3. Introductory Memorandum Relating to the Civil Service (1930) by Royal Commssl on (Tomlin), Britian.
4. Gladden, E.N., Civil Service or Bureauracy.

16.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. रिग्स का प्रशासन के बारे में परिस्थितिकीय (Ecological) दृष्टिकोण क्या है?
2. बहुलवादी समाज का क्या अर्थ है? भारत के संदर्भ में समझाइये।
3. भारतीय समाज के नकारात्मक पहलू क्या हैं? वे किस प्रकार से नौकरशाही को प्रभावित करते हैं?
4. भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि में अधिकारीतंत्र की स्थिति क्या है?
5. सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भारत में अधिकारीतंत्र को किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है?